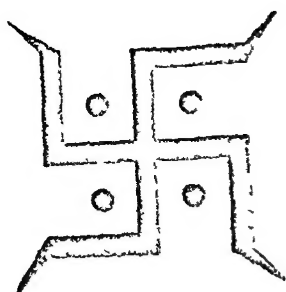


परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर १००८
श्री नानेश के २५वें आचार्यवर्ष के
पुनीत उपलक्ष्य में

समता पर्व सन्देश

श्री शान्ति मुनि

प्रकाशक :
श्री अखिल भारतवर्षीय
साधुमार्गी जैन संघ
बीकानेर

समता पर्व सन्देश

श्री शान्ति मुनि

प्रकाशक :

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग
बीकानेर–३३४ ००१
(राजस्थान)



मूल्य २०) रु०



प्रथम सस्करण : १९८६

मुद्रक :
फ्रेण्ड्स प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स
जौहरी बाजार, जयपुर
फोन : ४८९०४

समता सन्देश

के

उद्बोधक

आगम व्याख्याओं

के

निगूढ़तम वाग्मी

समीक्षण ध्यान योगी

आचार्य श्री नानेश

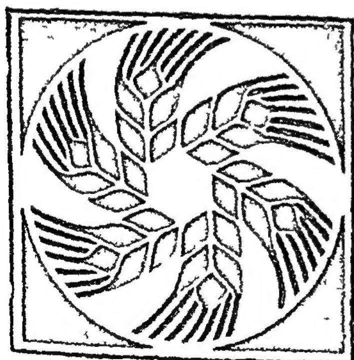
के

पुनीत पर्व

पद सरोजों

में—

—शान्ति मुनि



प्रकाशकीय

साधुत्व की इस पवित्र-पावन धारा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए वडे-वडे आचार्यो ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। भगवान् महावीर के बाद अनेक बार आगमिक धरातल पर क्राति का प्रसग आया है। जिसका उद्देश्य श्रमण सस्कृति को अक्षण्ण बनाये रखने का रहा। ऐसी क्राति धारा मे क्रियोद्धारक, महान् आचार्य श्री हुक्मीचन्दजी म सा. का नाम विशेप रूप से उभर कर सामने आता है। तत्कालीन युग मे जहा शिथिलाचार व्यापक तौर पर फैलता जा रहा था, शुद्ध साधुत्व की स्थिति विरल ही परिलक्षित होती थी। वडे-वडे साधु भी मठो की तरह उपाश्रयो मे अपना स्थान जमाये हुए थे। चेलो के पीछे साधुता बिखरती जा रही थी। ऐसे युग मे आचार्य श्री हुक्मीचन्दजी म. सा. ने उपदेशो से ही नही, अपितु अपने विशुद्ध एव उत्कृप्ट सयममय जीवन से जन-मानस को प्रभावित किया। आचार्य प्रवर केवल तपस्वी अथवा सयमी ही नही थे, वरन् श्रमण-संस्कृति के गहरे आगमिक अध्येता श्रुतधर थे। आपके जीवन का ही प्रभाव था कि हजारो स्त्री-पुरुष आपके चरण सान्निध्य को पाने के लिए लालायित रहते थे। "तिन्नाण तारयाण" के आदर्श आचार्य प्रवर ने योग्य मुमुक्षुओ को दीक्षित किया और जो देशव्रती बनना चाहते थे, उन्हे देशव्रती बनाया। इस प्रकार सहज रूप से ही चतुर्विध सघ का प्रवर्तन हो गया।

समुद्र मे जिस प्रकार दूर तक गगा का पाट दिखाई देता है वैसे ही जैन धर्म के समुद्र मे आचार्य प्रवर की यह धारा एकदम अलग-थलग सी परिलक्षित होने लगी। यहा से फिर साधुमार्ग मे क्राति घटित हुई। जिस क्राति की धारा पश्चात् वर्ती आचार्यो से निरन्तर आगे बढी। आज हमे परम प्रसन्नता है कि समता विभूति विद्वद शिरोमणि जिन शासन प्रद्योतक धर्मपाल प्रतिबोधक आचार्य श्री नानेश के सान्निध्य की हमे प्राप्ति हुई है। श्रद्धेय आचार्य प्रवर का व्यक्तित्व-कर्तृत्व अनूठा एव महनीय है। आपने एक साथ २५ (पच्चीस) दीक्षाएँ देकर सैकड़ों वर्षो के अतीत के इतिहास को प्रत्यक्ष कर दिखाया है। ऐसी एक नही अनेक क्रातिया आचार्य प्रवर के सान्निध्य मे घटित हो रही है। विशुद्ध सयम पालन के साथ-साथ आपके सान्निध्य मे आपके शिष्य-शिष्या रूप साधु-साध्वी वर्ग ने सम्यक्ज्ञान-विज्ञान की दिशा मे भी आश्चर्यजनक विकास किया है।

शान्त क्रांति के अग्रदूत स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलालजी म सा. की स्मृति मे श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ ने रतलाम मे श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार की स्थापना की । ज्ञान भण्डार मे अनेकानेक प्रकाशित एव हस्तलिखित ग्रन्थो का सग्रह हुआ है । हस्तलिखित अप्रकाशित ग्रन्थो का सचयन कर उन्हे भी अ. भा साधुमार्गी जैन साहित्य समिति सर्वजन हितार्थ प्रकाशित कर रही है । इसी सकल्प की क्रियान्विति मे इस कृति को भी श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार से प्राप्त कर प्रकाशित करने मे सघ हार्दिक सन्तुष्टि का अनुभव कर रहा है ।

प्रस्तुत कृति **"समता पर्व सन्देश"** मे आचार्य श्री नानेश के अन्तेवासी विद्वान् शिष्य पडित रत्न श्री शान्ति मुनिजी के १६ प्रवचन सकलित है । श्री शान्ति मुनिजी आगमज्ञ विद्वान् और तत्त्व चिन्तक होने के साथ-साथ ओजस्वी वक्ता, कुशल लेखक, सफल कथाकार और सरस कवि है । साहित्य की सभी विधाओ मे आपने सफलतापूर्वक साहित्य-सृजन किया है । आपकी कई पुस्तके प्रकाशित हो चुकी है जो सामान्य पाठकों और विद्वानो के लिए समान रूप से उपादेय रही है ।

परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानेश के सदुपदेशो की प्रेरणा से अ. भा. साधु-मार्गी जैन सघ के अन्तर्गत **'समता प्रचार संघ'** की स्थापना की गयी है । इसका मुख्य कार्य पर्वाधिराज पर्युषण को रत्नत्रय की साधना के साथ प्रभाव-कारी ढग से मनाने के लिए सत-सतियो के चातुर्मासो से वचित क्षेत्रो मे स्वाध्यायियो को भेजकर अभीष्ट सहयोग व प्रेरणा प्रदान करना है ।

इन स्वाध्यायियो के लिए उपयोगी, रोचक और प्रेरणाप्रद साहित्य की आवश्यकता बराबर अनुभव की जाती रही है । प्रस्तुत प्रकाशन इस दिशा मे एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है ।

इस कृति के प्रथम खण्ड के आठ प्रवचनो मे पर्युषण पर्व के आठ दिनो से सम्बन्धित व द्वितीय खण्ड के आठ प्रवचनो मे जैन तत्त्वज्ञान से सम्बन्धित विशेप सामग्री प्रस्तुत की गई है । परिशिष्ट मे हृदयस्पर्शी जीवनोत्कर्षकारी गीतिकाए दी गयी है ।

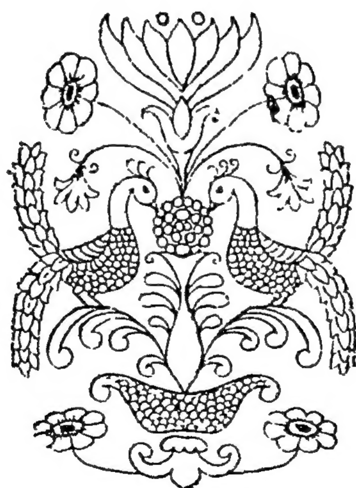
इस कृति मे जो सामग्री प्रकाशित की जा रही है वह मुनिश्री के १६७६ के डोण्डीलोहारा चातुर्मास मे दिये गये प्रवचनो का परिवर्द्धित रूप है । प्रवचनो मे व्यक्त किये गये विचार विन्दुओ को सकेत रूप मे लिपिबद्ध करने मे विदुषी महासतीजी श्री कस्तूरकवरजी, चन्दनबालाजी, प्रेमलताजी म. सा का सहयोग रहा है । इसके लिए सघ आपका आभारी है । श्री सागरमलजी जैन, शिक्षा-

धिकारी, केन्द्रीय विद्यालय सगठन (अहमदाबाद सभाग) ने प्राक्कथन लिखने की कृपा की। एतदर्थ धन्यवाद।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन मे हमे श्री कमलसिहजी एव श्री शान्तिलालजी कोठारी का अपने पिताजी नगर सेठ स्व० श्री फतेहचन्दजी कोठारी की पुण्य स्मृति मे प्रशस्त अर्थ-सहयोग प्राप्त हुआ है। अत उनका हार्दिक आभार।

पुस्तक के प्रबन्ध-सम्पादन मे डॉ. नरेन्द्र भानावत ने जो महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उसके लिए हम उनका हृदय से आभार मानते है।

गुमानमल चौरड़िया
सयोजक
श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन साहित्य समिति



अन्तर्दर्शन

भारतीय सस्कृति पर्वो की सस्कृति कहलाती है । इस पर्व धरा पर वर्ष भर के तीन सौ पैंसठ दिनो मे पर्व–त्यौहार इस सख्या से भी अधिक होगे । कई बार एक ही तिथि मे दो-दो पर्व आ जाते है । एक ही तिथि को कोई ऋषि पचमी मना रहा है तो कोई संवत्सरी, कोई लोकाशाह जयन्ती मना रहा है तो उसी दिन कोई गुरु नानक जयन्ती मना रहा है और कोई हेमचन्द्राचार्य जयन्ती । इस प्रकार यहाँ तिथियाँ कम एव पर्व अधिक हो जाते है, अत भारतवर्ष को पर्वो का देश कहा जाता है ।

पर्व मुख्यतया दो प्रकार के माने गयें है, लौकिक एव लोकोत्तर । लौकिक पर्व आमोद-प्रमोद, साज-सज्जा, बनाव-पहनाव एव खान-पान से अधिक जुडे रहते है, अत. इनका सम्बन्ध मानसिक एव दैहिक सुख-सुविधा और प्रसन्नता से अधिक है । वास्तव मे लौकिक पर्व सामयिक तनाव मुक्ति का अवसर ही प्रदान करते है । उनके द्वारा कुछ क्षणो अथवा कुछ दिवसो के लिये मन प्रफुल्लित हो जाता है किन्तु इन पर्वो के साथ आर्थिक व्यय की समस्या जुडी रहती है, जो उल्लास के साथ कभी-कभी कर्ज की चिन्ता भी छोड जाती है ।

इसके विपरीत लोकोत्तर पर्व, जिनका सम्बन्ध बाह्य सौन्दर्य से न होकर आन्तरिक सौन्दर्य से है, एक अलग ही प्रकार का आनन्द भर देते है हमारी आन्तरिक चेतना मे, जो स्थायी होने के साथ ही कल्याणप्रद भी होता है । लोकोत्तर पर्व भी प्रमुखत: दो प्रकार के होते है, व्यक्ति से अनुबधित एव सामष्टिक चेतना से अनुबन्धित । प्रथम एव धर्म सस्थापकों अथवा लोकोत्तर महापुरुषो के जन्म-निर्वाण आदि प्रसगों पर मनाये जाते है, जिन्हे तत्तद् वर्ग के उपासक मनाते है, जो उन महापुरुषो के पदचिह्नो का अनुगमन करते है । इसके विपरीत द्वितीय पर्व लोक-जीवन से सम्बन्धित होते है और गुणात्मक भी होते है । उनका किसी व्यक्ति, जाति या वर्ग से सम्बन्ध नही होता है ।

पर्वाधिराज पर्युषण पर्व इसी द्वितीय कोटि के आध्यात्मिक पर्व है, जिनका सम्बन्ध सीधा सामष्टिक चेतना से है । पर्युषण पर्व आन्तरिक चेतना के परिष्कार के साथ जो अनुभूतिजन्य आनन्द प्रदान करते है, वह वर्णनातीत होता है । अतएव जैन धर्म मे इस पर्व को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है । जैन

धर्म से सम्बन्धित कुल मे उत्पन्न होने वाला व्यक्ति चाहे वह वर्ष भर धर्मस्थान मे न आए, किन्तु इन पर्व दिवसों मे तो अवश्य आने का प्रयास करता है। वास्तव मे इन दिवसो मे धार्मिक चेतना की ऐसी निर्मिति होती है जो समस्त वायु मण्डल को धर्ममय बना देती है।

जैन धर्म की सभी सम्प्रदायो-शाखा-प्रशाखाओ मे पर्यु षण पर्वो की आराधना होती है। इन दिनो साधुमार्गी-स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय मे 'अन्तकृतदशाग' सूत्र के वाचन की परम्परा है तो मूर्तिपूजक संघ मे 'कल्पसूत्र' की। दिगम्बर सघ मे 'तत्त्वार्थ सूत्र (मोक्षमार्ग) के पठन-पाठन की परम्परा है। जहाँ सन्त-सती वर्ग वर्षावास हेतु विराजित होते है, वहाँ तो उपर्यु क्त आगमो एव ग्रन्थो का विवेचन पुरस्सर श्रवण लाभ तत्रस्थ श्रावक-श्राविकाओ को उपलब्ध हो जाता है, किन्तु वे क्षेत्र इस पुनीत लाभ से वचित रह जाते है, जहाँ साधु-साध्वियो का वर्षावास हेतु पदार्पण नही होता है। ऐसे क्षेत्रो को भी आगमवाणी एव प्रवचन-श्रवण का लाभ मिल सके, इसी दृष्टिकोण से समता विभूति, समीक्षण ध्यान योगी, जिनशासन प्रद्योतक आचार्य गुरुदेव श्री नानालालजी म. सा. के उर्वरक मानस ने समता प्रचार सघ जैसे स्वाध्याय निरत सगठन की रूपरेखा प्रस्तुत की। परिणामतः अखिल भारतवर्षीय साधु-मार्गी जैन सघ के वरिष्ठ अधिकारियो ने इसे क्रियात्मक रूप प्रदान किया और शतशः स्वाध्यायियो का एक सगठन स्थिर हुआ।

आज सैंकडो स्वाध्यायी समता प्रचार सघ की ओर से भारत के विभिन्न प्रान्तो के सुदूरवर्ती विविध क्षेत्रो मे स्वाध्याय हेतु पहुँचते है एव पर्यु षणो के आठ दिनो मे उन-उन क्षेत्रो मे धर्म जागरण का प्रयास करते है।

सन् १९८४ के बम्बई वर्षावास मे भूतपूर्व अध्यक्ष अ० भा० साधुमार्गी जैन सघ, वीर सघ प्रमुख एव साहित्य प्रकाशन समिति के सयोजक श्री गुमानमलजी चोरडिया ने आचार्य प्रवर के समक्ष यह विनम्र निवेदन प्रस्तुत किया कि हमारे समता प्रचार सघ के स्वाध्यायी सदस्यो की यह माँग है कि उन्हे ऐसी कोई सरल-सरस प्रवचन सामग्री मिल जाए जिसके माध्यम से वे अपनी योग्यतानुसार प्रवचन कला सीख सके एव जहाँ भी स्वाध्याय हेतु जाएँ, धर्म जागरण की लहर उत्पन्न कर सके।

आचार्य गुरुदेव का मुझे सकेत मिला जो मेरी अभिरुचि के सर्वथा अनुरूप था। संयोगत शासन प्रभाविका विदुषी महासतीजी श्री पानकुंवरजी म० सा० ठाणा १९ का वर्षावास भी इस वर्ष आचार्य देव की सन्निधि मे बोरीवली (बम्बई) मे ही था, उन्ही महाश्रमणियो मे विदुषी महासतीजी श्री प्रेमलताजी भी थी, जिनके पास मेरे डोण्डीलौहारा वर्षावास के प्रायः सभी प्रवचन सकेत रूप मे लिपिबद्ध थे। वे १९७९ के उस वर्षावास मे घोर तपस्विनी आदर्श

त्यागिनी महासतीजी श्री कस्तूर कवरजी, विदुषी मधुर व्याख्यात्री श्री चन्दन बालाजी के साथ डोण्डीलोहारा मे थी और प्रतिदिन सकेत रूप मे प्रवचनो का अकन कर लिया करती थी।

उन्ही सकेतित प्रवचनो को आधार बनाकर पर्यु पणों के प्रवचनो को यह विस्तृत स्वरूप प्रदान किया गया है। इस लेखन में भाषा की सरलता, सहजता एव सरसता का पूरा ध्यान रक्खा गया है, ताकि सामान्य से सामान्य स्वाध्यायी को भी यह उपयोगी सिद्ध हो सके। प्रवचन इस शैली में लिखे गये है कि इनसे 'अन्तगड सूत्र' का विवेचन भी हो जाये और अध्यात्म का आनन्द भी प्राप्त हो।

हमारे स्वाध्यायियो की मुख्यतया दो श्रेणियाँ हो सकती है। एक सामान्य शिक्षित स्वाध्यायी एव दूसरे प्रवुद्ध विचारवान प्रवक्ता स्वाध्यायी। प्रथम कोटि के स्वाध्यायियो के लिए प्रथम खण्ड के आठ प्रवचन है तो द्वितीय श्रेणी के स्वाध्यायियो के लिए आठ चुने हुए विषयो को द्वितीय खण्ड मे सकलित किया गया है, जिनके आधार पर आठों दिवस एक-एक स्वतन्त्र विषय पर प्रवचन दिया जा सकता है। उन विषयो का चयन जैन तत्त्वज्ञान की मौलिक आधारशिला को दृष्टिगत रखते हुए किया गया है यथा जैन धर्म एक परिचय, नमस्कार महामत्र, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, श्रावक व्रत तथा श्रमण जीवन साधना आदि।

इसके साथ ही इस अभिव्यक्ति मे दो परिशिष्ट भी सयोजित किये गये है। प्रथम मे प्रवचनोपयोगी गीतों का सकलन है तो द्वितीय मे एक लघु गीत काव्य दिया गया है, जिसका स्वाध्यायी वन्धु मध्याह्न के प्रवचन मे चौपाई के रूप मे उपयोग कर सकते है।

सब मिलाकर यह प्रयास किया गया है कि प्रस्तुत अभिव्यक्ति सभी प्रकार के स्वाध्यायियो के लिए उपयोगी हो और इस एक ही कृति मे उन्हे पूरी प्रवचन सामग्री उपलब्ध हो सके।

पूना (आदिनाथ सोसायटी) —शान्ति मुनि



जिनकी स्मृति में अर्थ-सहयोग प्रदान किया गया है

नगर सेठ स्व. श्री फतेहचन्दजी कोठारी

चूरु का कोठारी परिवार अपनी सम्पन्नता, लोक-सेवा एव सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए सदा प्रसिद्ध रहा है। इसी परिवार के कुल-भूषण के रूप मे सेठ फतेहचन्दजी कोठारी का जन्म कार्तिक वदी एकम वि० स० १९६७ बुधवार तदनुसार तारीख १९-१०-१९१० को हुआ। आपके पिताजी श्री चम्पालालजी कोठारी चूरु के एक लोकप्रिय व्यक्ति थे। सब धर्मो के लोगो का उन्हे सम्मान प्राप्त था। उनका दरवाजा सब लोगो के लिए खुला हुआ था।

सेठ फतेहचन्दजी का लालन-पालन बडे शानदार ढग से हुआ। अपने पिताजी के सरक्षण मे आपको उत्तम गुणो को सीखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ एव व्यवहार कुशलता मे आप बड़े प्रवीण हो गये। फलत. एक कुशल लोक सेवक एव एक सफल व्यवसायी के रूप मे उभर कर आप समाज के सामने आये। सब सम्प्रदायो के गुणी लोगो ने आपको अपना हितैषी और शुभचिन्तक समझा। अपनी समस्याओ के समाधान हेतु अनेक सज्जन आपके पास आते और आपसे उपयुक्त समाधान प्राप्त किया करते थे।

सेठ साहब ने स्कूल मे केवल पाँचवी कक्षा तक ही शिक्षा प्राप्त की परन्तु कुशाग्र बुद्धि होने के कारण उत्तम श्रेणी का व्यावहारिक ज्ञान आपने अल्पायु मे ही प्राप्त कर लिया। साथ ही धर्म ग्रन्थो को ध्यानपूर्वक पढने का आपको बड़ा अनुराग था। परम पूज्य आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज सा० की 'जवाहर किरणावली' आप बड़े प्रेम व रुचि से पढते थे।

चूरु की ओसवाल पचायत के कई वर्षो तक आप पच रहे। समाज का पूर्ण सहयोग और सम्मान आपको सर्वदा प्राप्त होता था। इसके साथ ही आप एक विवेकशील निष्पक्ष निर्णायक थे। आपका निर्णय दोनो पक्षो को पूर्ण सन्तोष प्रदान करने वाला होता था। उससे प्रेम और सौहार्द का वातावरण बनता था।

आप एक कुशल प्रशासक थे। चूरु पिजरापोल सोसाइटी की कार्यकारिणी के अध्यक्ष और सदस्य के रूप मे आपने दीर्घकाल तक अनूठी सेवा करने का श्रेय प्राप्त किया। इस सस्था की भलाई का ध्यान आपको अन्तिम क्षणो तक रहा।

चूरू के यति ऋद्धकरण ट्रस्ट के प्रमुख एवं अध्यक्ष के रूप मे अनेक वर्षो तक आपने जन-समाज की अनमोल सेवा की। अपनी सम्पत्ति से भी ज्यादा सम्भाल इस संस्था की करके इसे उन्नत बनाया। सब सदस्यो एवं कर्मचारियो का आपको सर्वदा पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ।

चूरु की जनता से आपको बड़ा प्रेम था। चाहे कोई जैन हो या अजैन, देहाती हो या शहरी, आपने सबसे समान सम्बन्ध रक्खा। सब धर्मो के प्रति आपके प्रेमभाव के कारण ही सब वर्ग के लोग आपके परिवार को अपना घर समझते थे। सेठ साहब भी प्रायः यह कहा करते थे 'यो घर मेरो कोनी, मैं तो केवल रखवालो हूँ, घर तो आपको है।' सचमुच सेठ साहब के उपर्युक्त शब्द आपके विशाल और निश्छल मन के परिचायक है।

सेठ साहब बडे उत्साह और प्रसन्न मन से सब कार्य करते थे, परन्तु सहसा सन् १९७७ मे आपके ज्येष्ठ पुत्र श्री बजरंगलालजी कोठारी का असामयिक स्वर्गवास हो गया। इससे सेठजी को बड़ा आघात लगा। मर्म की इस चोट से आप कमजोर होने लगे। फिर भी अपने कर्त्तव्य का आपको सर्वदा ध्यान रहता था।

इसके साथ ही अपनी धर्मपत्नी की कैंसर की बीमारी ने भी आपको बडा व्यथित किया। लेकिन स्वय श्रीमती सम्पतदेवी कोठारी इस असाध्य बीमारी की वेदना से विचलित नही हुई। समभाव से पीड़ा को सहती गई। साथ ही प्रभुभक्ति मे तन्मय रहती हुई वि० सं० २०३५ ज्येष्ठ सुदी १४ को समाधिपूर्वक स्वर्गवासिनी हुई। सेठजी के हर कार्य मे सहयोग देती थी। स्पष्टवादिनी थी। मन साफ था—किसी प्रकार की दुर्भावना उनके मन में नही थी।

वैसे कोठारी परिवार के अनेक पीढियों से राजघराने से मधुरनिष्ठ सम्बन्ध रहे है। परन्तु बीकानेर महाराजा श्री करणीसिहजी से तो सेठ साहब का बडा निकट का सम्पर्क रहा। इस परिवार पर राजदरबार की सदा छत्र-छाया रही। रियासत के सम्माननीय सेठ साहूकारों जैसा मान इस परिवार को सर्वदा प्राप्त हुआ।

लम्बी बीमारी के बाद धर्मध्यान मे तल्लीन रहते हुए पौष सुदी ६ वि० सं० २०४१ तदनुसार ता० २९ दिसम्बर, १९८४ को आप स्वर्गवासी हो गये। यह एक हर्ष का विषय है कि सेठ साहब की उन्नत परम्परा और मार्ग-दर्शन पर चलने का प्रयत्न उनके होनहार और योग्य आत्मज श्री कमलसिहजी कोठारी एवं शान्तिलालजी कोठारी कर रहे है। प्रभु उन्हें इस प्रयत्न में आगे बढने की शक्ति दे, ऐसी कामना है।

प्राक्कथन

'समता पर्व सन्देश' पडित रत्न, मनीषी एव गूढ चितक श्री शान्ति मुनिजी की नवीनतम रचना है, जिसे सयोगवशात् आज देखने का शुभ-योग प्राप्त हुआ। उसकी पूर्व भूमिका के रूप मे अपने विचार व्यक्त करना, किसी भावी का द्योतक है, या आकस्मिक घटना मात्र, यह तो आज कहा नही जा सकता, परन्तु गुरुवर्य की कृपा है, इसमे सन्देह नहीं।

वैषम्य सारे संसार के झगडों की जड है। इसके विपरीत 'समता' एक सुखमय ससार का आदर्श एवं व्यक्ति के धरातल पर 'निराकुल जीवन' की कुंजी है। सामाजिक स्तर पर 'समता' की स्थापना के लिये साम्यवाद और समाजवाद जैसी राजनैतिक विचारधाराएँ आई। ये विचारधाराएँ भी अपने पूर्ण रूप मे प्रस्थापित नही हो पाई। कह नही सकते है कि 'वैषम्य रहित' जीवन प्रणाली वना पाना असभव है, परन्तु इसे मूर्त रूप देना अति कठिन है। व्यक्तिगत रूप से जीवन में 'समता' लाने के लिये हमारे यहाँ त्याग, तपस्या और व्रतों के अनेकानेक विधान है। अनेक भव्य आत्माएँ हुई है, और है, जिन्होने अपने व्यक्ति के स्तर पर इस लक्ष्य को पा लिया है—और अनेक इसे पाने के लिये कृत सकल्प है। मन के आवेग, उससे उत्पन्न होने वाली लालसाएँ, उद्वेग, भावनाएँ सब मिलकर भीषण व्यवधान उपस्थित करते है और लगता है कि समता पथ का पथिक न जाने कब फिसल सकता है। पर मनुष्य फिर उठता है, फिर बढता है, इस विश्वास के साथ कि उसकी जय यात्रा एक दिन अपने अंतिम पडाव पर पहुँचकर ही रहेगी। साधना मार्ग के पर्व इस जय यात्रा मे 'पाथेय' प्रस्तुत करते है।

परम्परा के अनुसार हम जैनियो के पर्वाधिराज पर्व पर्युषण इसी यात्रा की राह के मगल चिह्न है और प्रतिवर्ष आराधक को अपने लेखे-जोखे का पर्यवेक्षण कर उसे आगे बढाने को प्रेरित करते रहते है। लक्ष्य है जीवन की 'समता'। अतः पर्युषण पर्व को समता-पर्व कहना अन्यथा न होगा। प्रस्तुत पुस्तक व्यक्ति को अपना सर्वेक्षण एव पर्यवेक्षण करने के लिये पर्याप्त सामग्री जुटाती है, तथा आगे के लिये 'पाथेय' भी देती है। अतः विचारक साधक के लिये इसकी बहुत उपादेयता है।

इससे भी आगे बढकर समाज की प्रत्येक पग-पग पर अनुभवित होने वाली समस्या—'साधु सतो की दुर्लभता' को किंचित् अशो मे वैकल्पिक रूप से समाधीत करने का प्रयत्न भी है। समता प्रचार सघ की ओर से देश के विभिन्न उन भागो मे अनेकानेक स्वाध्यायी साधक पर्युषण पर्व के दिनो मे जाते है, जहाँ मुनियो का या साध्वियो का चातुर्मास नही होता है। इन स्वाध्यायी भाइयो के लिये पर्याप्त ज्ञान सामग्री इस पुस्तक मे दी गई है, जिससे उनका कार्य सरल, सही दिशोन्मुख तथा लक्ष्यानुगामी हो पायेगा। इन स्वाध्यायी भाइयो पर दायित्व है कि वे उस स्थान के सहधर्मी भाई-बहनो को समुचित रूप से पर्वाराधन करावे, उन्हे सबल दे, तथा नवीन पीढी को धार्मिक सस्कारो की शिक्षा-दीक्षा भी दे। इस सब मे उनका मुकाबला आज की सभी समस्याओ से होता है—नई पीढी का धर्म के प्रति अरुझान, विज्ञान के आलोक मे तर्क-वितर्क, शका-कुशका, समाज व्यवस्था का पुराना जीर्ण-शीर्ण ढाँचा, आर्थिक सघर्ष, मानसिक तनाव और सामाजिक रूढियाँ। वहाँ का समाज इन स्वाध्यायी भाइयो से इन सब समस्याओ पर मार्ग दर्शन की अपेक्षा रखता है। अच्छा तो यह हो कि इन सभी स्वाध्यायी भाइयों का एक शिक्षण शिविर केवल इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हो और इसमे इन लोगो को सोचने, समझने तथा सीखने का अवसर प्राप्त हो ताकि वे उन स्थानो पर अपना दायित्व यथेष्ट रूप से निभा सके। प्रसन्नता है कि समता प्रचार संघ इस ओर भी प्रयत्नशील है। यह कृति ऐसे शिविरों के लिये भी परम उपयोगी होगी।

पुस्तक के प्रथम खड मे सवत्सरी के पूर्व मे पूर्व तैयारी के ७ दिनो के लिये सात विषयों का प्रतिपादन किया गया है। 'आत्मज्योति', 'अतरावलोकन' 'निवृत्ति', 'अतर्दर्शन' आदि विषय उस क्षेत्र शुद्धि के लिये बहुत अनिवार्य है। सवत्सरी के पावन पर्व पर आत्म-निरीक्षण कर आगे की तैयारी के लिये साधक अपनी योजना गढता है। पुस्तक का ८वा अध्याय 'आत्म-निरीक्षण के पावन क्षण' उसे अपने इस कार्य मे चैतन्य प्रदान करता है, मार्ग दिखाता है तथा लक्ष्य के बहुत नजदीक ले जाता है—आगे तो साधक का अपना कर्तृत्व, अपना पुरुषार्थ है। परम्परा के अनुसार इन दिनो हमारे यहाँ 'अतगड' सूत्र के वाचन का क्रम भी व्याख्यान के उतरार्द्ध मे रहता है। विद्वत्वर्य श्री शातिमुनिजी ने प्रत्येक प्रतिपाद्य विषय के साथ 'अतगड' की सामग्री भी सरल भाषा मे उपलब्ध करा दी है।

दिवस के दरमियान और रात्रि को होने वाली चर्चा-वार्ता मे कई ज्वलत प्रश्न, शकाएँ उठती है। द्वितीय खड मे—जैन धर्म एक परिचय, नवकार मत्र, सम्यक्दर्शन, ज्ञानचर्या, श्रावकचर्या, मुनिचर्या आदि का निरूपण कर 'सहायक सामग्री' भी उपलब्ध कराई है। परिशिष्ट मे दिये गए गीत जो मुख्यतया

प० मुनिश्री शांतिमुनिजी रचित है, वातावरण के निर्माण और उसकी सरसता को स्थायी रखने के लिये अत्यन्त उपयोगी है ।

प्रस्तुत कृति जैन समाज के एक बडे अभाव की पूर्ति है । स्वाध्यायी भाई-बहिन इससे अवश्य लाभान्वित होगे ।

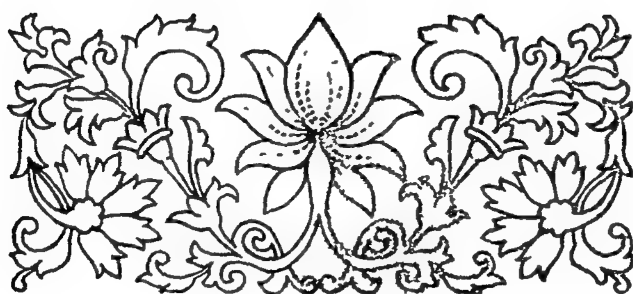
इस आशा के साथ कि आगे आने वाले समय मे प० मुनिश्री से समाज को और भी ऐसी ज्ञान गभीर रचनाएँ मिलेगी, मै मुनिवर्य के चरणो मे प्राक्कथन लिखने के सुअवसर के लिये अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ—

शतश. वदन के साथ

—**सागरमल जैन**

२५-१०-१९८५

शिक्षाधिकारी, केन्द्रीय विद्यालय सगठन
(अहमदाबाद सभाग)



अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

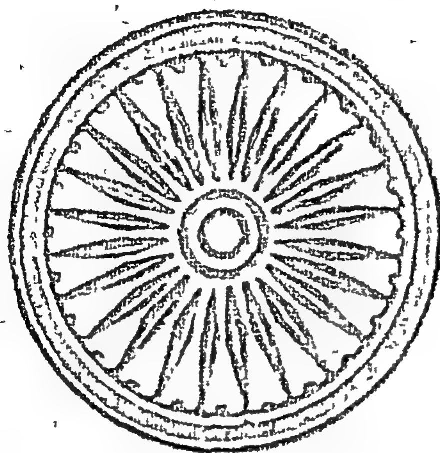
द्वितीय खण्ड

परिशिष्ट—१

पर्युषण पर्व गीत

पृष्ठ सख्या

परिशिष्ट—२



प्रथम खण्ड

१

आत्म ज्योति का सन्देश

[पर्यु षण पर्व–प्रथम दिवस]

ये पर्व पर्यु षण आए—

ये पर्व पर्यु षण आए, एक नया सदेशा लाए जी ।
जीवन की शुद्धि करने, मन-मैल को शीघ्र ही हरने जी ।—ये पर्व........
सब वैर-विरोध भुलावे, हम गीत क्षमा के गावे जी ।—ये पर्व........
तप की लग रही है झडियाँ, और टूटे कर्म की कड़ियाँ जी ।
बेला, तेला और अठाई, नवरगी की होड लगाई जी ।
क्रोधादि दूर भगावे, आभ्यतर तप अपनावे जी ।
अपराध किये है जिनके, उनको ही पहले खमावे जी ।
आगम की है यह वाणी, जन-जन की परम कल्याणी जी ।
शुद्ध भावो से हो आराधन, जिससे जीवन हो पावन जी ।
मुक्ति पथ को अपनावे, पद अनन्त "शान्ति" का पावे जी ।[१]
ये पर्व.......... ....

आत्म-प्रकाश :

कविता की पक्तियों मे आत्म-ज्योति का निर्देश किया गया है । वह ज्योति अपने भीतर ही प्रज्वलित है, आचार्य मानतु ग कहते है—

"सूर्यातिशायी महिमासि मुनीन्द्र ! लोके"

आत्मा का प्रकाश अनन्त सूर्यो से बढकर है । यह एक अलग बात है कि वह प्रकाश भिन्न प्रकार का है । उसकी ससार के किसी भी प्रकाश से तुलना नहीं की जा सकती है । यह दिव्य आलोक प्रत्येक आत्मा में समाया हुआ है । लेकिन उस दिव्य प्रकाश पर सघन आवरण आ गये है । बल्ब जल रहा हो और उस पर कोई ढक्कन रख दे । जैसे वह प्रकाश ढक्कन के अन्दर ही केन्द्रित हो जाता है, बाहर दिखलाई नही पड़ता, ठीक यही दशा आत्मा के प्रकाश की भी है । निगोद की आत्मा मे भी अनन्त प्रकाश-ज्योति भरी पड़ी है, लेकिन कर्म आवरणों से वह प्रकाश दब जाता है । विराट वनराज जो कि महान् शक्ति सम्पन्न है—मध्याह्न के समय वन प्रान्तर मे सो रहा है, किन्तु कुछ मक्खियाँ उसे आराम से सोने नही देती । वे नन्ही-नन्ही मक्खियाँ भी प्रबलतम शक्ति के धारक सिह को परेशान

१ तर्ज—यह पर्व पर्यु षण आया................

कर देती है। वह वनराज शक्तिशाली होते हुए भी छोटी-छोटी मक्खियों से घबरा जाता है। ठीक यही स्थिति अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा की भी है। छोटे-छोटे जन्तु हमारे भीतर घर किये बैठे है। ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि ये जन्तु हमे परास्त कर रहे है। कर्मो के आवरण आत्मा के प्रकाश को ढक देते है। कर्म पुद्गल चतुस्पर्शी है। हवा से भी सूक्ष्म है। जो कि आत्मा की ज्योति को दवा देते है। उस ज्योति को प्रकट करने के लिए ही हम धर्म की आराधना कर रहे है। हमारा मुख्य एक ही उद्देश्य है—आवरणो को विलीन करके अनन्त ज्योति का साक्षात्कार करले, उसके लिए विभिन्न रूपो मे हमारे प्रयास चलते है—ज्ञान योग, भक्ति योग, कर्म योग द्वारा हमारे प्रयास चलते है कि हम उस अनन्त प्रकाश को देख ले। लेकिन जन्म पर जन्म व्यतीत हो जाने पर भी भूमिका ही नही बन पाती है कि हम उस प्रकाश का दर्शन कर सके। वर्षो से प्रयास चले और भूमिका ही शुद्ध नही कर पाये तो आगे प्रगति कैसे हो सकेगी ? एक किसान खेती करता है पर वह जमीन को साफ नही करता, ककर, पत्थर नही हटाता और समय पर खाद नही डालता। जैसे उसका खेती करना बेकार हो जाता है। वह उससे कुछ कमाई नही कर सकता, इसी तरह हमारे जीवन का खेत बना हुआ है, कइयों को ६०–७० वर्ष हो गये साधना करते हुए लेकिन अभी तक ककर पत्थर निकले या नही ? कही जिन्दगी के अनमोल ५०–६० वसन्त निरर्थक तो नही चले गये ?

पर्यु षण-परिभाषा :

जीवन की सार्थकता एव आत्म-ज्योति की प्राप्ति का सन्देश देने के लिये ही पर्व पर्यु षण उपस्थित हुए है। भारतीय सस्कृति पर्व प्रधान सस्कृति है। यह देश पर्वो का देश कहलाता है—यहाँ कहा जाता है कि "वर्ष मे दिन तो तीन सौ पैसठ होते है किन्तु पर्व चार सौ होगे।"

'पर्व' शब्द का अर्थ है—पवित्र दिवस। साहित्य की दृष्टि से खण्ड को भी पर्व कहते है। वैसे पर्व के अनेक अर्थ होते है, किन्तु यहाँ पर्व शब्द का विशिष्ट अर्थ लिया गया है। पर्व दो प्रकार के होते है—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक पर्व का अर्थ है—आमोद-प्रमोद का दिन। यह पर्व केवल शारीरिक सुख सुविधाओ तक सीमित होता है। यह दैहिक एव कुछ मानसिक दु खो को कुछ क्षणो के लिए भुलाकर क्षणिक उल्लास एव उमग का वातावरण प्रस्तुत करता है। जवकि लोकोत्तर पर्व अनन्त ज्योतिर्मय आत्मदर्शन की प्रेरणा प्रदान करता है और उसके लिये साधनात्मक विभिन्न आयाम प्रस्तुत करता है। यह आत्मलीन वनने का मार्ग प्रशस्त करता है।

पर्यु षण-शब्द-अर्थ :

आज पर्व पर्यु षण का प्रथम दिवस है। यह आत्म जागृति का सन्देश देने

वाला लोकोत्तर पर्व है। जैन धर्म-दर्शन में इस पर्व का वहुत अधिक महत्त्व माना गया है। स्वय तीर्थंकर प्रभु महावीर ने इस पर्व की आराधना की थी ऐसा आगमो मे स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यही कारण है कि जैन कहलाने वाले बच्चे-बच्चे मे पर्व के इन दिनों साधना के प्रति उमग उत्पन्न हो जाती है। अन्य पर्वो पर बच्चे मिठाइयों एव खिलौनों के लिये रोते-मचलते है तो आज वे प्राय. माताओ से जिद्द करेगे कि हम भी उपवास करेगे। "पर्युषण" शब्द "परि" उपसर्गपूर्वक "वस्" धातु से "अन" प्रत्यय लग कर वना है। "पर्युषण" का अर्थ है—आत्मा के समीप मे वसना। अनादि काल से हमारी आत्मा मिथ्यात्व एवं अज्ञान के महासागर मे गोते लगाती आ रही है—उसे किनारा नही मिला है। यह स्वभाव को भूलकर विभाव को ही अपना स्वरूप मान रही है और यही मिथ्यात्व एव विभाव दशा दुःख-द्वन्द्वो एव संक्लेशो का मूल कारण है।

पर्युषण—लक्ष्य स्थिरता का सन्देश वाहक :

ये पर्युषण के पर्व हमे मिथ्यात्व से सम्यक्त्व एव विभाव से स्व-भाव में लाने का सन्देश लेकर उपस्थित होते है। पूरे एक वर्ष मे चित्त शुद्धि का यह सुन्दर अवसर हमें प्राप्त होता है। इन आठ दिनो मे हमारा प्रथम चिन्तन लक्ष्य स्थिरता का होना चाहिये। श्रीमद् राजचन्दजी ने कहा है—

"हुं कौन छू क्याथी थयो, शुं स्वरूप छे मारू खरू ?"

इसी वात को मैने राजस्थानी मे आवद्ध किया है—

अरे सोच जरा इन्सान कठासू आयो है तू आयो है ?
अठे रहणो है दिन चार अठासूं जाणो है थने जाणो है ॥

आत्म-शुद्धि का पर्व पर्युषण :

बन्धुओ ! ये पर्व पर्युषण आत्म जागरण का सन्देश लेकर उपस्थित हुए है। इन आठ दिवसो मे आप को क्या-क्या करना है इसका चिन्तन करे आप उपवास, दया आदि तो अपनी-अपनी शक्ति सामर्थ्यानुसार करते है किन्तु इनके साथ-साथ अन्तर शुद्धि का लक्ष्य हो। पर्युषण में आत्मा से अलग नही हटे—विभाव से अलग हटकर स्वभाव मे रमण करे। आत्मिक उल्लास वृद्धिगत हो। आज प्रत्येक जैन के घरों मे उल्लास-उमग मिलेगा। बच्चे-बच्चे कहते है—ये हमारे पर्व है, हम भी उपवास करेगे। पर्व पर्युषण जब भी आते हैं हम उन्हे मनाते है। किन्तु रूढि की तरह मना ले—वह पर्व मनाना नही है। एक व्यक्ति के चाय का नशा है। तीन वजी की चाय पीता है। नशे की परिपाटी की तरह पर्युषण मना ले और आत्म-शुद्धि, आत्मोथान नही होवे तो अफीम के नशे की तरह उल्लास है। इन दिनो मे जीवन के उद्देश्य को ठीक से समझ ले। यही

बहुत होगा । जीवन का क्या उद्देश्य है ? आज प्राय· हमने जीवन का उद्देश्य बना लिया है ज्यादा से ज्यादा परिवार–धन बढाना । सत्ता के अधिकारी वन जाना । फिर क्या चाहिये ? दुनिया चरणों मे झुकेगी । हमने छोटे से उद्देश्य मे जीवन को उलझा दिया । मूल उद्देश्य की ओर गति कहाँ है ? उद्देश्य निश्चित नही बना । हमारी तो उस व्यक्ति के समान स्थिति होगी जो गलियो मे घूम रहा है, किन्तु गन्तव्य का पता नही है ।

हमारा पहला चिन्तन हो—मै कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? मेरा शुद्ध स्वरूप क्या है ? मेरे जीवन का उद्देश्य एव कर्तव्य क्या है ? जो कुछ मै कर रहा हूँ, क्या यही मेरे लिये पर्याप्त है ? इस जीवन का क्या उद्देश्य है ? हम पर्व क्यो मना रहे है ? पहले यह उद्देश्य स्थिर हो, तो साधना मे गतिशील बनेंगे, नही तो भटकते रहेगे । उद्देश्य निश्चित हो जाता है तो जीवन भी व्यवस्थित दिशा मे गतिशील हो जाता है । हम एक एम (aim) निश्चित नही कर पाते है । चले जायेंगे इस शरीर से निकल कर, किसी भी योनि मे पहुँच जायेंगे । उद्देश्य निश्चित हो जाये तो जीवन को व्यवस्थित दिशा दी जा सकेगी । हमे मुक्त होना है, आनन्दित होना है, शब्दों मे बोल देते है—मोक्ष मे जाना है । लेकिन मोक्ष की ओर गति के लिए कितने कदम बढाये ? हमारा गन्तव्य तो पूर्व मे है और कदम पश्चिम की ओर बढ रहे है । पश्चिम से पूर्व मे एक कदम भी बढाया और पश्चिम मे पुन: १० कदम, तो पूर्व मे नही पहुँच पायेंगे । वैसे ही मोक्ष के लिए एक कदम बढाते, एक सामायिक करते इसी को सब कुछ मान लेते है कि हम मुक्ति की ओर गतिशील हो गये है । फिर भले ही २३ घटे पाप करते रहे तो यह आत्म सन्तुष्टि स्वय के प्रति छलावा ही होगी ।

अन्तकृत सूत्र विवेचन :

वन्धुओ ! पर्युषण पर्व आये है और सदेश भी साथ लाये है । वह सन्देश हमारे जीवत का सूत्र बन जाये । हमारे समक्ष दिव्य पुरुषो का जीवनचरित्र आता है । अभी-अभी अन्तगढ सूत्र चल रहा था—गम्भीर विवेचना है । 'अन्त-कृत'—इस ग्रन्थ में जिन्होने ससार मे जन्म-मरण रूप जीवन का अन्त किया—कर्मो का अन्त किया—उनका जीवन अन्तकृत दशाग सूत्र मे है । ऐसे महापुरुषो का वर्णन इस आगम मे है । यह प्रभु की मूलवाणी है ।

"अत्थभासई अरहा सुत्तंगंथति गणहरा णिऊण"

अरिहत अर्थमय वाणी कहते है—गणधर उसे सूत्र रूप मे गू थ देते है । परम्परा से वही वाणी आज आप और हम तक पहुँच रही है । ऐसे-ऐसे दिग्विजयी आत्म-विजयी महापुरुषो का वर्णन है इसमे । ५ वर्गो तक अरिष्टनेमि प्रभु के शासन की महान आत्माओं का वर्णन आता है । ६–७–८ मे प्रभु महावीर के शासन काल के समय का । इसे ८ दिन मे पढ़ा जाता है ।

मखमल के गद्दी-तकियो पर रहने वाली, आमोद-प्रमोद मे रहने वाली, प्रचुर सम्पत्ति मे घिरी हुई आत्माएँ कठोर भूमि शय्या पर सोती है। भिक्षा लेने निकल पडती है। जिनके सिर पर मुकुट छत्र धरे रहते थे वे खुले सिर, पैर चलते है। आप यह न समझे कि वे गरीब बन गये। नही! उन्होंने भौतिक सम्पत्ति को ठुकराकर आध्यात्मिक सम्पत्ति को प्राप्त किया। आपने गौतमादि कुमारो का वर्णन सुना है? प्रभु की वाणी सुनी है? कौनसी नगरी थी—आगम पाठ है—

"तेण कालेण–तेण समएण चपाणाम णयरी होत्या वण्णाओ।"

उस समय चम्पा नगरी मे सुधर्मा स्वामी का पदार्पण हुआ। जम्बू स्वामी ने आर्य सुधर्मा गणधर से पूछा। यहाँ सुधर्मा स्वामी के लिये आर्य शब्द का प्रयोग किया है। आर्य का अर्थ—जो हेय धर्म, पाप कर्म से अलग हट गया—वह आर्य है—"आरात् याति सर्व हेय धर्मेभ्यो इति आर्या" इसी प्रकार आगमो मे स्थान-स्थान पर स्थविर शब्द का प्रयोग हुआ है। वैसे स्थविर का सामान्य अर्थ है वृद्ध। आज किसी को बुड्ढा कहे तो वह कहेगा हमे बुड्ढा कह दिया। वृद्ध मे गहरी अनुभूति होती है। शास्त्र मे ३ स्थविर बताये (१) दीक्षा स्थविर (२) वय स्थविर (३) श्रुत स्थविर।

युवा शक्ति-वृद्धो के अनुभव :

जिसकी २० वर्ष की दीक्षा पर्याय हो वह दीक्षा स्थविर, ६० वर्ष की उम्र वाला वय स्थविर एव आगमो का गहन अध्येता श्रुत स्थविर कहलाता है। युवको मे शक्ति होती है लेकिन अनुभव नही होता। वृद्ध अनुभवशील होते है। एक बार ऐसा ही हुआ। एक युवक सम्राट युवा साथियो से घिरा रहता था। युवको ने कहा—"राज्य मे अप्सरा है, युवक है, फिर बूढं को क्यो स्थान दे रखा है?" युवक सम्राट ने कहा "सोचेंगे।" एक दिन सभा मे प्रश्न पूछा—"यदि इस सभा मे कोई राजा के चाटा लगा दे तो क्या सजा दोगे?" युवको ने तुरन्त उत्तर दिया—"राजन्! तलवार से उसकी बोटी-बोटी उड़ादी जायेगी।" वृद्ध भी बैठे थे। महाराजा ने वृद्धो से कहा—"आप भी बोलिए?" तो वृद्धों ने कहा—"राजन्! उसे स्नेह, प्रेम दिया जाए। किसकी ताकत, किसकी माँ ने सवा सेर सूंठ खाई जो आपको चाटा लगायेगा! इस समय तो चाटा नन्हा राजकुमार ही लगा सकता है। उसको तो प्यार दिया जायेगा।" पोता गोदी मे बैठा है—मूंछ के हाथ लगा दे तो भी खुश होते है। माताएँ अपने बालक की तारीफ करती है—"महाराज! बालक शैतान है।" मै बात अनुभव की कह रहा था। युवको मे अनुभव हो तो वे सही दिशा पर चल सकते है। सुधर्मा स्वामी को स्थविर कहा है—युवक कहते है—"महाराज! माता-पिता हमें बार-बार क्यो टोकते है।" मै कहता हूँ माता-पिता अनुभवी है। शास्त्र मे मुनिराजों के लिए थेरेहि पाठ दिया—उनके

पास अनुभूति का ज्ञान था—बोध था और वही अनुभूति का वोध वे हमारे सामने रखते है। दीक्षा लेते ही शिष्यो को सन्देश मिलता था—जाओ अमुक स्थविर मुनि के पास ११ (ग्यारह) अग का अध्ययन करो। शास्त्र का यह पाठ है, अन्त-गड सूत्र मे गौतमादि कुमारों का वर्णन आ रहा था। द्वारिका नगरी मे अन्धग विष्णु के लाड़ले धारणी माता के पुत्र एक-एक उपदेश मे उनकी आत्मा जाग गई। अपार वैभव का बन्धन उन्हे नही रोक सका। ८-८ रमणिया जिन्हे रोक नही सकी। घास-फूस की झौपड़ी हमसे नही छूटती है। जम्वू स्वामी को कितना वैभव मिला—६६ करोड तो ससुराल का मिला और पिता की तरफ से और मिला। इतने वैभव को क्षण भर मे ठोकर मार दो। यौवन के विस्फोट से पूर्व जागृत हो गये। अनेक आत्माओ को विरक्त बना दिया—इतनी गहरी विरक्ति।

धार्मिक विवाद, सांवत्सरिक एकता :

आप इतनी विरक्ति न ला सके तो कम-से-कम इन पर्वो के दिनो मे तो शल्यादि, रागादि शत्रुओ को बाहर निकालने का प्रयास करे। आज धार्मिक क्षेत्रो में राग, द्वेष का विशेष जाल फैल रहा है। यह मेरी सम्प्रदाय है, यह उसकी सम्प्रदाय। इसीलिए युवक पिछड रहे है। एक व्यक्ति बाहर मे पचायती करने निकल रहा है और घर मे एकता नही।

जैन दर्शन अनेकान्त दर्शन है। भगवान महावीर सभी दर्शनो को अपने अन्दर समाविष्ट कर देते है—कवि आनन्दघनजी ने नेमिनाथ प्रभु की स्तुति करते हुए कहा है—

"षडदर्शन जिन अग भणीजे, न्यास षडग जो साधेरे ......"

आज सव से जटिल समस्या यह हो रही है कि जैन धर्मावलम्बी भी एक नही हो पा रहे है। इन द्वन्द्वो मे समाज उलझ रही है। आचार्यश्री सवत्सरी एक ही हो इस रूप मे फरमाते है—शास्त्रीय दृष्टि से चातुर्मास मे माह घटता-बढ़ता नही है। आत्मा की शुद्धि करना है, किसी भी दिन करले। आचार्यश्री वड़े स्पष्ट शब्दों मे कहते है कि यदि सावत्सरिक विषय मे समाज एक रूप होता है तो समाज मिलकर कार्तिक मे कहे तो मै उसमे भी सवत्सरी मनाने को तैयार हूँ। भारत जैन महामण्डल के गणमान्य कार्यकर्ता सरदारशहर मे आये। उस समय आचार्यश्री ने खुला आह्वान किया कि एक सवत्सरी हो तो एक दिन मे एक लाख प्राणी वचते है। यदि सगठन के साथ एक दिन सवत्सरी मनाई जाय तो इसके पीछे और भी लाभ हो सकते है। दिगम्वर कहे इस रोज छुट्टी दो। दिगम्वर को जाने दीजिये। श्वेताम्वर कहे उस रोज। कम से कम श्वेताम्वर, श्वेताम्वर तो एक हो जाये। किन्तु सभी कहते है—हम कहे तव सवत्सरी मनाओ। आप जव तक

एकता की भूमिका पर नही आयेगे तब तक पर्युषण पर्व सही ढंग से नही मना सकेगे। यह हठाग्रही वृत्ति आज समाज को विघटन की ओर ले जा रही है। मन की मलिनता साफ न हो तो कितने ही पर्युषण पर्व मना लीजिये कोई अर्थ सिद्ध होने वाला नही है। परिवार, समाज, शादी मे आप सब एक बन जाते है। धर्म के नाम पर अनेक बन जाते है। विचारों को विराट बनाये। हम प्रायः युवकों को उपालभ देते है कि वे धर्म से दूर हो रहे है। किन्तु वे देखेंगे कि हमारे साधक रागी-द्वेषी नही है, तो युवक स्वतः धर्म के करीब आयेगे। मै बात कुछ कटुक कह गया हूँ, किन्तु यह कटु नही, यह नग्न सत्य है।

आन्तरिक एकता :

ऊपर की एकता केवल छल है। अन्दर से एक बने विना ऊपरी दिखावा केवल धोखा है। पोशाक साधु की पहन ली, ओघे पातरो का मेरु पर्वत जितना ढेर कर दिया। कवि ने कहा है—**भेषधरी यों ही जनम गंवायो।...................... लखन स्याल सांग धर सिंह को, खेत लोकन को खायो।** विचित्र बात है—लक्षण तो सियाल का है और खाल शेर की पहन ली। स्वर्गीय गणेशीलालजी महाराज साहब फरमाया करते थे—

गृहस्थी केरा टुकडा, लम्बा-लम्बा दात।
भजन करे तो ऊबरे, नहि तो काढ़े आत॥

वास्तव मे साधुता वह है जो जन-जन की कलुषता धोवे। राग-द्वेष की ज्वाला शान्त हो। तो निश्चित साधना मे रमणता आ सकती है। केवल गृहस्थी के टुकडे खाने में मजा नही है। आज वहुत कम व्यक्ति यह जानते है कि **साधना किसे कहते है? जैन किसे कहते है?** जन शब्द से जैन बनता है—जन सामान्य का अर्थ है—जनता। उनमे से राग-द्वेष को जीतने का सकल्प करने वाला जैन है, चाहे वह जन्म-जाति से अग्रवाल, ओसवाल, ब्राह्मण या अन्य कोई भी जाति का क्यो न हो? हमारा यह प्रयास पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक क्षेत्रो मे चल रहा है। सावत्सरिक एकता के विषय मे आचार्यश्री ने फरमाया है—"विक्रम संवत् पचाग से न चले, शक संवत् से चले तो सारी समस्याएँ हल हो जायेगी। एक शक सवत् मे सारे झगड़े मिट जाते है। समाज एक होती हो और चातुर्मास मे किसी भी एक दिन सगठित रूप से सवत्सरी मनाये। मुझे बिना पूछे निर्णय लेकर कह दे तो मै मनाने मे तैयार हूँ। आलोचना एक दिन करना है। किन्तु एकता भीतर की करे। पर्युषण पर्व अन्तर की शुद्धि का पर्व है। आत्मा के उल्लास को वढाये। हमारा जीवन साधना मे वढे। ७ दिन तक साल भर की वृत्तियो को भीतर मे झाककर देखे फिर ८वे दिन खमत खामणा होता है।

आठ दिनों के कर्तव्य :

इस वर्ष आत्मावलोकन, आत्मनिदा एकदम अलग ही प्रकार से रूढ़ि से

ऊपर ऊठकर करे। निश्चित ही जीवन आलोकित होगा। अन्तकृत दशांग सूत्र मे श्रीकृष्ण का विषय आता है। उन महापुरुषो की आत्मा से शिक्षा लेगे। जीवन बनायेगे। ८ दिन तक निंदा, चुगली, रात्रि भोजन, ब्रह्मचर्य, हरी का त्याग, क्रोध, का त्याग करेगे तो निश्चित जीवन मगलमय बनेगा और आप पर्युपण पर्व की भव्य आराधना कर पायेगे। आज से ही अपना वर्ष भर का लेखा-जोखा मिलाना प्रारम्भ कर दे। कम से कम आज प्रतिक्रमण के पश्चात् एक घण्टा आत्म-चिन्तन मे अवश्य लगाएँ और इस क्रम को आठ दिन तक बराबर चलने दे।

पर्युषण पर्व का क्या महत्त्व है एव यह पर्व इन्ही दिनो मे क्यो मनाया जाता है, तथा इसका आगमिक आधार क्या है ? आदि विपयो पर यथासमय प्रकाश डाला जा सकेगा। अभी तो आप इतना ही समझ ले कि जैसे दीप-मालिका के पर्व पर घर-दुकान आदि की सफाई का कार्य कुछ दिनो पूर्व ही प्रारम्भ कर दिया जाता है। ठीक इसी प्रकार से संवत्सरी के पूर्व के ये सात दिन अन्तरंग सफाई के लिये है।

आप इन दिनो मे आत्मा को विषय-कषाय कालुष्य से अलग हटाकर निर्मल बनाने का प्रयास करेगे तो अपने लक्ष्य-आत्मकल्याण के प्रति सजग हो कर जीवन को आनन्दमय बना सकेंगे। इसी मगल भावना के साथ—आज अपने विषय को यही पर विराम देता हूँ।



२ अन्तरावलोकन

(पर्युषण पर्व द्वितीय दिवस)

प्रार्थना :*

आए पर्व राज पर्युषण आतम ज्योति सभी जगाए ।
जिन वाणी का अमीरस पीकर अन्तर प्यास बुझाए ।
पाप-ताप-सताप मिटाकर, अनुपम आनन्द पाये ।। १ ।। आए ......

महापुरुषो की जीवन गाथाए सुन-सुन हर्षाएं ।
निज आचरण बनाकर वैसा, उन सम हम बन जाएं ।। २ ।। आए.......

काम क्रोध मद मत्सर तृष्णा, दिल से दूर भगाए ।
क्षमाशील सतोष दया से जीवन उच्च बनाये ।। ३ ।। आए.......

निन्दा चुगली और बुराई कितनी त्यागी हमने ।
कितने सद्गुण धारें हमने, इसका हिसाब लगाये ।। ४ ।। आए.......

वैर विरोध किया है, जिससे अन्तर कलुष बढाये ।
वैर विसारे सभी पुरातन, शुद्ध मन उसे खमाये ।। ५ ।। आए.......

"जो उव समई अत्थि आराहणा" आगम मे है गाया ।
आराधन कर मोक्ष मार्ग का, परम 'शान्ति' पद पाए ।। ६ ।। आए.......

केवल चिन्तन ही नही, आचरण भी

प्रार्थना की पक्तियो मे आत्म ज्योति की उपलब्धि के लिए सकेत दिया गया है । सभी व्यक्तियो को प्रकाश प्रिय लगता है और अधकार अप्रिय । प्रकाश को सभी पसद करते है, अंधकार को नही । वैदिक ऋचाओ मे कहा है "तमसो मा ज्योतिर्गमय." । अधकार की ओर नही–प्रकाश की ओर गतिशील बनो । किन्तु वह प्रकाश अन्दर का होना चाहिये, बाह्य नही । प्रकाश अन्तर चेतना को प्रकाशित करने वाला होना चाहिए । हमे अपनी आन्तरिक ज्योति को प्रज्वलित करना है, अन्तर के आलोक को जगमगाना है । हमारे दार्शनिको ने अपने चिन्तन के द्वारा यही बोध दिया है कि हे चेतन ! तू अपनी चेतना को जागृत कर ले, अपनी सर्वश्रेष्ठ ज्योति का अपने मे साक्षात्कार करले जिससे तेरे अन्तर आत्म पर आये हुये अधकार के सघन बादल विलीन हो जाये । किन्तु हम केवल चिन्तन से उस प्रकाश को नही पा सकते । तब तक उस अन्तर्ज्योति को नही पा सकते

*तर्ज—समकित ना लही मैं.......

जब तक उसमे आचरण का समावेश न हो। विना आचरण का चिन्तन-मनन पगु है। चिन्तन-मनन हमने वहुत किये लेकिन आचरण के अभाव मे चिन्तन-मनन जहा के तहा रह गये, चिन्तन किया और वही छूट गये। ये चिन्तन-मनन उसी प्रकार रहे जिस प्रकार जैन दर्शन के महान् ग्र थ "विशेपावश्यक भाष्य" मे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने कहा है—

"जहा खरो चन्दन-भारवाही, भारस्स भागी न हु चन्दणस्स ।
एव खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी न हु सोग्गईए ।।

गर्दभ चन्दन का भार ढो रहा है, किन्तु चन्दन की सुगन्ध का उसे ज्ञान नही है। वह चन्दन उसके लिए भार ढोने मात्र का है। ज्ञानियो ने आत्म-परमात्मा का चिन्तन दिया। अज्ञानतावश उस चिन्तन-मनन को आचरण द्वारा जोवन मे प्रकाशित नही किया तो वह केवल चन्दन का भार ढोने के समान है।

हम अक्सर इस प्रकार चर्चाये करते है कि साधना, धर्माराधना ऐसी होनी चाहिए, वैसी होनी चाहिए, किन्तु हम अपने अन्तर मे थोडा झाक कर तो देखे कि हमारी साधना व धर्माराधना की चर्चा के अनुरूप हमारा आचरण है या नही ? यदि हमारा आचरण उसके अनुरूप नही है तो वह गधे के समान चन्दन का भार ढोने रूप है। हम साधना व धर्माराधना की सुगन्ध से अपने को आचरण के अभाव मे सुवासित नही कर सकते। चिन्तन-मनन के द्वारा जो ज्ञान अर्जन किया है वह आचरण के अभाव मे भार रूप ही है।

धर्मनिष्ठता की चर्चा दूसरो के लिए होती है। हम चाहत है कि हमारे साथ कोई धोखा नही करे। किन्तु उस चाहत से पहले हम अपनी ओर देखे कि हम क्या कर रहे है ? हर व्यापारी चाहता है कि हमे घी, तेल शुद्ध मिले, अनाज शुद्ध मिले। हर व्यक्ति शुद्ध वस्तु चाहता है। लेकिन बेचते है अशुद्ध वस्तु। चाहते है शुद्ध और वेचगे मिलावट करके। आप सभी अपने अन्तर्मन को देखे, क्योकि यहा अधिकाश व्यापारी बैठे है।

आत्मा-परमात्मा की चर्चा चलती है। हम आत्मिक प्रकाश की चर्चा करते है, पर इसके लिए हम कितने क्षण निकालते है ? क्या हम कभी एकाध घटा अलग एकान्त मे वैठकर आत्म ज्योति पाने का प्रयास करते है ? वर्षो से हम शास्त्र श्रवण कर रहे है, गीता, रामायण का कितनी ही वार परायण कर चुके होगे पर एक वाक्य भी जीवन मे कार्यरूप मे परिणत हुआ ? यदि जीवन मे कुछ भी परिवर्तन नही हुआ तो सव सुनना-पढ़ना व्यर्थ हो जाएगा। उससे एक क्षणिक सन्तुष्टि ही मिलेगी।

प्रतिस्रोतगामी वनें :

आज पर्यु पण पर्व का द्वितीय दिवस है। पर्यु पण पर्व के उद्देश्य एव सन्देश

के विषय मे कुछ चर्चा कल की जा चुकी है। अपने-अपने जीवन मे पर्युषण पर्व कितनी ही बार मना लिए है और अब भी मना रहे है। कल का भविष्य आज वर्तमान बन जाता है। अणु-अणु मे परिवर्तन आता है। हमारे विचारो मे भी निश्चित परिवर्तन आता है। पर्युषण पर्व अशुद्ध विचारो को त्यागने और शुद्ध विचारो मे रमण करने के लिए आते है। हमे यह बोध देते है कि हम अशुद्ध विचारो के द्वारा संसार के प्रवाह मे न वहते चले जाये। उन अशुद्ध विचारों को शुद्ध विचारो मे परिवर्तित करद, अशुद्ध विचारों की परिणति शुद्ध विचारो मे हो। भगवान् महावीर ने आचाराग सूत्र मे बताया है कि अनुस्रोतगामी न बने—प्रतिस्रोतगामी बने। बहाव के साथ बहने मे विशेषता नही है। प्रवाह की विपरीत दिशा को पकडे। जीवन की विशेषता तब है जब हम प्रतिस्रोतगामी बने। क्या दुनिया जो आचरण कर रही है वही हम करे? यह भेडिया प्रवाह हो जायगा। हमें अपने अनुकरणशील जीवन को ऊपर उठाना है, जीवन की सही दिशा को पकडना है। हमारे मे इस प्रकार का उन्नत उत्साह पैदा करने के लिए ही पर्युषण पर्व आते है। अन्तकृत दशाग सूत्र का वाचन भी इन दिनो मे इसी दृष्टि से होता है। हम पुरुषो की जीवन गाथाओ को सुन-सुनकर हर्षाते है, पुलकित होते है कि कैसे-कैसे महापुरुष हो गये है। इसी दृष्टि से प्रार्थना की पक्तियो मे कहा है—

महापुरुषों की जीवन गाथाए सुन-सुन हर्षाए।
निज आचरण बनाकर वैसा उन-सम हम बन जाए॥

अन्तकृत सूत्र विवेचन :

प्राय प्रति वर्ष इन दिनों देवकी महारानी, वसुदेव महाराज, छहो कुमार और कृष्ण इनके जीवन वृत्तान्त आप लोगो को सुनाए जाते है। इतिहास इसीलिए सुनाया जाता है कि हमारी चेतना झकृत हो जाय, जागृत हो जाय। हमारी आत्मा की जागृति के लिए महापुरुषो का जीवन प्रकाश स्तम्भ रूप है। आज जो चित्रण आया है वह मातृ ममता का जीता जागता रूप है। माता किस प्रकार अपने पुत्र के लिए ममता प्रकट करती है। वे छ हों अणगार किसके है? वे नाग गाथापति और सुलषा श्राविका के छ हो कुमार है। नल कुबेर जैसा उनका सौदर्य है। समान आकृति, समान कान्ति और समान वय वाले छःहो कुमार, सुकोमल शरीर, जिनका सम्बन्ध ३२-३२ तरुणियो के साथ हुआ, प्रभु की वाणी सुनी और आत्मा जागृत हो गई। सब कुछ तृणवत् त्यागकर श्रमण जीवन अगीकार कर लिया। आप जानते है हलुकर्मी आत्मा के लिए थोडा सा निमित्त भी महान् बन जाता है। महाकवि वाल्मीकि ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए। उनका नाम पण्डित रत्नाकर था। चाण्डाल की सगति से भयकर डाकू बन गए, किन्तु सप्त ऋषियों का थोड़ा सा सम्पर्क एवं उपदेश मिला। एक छोटे से निमित्त ने उन्हे डाकू से ऋषि बना दिया।

अनेक प्रसगो मे एक छोटा-सा निमित्त क्रूर व्यक्ति के हृदय को वदल देता है ।

निमित्त की चिनगारी :

अभी कुछ वर्षों पूर्व की एक घटना है । कुछ जैन मुनि मार्ग मे जा रहे थे। छोटी सी बस्ती थी । पूछा–"यहा जैन का घर है ?" उत्तर मिला–"एक सेठ का घर है ।" मुनि गये । देखा, एक वडा मकान है, एक युवक है । आज्ञा लेकर वहा उतरे । एक बालिका बडी चपल थी । कभी रजोहरण के हाथ लगाये और कभी पात्रो के, कभी कुछ छूए कभी कुछ । मुनिजी ने कहा कि वालिका वडी चपल है। बालिका के पिता ने कहा–"मुनिजी, इस लडकी ने हमारे प्राण वचाये है ।" मुनिजी ने जिज्ञासा भरे स्वर मे पूछा–"कैसे ?" पिता ने कहा–"कुछ दिनो पूर्व हम घर के अन्दर थे और यह ऊपर छत पर खेल रही थी । उसने चिल्लाते हुए कहा–"बाबूजी ! मामाजी आ रहे है ।" इसके मामा प्राय ऊट पर आया करते है । मै बाहर आया, देखा, डाकुओ का दल ऊँटो पर सजधज कर इधर आ रहा है । हम घवराये, अन्दर घुसकर दरवाजा बन्द कर दिया । इतने मे डाकू आये, दरवाजा खटखटाया । हमने दरवाजा नही खोला । डाकुओ के सरदार ने कहा–"आप दरवाजा तो खोलिये । अन्यथा हम तोड भी सकते है, किन्तु हम आपका इतना नुकसान नही करना चाहते है ।" हमने दरवाजा खोला । डाकू अन्दर आये । मुझसे कहा, आज हम इस घर को लूटने, विलकुल साफ करने आये थे, लेकिन इस लडकी ने हमे मामाजी कहा, यह भानजी हो गयी । इसकी मा वहिन और हम आपके साला हो गये । अब हम बहिन का घर कैसे लूट सकते है ? हम आपको छोडते है । बुलाइये बहिन को, हम उसे कुछ भेट दे जायेगे । बन्धुओ ! भाई-वहिन के रिश्ते कितने गजब के होते है । अपवाद रूप में कभी-कभी एक दूसरे खून के प्यासे भी बन जाते है । लेकिन यहा पर भाई-बहिन का रिश्ता कायम किया और डाकू जाते समय अपनी भाणजी को रुपये देकर गये । मामा शब्द के इस छोटे से निमित्त को पाकर डाकू जैसे क्रूर व्यक्ति का हृदय बदल गया । आप भी जरा चिन्तन करे–कितनी बार सुन चुके है उपदेश ! जरा आत्मा भीगी ?

वे छ:हो कुमार भगवान् अरिष्टनेमी का उपदेश सुनते है, जीवन की असारता और चचलता का अनुभव करते है । एक उपदेश ने उनके जीवन को वदल दिया । वे भोगो की प्रचुरता को छोडकर सयम अगीकार कर लेते है । दीक्षा लेते ही यह प्रतिज्ञा करते है कि हम आजीवन वेले-वेले पारणा करेगे । आज हम कहते है कि महाराज, यह वालक है, कोमल है, कैसे सयम पालेगा । वे सुकोमल कुमार किस प्रकार उग्र तपश्चरण करते है ? वेले-वेले का अर्थ है दो दिन उपवास और फिर पारना । तपश्चरण का विशिष्ट महत्त्व है । छ हो मुनि

भगवान् के सम्मुख आये, प्रार्थना करने लगे "भगवन्, आज हमारे बेले का पारणा है, आप आज्ञा दे तो हम छ हो दो दो के सिघाडे के रूप मे तीन सिघाडे वनकर भिक्षा हेतु जाये। तो भगवान् ने फरमाया, "अहास्सुह देवाणु प्पिया" हे देवानुप्रिय, जैसा तुम्हे सुख हो वैसा करो। छ हो मुनि वहा से निकलते है। "उच्च नीच कुलाइ मज्झ...." भेदभाव रहित चले जा रहे है। अमुच्छिए-अमूर्च्छितभाव से वे बढ रहे है। सयोग से दो मुनि आगे वढे और वे महारानी देवकी के महल मे पहुँचे।

हर समाज मे जैन मुनि के प्रति एक आस्था वनी हुई है कि जैन मुनि अपरिग्रही, कचन कामिनी के त्यागी और निस्पृही होते है। सरदार शहर के पास एक छोटे से गाव का प्रसग है—एक छोटा सा चौधरी परिवार का घर था। वहा एक भगवा वस्त्र वाले सन्यासी खडे थे। चौधरी ने उसे वहा से हटाकर मुझे कहा कि आप पधारिये। इसका कारण है जितना उच्चकोटि का त्याग होगा, उतना ही सम्मान अधिक मिलेगा।

देवकी महारानी की सजगता :

वे छ हो मुनिराज दो-दो के सिघाडे मे भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए महारानी देवकी के यहा पहुँच गये। ज्योही महारानी देवकी ने मुनियो को आते देखा। वह हृष्ट-तुष्ट हुई। आसन से उठकर मुनि को वन्दन कर कहा—"मेरा आगन आज पवित्र हो गया।" वह मुनि को रसोई घर की तरफ ले गयी। उसने सिह केशरी मोदक बहराये। उन मुनियो को देखकर देवकी मन ही मन सोचती है, इन महान् आत्माओ का कितना भव्य सौदर्य है, कितना रूप और लावण्य है। इन्होने इस भरे यौवन मे कितना कठोर किन्तु विशिष्ट साधना पथ अपनाया है। पहला सिघाडा चला गया। सयोगत दूसरा सिघाडा भी वहा आ गया। उसी प्रकार हर्षित होती हुई देवकी ने उन्हे भी सिह केशरी मोदक बहराये। उनके जाने के पश्चात् सयोगवश तीसरा सिघाडा भी देवकी के महलो मे प्रवेश करता है। उन्हे भी सत्कार के साथ भक्तिपूर्वक आहार वहराया। लेकिन देवकी के मन मे छ हो मुनियो का समान रूप होने से शका उत्पन्न हुई कि साधु मर्यादा की दृष्टि से बार-वार इन दो मुनियो का यहां आना उचित नही है। ये दो ही मुनिराज पुन-पुन यहा क्यो आए है? उसने अति विनम्र शब्दो मे पूछा—"भगवन्! १२ योजन लम्बी और ९ योजन चौडी साक्षात देवलोक के समान द्वारिका नगरी मे आपको अन्यत्र कही भिक्षा नही मिली, जो कि आपको बार-बार यहा आना पडा? मुनि ने कहा—"हे देवकी महारानी! हम छ हो अलग-अलग आये है, हम दो ही वार-बार नही आये है। हमारा रूप एवं वय लगभग समान लगता है अत आपको शका हो गई है कि दो ही मुनि तीसरी वार आए है, वस्तुत. हम छ हो अलग-अलग है।" देवकी महारानी की शका का समाधान हो गया।

जरा चिन्तन करे प्राचीन श्रावकों का जीवन कैसा था ? वे सामने ही कमजोरी बता देते थे। आज सामने कमजोरी न वताकर पीठ पीछे वाते करते है, अमुक मुनि ऐसे है, अमुक वैसे है। आप देवकी महारानी से शिक्षा लेगे। यदि देवकी नही पूछती और अपनी शंका का समाधान नही करती, तो उसके मन मे यह शंका घर कर जाती कि मुनि रस-लोलुपी हो गये है। आपका कर्तव्य है कि जिनकी गलती है, आप उनको कहे। यदि वह गलती की दुरुस्ती न करे तो आप बड़ों को कहे।

देवकी का झूरना :

महारानी देवकी का संयमी जीवन की सजगता सम्वन्धी शंका का समाधान तो हो गया किन्तु ज्योही उसका चिन्तन उन पिछले दो अणगारो की बात पर गया कि हम छ हो सहोदर भ्राता है, तो महारानी देवकी के मन मे उथल-पुथल मच गयी। वह सोचने लगी कि मुझे अतिमुक्त कुमार ने कहा था कि देवकी तू नल कुबेर के समान ऐसे आठ पुत्र रत्नो को जन्म देगी जो इस भरत क्षेत्र मे अद्वितीय होगे और अन्य कोई माता ऐसे लालो को जन्म नहीं दे सकेगी। लेकिन मै आज ऐसे नर रत्नो को प्रत्यक्ष देख रही हूँ जिनको अन्य माता ने जन्म दिया। धन्य है वह माता जिसने ऐसे पुत्र रत्नो को जन्म दिया। किन्तु क्या मुनिराज की वाणी मिथ्या हो रही है ?

"जो भाखे वर कामीनी, जो भाखे अणगार ।
जो भाखे बालक कथा, सशय नही लिगार ।।"

इस कहावत के अनुसार अणगार की भाषा अन्यथा नही हो सकती, किन्तु प्रत्यक्षत: आज मिथ्या ही प्रतीत हो रही है। इस प्रकार संकल्प-विकल्प करती हुई महारानी देवकी सोच रही है। उसने सोचा सर्वज्ञ प्रभु अरिष्टनेमि यहा विराजमान है, क्यो नही मै अपने मन की शका का निवारण करलू । वह उठी, रथ-सजाकर पहुची प्रभु अरिष्टनेमि की सेवा मे। प्रभु के चरणो मे वन्दन किया। प्रभु घट-घट के अन्तर्यामी थे। प्रभु ने कहा—"देवकी ! छ मुनियो को देखकर तुम्हे शका हुई और उस शका के निवारण के लिए तुम यहा आयी हो ? देवकी ! ये छ हो ही अणगार तुम्हारे ही पुत्र है। जब तुम कारागार मे थी तो हरिणगमेशी देव तुम्हारे पुत्रो को हरण करके सुलसा के घर पर पहुचां देता था और सुलसा के मरे हुए वच्चो को तुम्हारे यहा पहुचा देता था।"

शंका-समाधान :

वास्तव मे ये छ हो अणगार तुम्हारी ही कुक्षि से उत्पन्न हुए है। सुलसा ने तो इनका लालन-पालन किया है। इनकी जन्मदात्री मा तो तुम ही हो। अत मुनिराज की वाणी मे सशय नही करना चाहिये। इसकी पूरी घटना इस रूप मे

है कि सुलसा को किसी नैमित्तक ने बताया कि तुम मृत वन्ध्या होओगी तो उसने हरिणगमेशी देव की आराधना की जिसने कि तुम्हे और उसे एक साथ ऋतुमति होने का सकेत दिया और वह देव तुम्हारी सन्तानो को वहा पहुचा देता और उसकी मृत सतानो को तुम्हारे पास। भगवान ने इस प्रकार आद्योपान्त सारी घटना देवकी को कही और यह स्पष्ट किया कि इस भरत क्षेत्र मे तुम्हारी सरीखी अन्य माता नही है, यह कथन मुनि का मिथ्या नही है। भगवान् के मुखारविद से अपनी शंका का निवारण होने से देवकी को अपार हर्ष हुआ। वह सीधी उन मुनियो के दर्शन के लिए पहुंची। मुनि दर्शन से देवकी के मन मे पुत्र-मातृत्व का स्नेह उमडा और अति हर्ष से उसकी कचुकी के बधन टूट गये। स्तनों से दूध की धारा छूटने लगी। देवकी अनिमेष दृष्टि से उन मुनियो को देखती रही। फिर भावपूर्ण वन्दन कर अपने महलो की ओर लौट गई।

शोकाकुल देवकी—कर्तव्य की दृष्टि से :

महारानी देवकी अपने महलो मे पहुची और अपनी शैय्या पर बैठ गई। अब उसके चिन्तन ने दूसरा ही मोड ले लिया। वह शोकाकुल होकर विचार करने लगी कि अहो ! मै कितनी पुण्यहीन हूं कि मैने सात-सात पुत्रों को जन्म दिया लेकिन एक को भी अपनी गोदी मे नही खिलाया। छ: तो भदिलपुर में बडे हुए और सातवे कृष्ण भी गोकुल मे बडे हुए। एक को भी मैने गोदी मे नही खिलाया, एक को भी मैने झूले मे नही झुलाया।····मैने अपने बच्चों मे कोई सस्कार नही दिये····मैने मातृ कर्तव्य का कुछ भी पालन नही किया····वह व्याकुल चित्त होकर कुछ विलाप करने लगी····।

यों देवकी रानी बिलखानी :

यो देवकी रानी बिलखानी, वो पुत्र बिना है अकुलानी।
मन घोर निराशा छाई है, तन की सब छबि मुरझाई है।
यो शोक घटा घिर कर आनी ॥ यो ·······॥ १ ॥

नन्दन सातो मैने जाए, पर किसी को ना है दुलराए।
यो शोकाकुल हुई महारानी ॥ यो··· ····॥ २ ॥

मै झूला नही बन्धा पाई, ना मधुर हालरिया गा पाई।
मा की ममता यो विनशानी ॥ यो·······॥ ३ ॥

ना दुग्ध पान ही करवाया, ना गोदी लेकर दुलराया।
चुम्बन दे ना मै हर्षानी ॥ यों·······॥ ४ ॥

ना लाल को लाड लडाया है, ना अगुली पकड चलाया है।
मुछ मा की व्यर्थ है जिन्दगानी ॥ यो······ ·॥ ५ ॥

मा का कर्तव्य निभा न सकी, निज सस्कार कुछ भर न सकी।
फिर क्योकर मा मै कहलानी ॥ यो·······॥ ६ ॥

यो आसू भर-भर झुरती है, मन मे वह आहे भरती है।
यो बिसुर रही देवकी रानी ॥ यो……॥ ७ ॥

तब कृष्ण वन्दन को आते है, चरणो मे शीष झुकाते है।
फिर बोले वे यो मृदु वाणी ॥ यों……॥ ८ ॥

मै गोद तुम्हारी भराऊँगा, कुछ ऐसा साज सजाऊँगा।
तुम्हे "शान्ति" मिलेगी कल्याणी ॥ यो……॥ ९ ॥

यो देवकी रानी विलखानी…………

गीत की पक्तिया गम्भीर है। गाने मे वडी मधुर लगती है। मातृभाव उसका उमड पडा। वह इसलिए झूर रही है कि मैने माता होकर अपने कर्तव्य का पालन नही किया, माता द्वारा पुत्र को जो सस्कार दिये जाने चाहिये वह मैने नही दिये, मैने एक का भी मधुर-मधुर हालरिया नही गाया।

माता के सस्कार गर्भस्थ बालक पर पडते है यह वात आज के मनोवैज्ञानिक भी मानते है। माता के चिन्तन का गर्भस्थ शिशु पर सीधा और गहरा प्रभाव पडता है। एक सस्कृत सूक्तिकार ने कहा है—

सस्कारों का महत्त्व

बाले गर्भगते तदीय जननी, चेत् सेवते दीनता।
बालो दीनतरो भविष्यति तदा शूरश्च शौर्य तथा ॥
यद्येषा कलह करोति नितरा सक्लेशकारी तदा।
तुष्टा स्याद्यदि सा भविष्यति तदा पुत्र. प्रसादान्वित. ॥१॥
धर्म वाच्छति गर्भिणी यदि तदा पुत्रो भवेद् धार्मिक ।
भोगा न् वाच्छति चेवैन्द्रिय सुखासक्तो विलासी भवेत् ॥
विद्या वाच्छति चेत्तदा प्रतिदिन, विद्याभिलाषी भवेत्।
सच्छास्त्रश्रवण करोति यदि सा पुत्रोऽपि तादृग्भवेत् ॥२॥
(कर्त्तव्य कौमुदी)

वालक गर्भ मे है। यदि माता अपने मन मे कायरता लाती है तो वालक कायर-डरपोक होगा। यदि माता के मन मे वीरता, निर्भयता एव गाम्भीर्यता के भाव है तो वालक भी धीर, वीर गम्भीर और निडर होगा। यदि माता का स्वभाव चिडचिडा है, तो वालक भी चिड़चिडा होगा। यदि माता प्रसन्न वदना है तो वालक भी प्रसन्न वदना होगा। माता की अभिरुचि धर्मशास्त्र श्रवण, दान अनुकम्पा मे है तो वालक मे भी वैसे ही भाव उत्पन्न होगे और वह भी धर्म श्रवण दान, शील मे अभिरुचि रखेगा। महारानी मदालसा का उदाहरण आपके सम्मुख है। वह अपने पुत्रो को शिक्षा देती है, वह कहती है—

सिद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरजन्नोऽसि,
ससार माया परिवर्जितोऽसि ।
संसार स्वप्न तज मोह निद्रा,
मदालसा वाक्य मुवाच पुत्रम् ।।

महारानी मदालसा अपने पुत्रो से कहती है कि तुम्हे धर्म का अलख जगाना है । तुम सिद्ध-बुद्ध, निरजन-निराकार हो, तुम्हे मोह तन्द्रा को तोड देना है । और वह अपने सब कुमारो को मुनि बना देती है । आज स्वेच्छा से कोई मुनि बनना चाहे, कोई बालक अपनी इच्छा से मुनि बनना चाहे तो उसके माता-पिता एव रिश्तेदार पकड कर खीच लेते है । जब महाराजा ने कहा कि सातो को मुनि बना दिया तो राज्य का भार कौन सम्हालेगा ? महारानी मदालसा कहती है ८वी सन्तान राज्य भार सम्हालेगी । वह उसमें वीरता के संस्कार भर देती है और कहती है कि तुम्हे सत्य के लिए पृथ्वी को हिला देना है । राजस्थानी भाषा मे पाठ्य पुस्तको मे लोरी आती है—

बालो पाखा बाहिर आयो माता वैण सुणावे यू ।
मारी कूख सिलाई जे रे बाला, मै थनै सकरी घूटी दू ।
(पूरा गीत परिशिष्ट नम्बर १ में देखे)

देखिये, महारानी मदालसा लोरियां देते हुए गा रही है कि मैं तुम्हारा तेज कटारी से नाला काट रही हूँ, तू भी बैरियो की फौज मे जाकर वीरता प्राप्त करना और विजय पताका फहराना लेकिन कायर बन कर भाग मत आना और मेरे सफेद दूध मे काला दाग मत लगाना । मै तुम्हे जितना झूले मे झोटा दे रही हूँ तुम उतनी बार अपनी वीरता से पृथ्वी को कम्पायमान कर देना, हिला देना । वह एक क्षत्राणी वीर माता थी जो अपने सतान को इस प्रकार की शिक्षा देती थी । वे दूध के सस्कारो का महत्त्व समझती थी इसीलिये तो उसने कहा कि मेरे सफेद दूध मे कायरता का काला दाग मत लगाना । मुझे एक ऐतिहासिक घटना का स्मरण आ रहा है ।

दूध के संस्कार : एक मार्मिक घटना :

जोधपुर के महाराजा यशवतसिहजी थे, निकट के एक राजा के साथ युद्ध का मौका आया । दुश्मन शक्तिशाली था । यशवतसिहजी की हार होने लगी । वे लडाई से भाग निकले । महारानी को खबर मिली । उसने नगर रक्षको को आज्ञा दी, महाराज युद्ध में गये है, नगर मेरे अधिकार मे है । मेरी आज्ञा है नगर के सारे दरवाजे बन्द करदो । मेरी इजाजत के बगैर दरवाजे न खोले जाय । महाराजा नगर को लौट आये परन्तु नगर के दरवाजे नही खुले.. .....महाराजा दरवाजा शीघ्र खुलवाने के लिए चिल्ला रहे थे । दरवाजे के परकोटे पर खडी

महारानी बोल रही थी "मेरे पति युद्ध मे गये है। राजपूत युद्ध से भागकर नही आते। युद्ध से भाग आने वाला मेरा पति नही हो सकता।" महाराज सेना की टुकड़ी के साथ सात दिन तक भूखे-प्यासे नगर के बाहर बैठे रहे।

बात राजमाता तक पहुँची। उसे दया आई। आखिर मां का हृदय था। राजमाता की आज्ञा महारानी टाल न सकी। दरवाजे खोले गये। महाराजा महल मे आये और महारानी से कहा "क्या सबके सामने मेरा अपमान करना उचित था?" महारानी ने जवाब दिया "मान अपमान की कीमत समझते तो कायर बन दुम दबाकर युद्ध से भाग कर नही आते।" महाराजा ने कहा "तो क्या मै मर जाता तो ठीक होता?" रानी ने जवाब दिया, "महाराज, वीरो की तरह मरना भी आपने नही सीखा। मरना भी एक कला है।"

अन्त मे राजमाता ने कहा—"बहूरानी! अब बहुत हो गई। बेटा सात दिन से भूखा है। इसे कुछ खिला दो।" महारानी स्वय हलवा बनाने लगी। आटा सेकने के लिए कढाई मे खुरपी चल रही थी। खटाखट की आवाज सुनकर राजमाता ने जरा व्यग्य के स्वरो मे कहा—"बहूरानी! युद्ध मे लोहे की खटाखट से डर कर तो बेटा यहां आकर बैठा है। यहां भी तुम खटखट कर रही हो, अब यहा से यह कहा जाकर छिपेगा।"

महाराजा को बाते चुभ गयी। वे राजमाता के चरणो मे गिर पडे और भाग आने की क्षमा मागी। राजमाता ने कहा, "बेटा, यह तुम्हारा दोष नही। यह मेरी ही गलती का परिणाम है। तुम छोटे थे। मै तुम्हे दूध पिला रही थी। बीच मे ही किसी काम से तुम्हारे पिताजी ने आवाज दी। मै तुम्हे छोड बाहर चली गयी। दासी ने अपना दूध तुम्हे पिलाकर चुप किया। लौट आने पर मुझे मालूम हुआ तो उलटी करवाकर वह दूध निकलवाया। जो थोडा अश रह गया था, उसी के कारण तुम मे कायरता आ गयी।"

संस्कार बालकों में :

इस दृष्टात से पता चलेगा कि पुराने जमाने मे माताये दूध के प्रति कितनी सावधान रहती थी। आज बकरी का दूध, पाउडर का दूध बच्चो को मिल रहा है। माताए अपने बच्चो को अपने बदन पर नही पिलाती। बदन पर पिलाने से सौदर्य मे न्यूनता आती है। ऐसी धारणा सर्वत्र फैल रही है। पाश्चात्य सस्कृति का यह गलत प्रभाव आप पर छा रहा है। बच्चो के प्रति आप उदासीन बने हुए है। उनकी उपेक्षा कर रहे है, लापरवाही बरत रहे है। भविष्य के खतरे का आभास भी आपको नही हो रहा है। सतान से आप बड़ी-बड़ी अपेक्षाये रखते है। लेकिन जा रहे है आप विपरीत दिशा मे। सिर्फ बच्चो को जन्म देना, इतना ही माता-पिता का कर्तव्य नही। उन पर योग्य सस्कार हो। जीवन जीने की

कला उन्हे सिखायी जाय। विनय और सेवाभाव की जन्मघूंटी उन्हे पिलायी जाय। घर मे सस्कार होते है वैसे स्कूलो मे भी सस्कार पडते है। स्कूल मे तो विभिन्न जाति, धर्म, उम्र, खानपान, आचार-विचार वाले अन्य छात्रों के सम्पर्क मे बच्चा आता है।

आप अपने बच्चो को कॉन्वेट स्कूल मे भरती करने मे अपना गौरव और प्रतिष्ठा समझते है। क्या माता-पिता की भक्ति के सस्कार वहा है? क्या धार्मिक अध्ययन वहा है? अल्हड बीकानेरी की ये पक्तिया है—

कॉन्वेट मे पढा है मेरे देश का सपूत,
सिर पर तभी से सवार है अग्रेजियत का भूत,
हिदी को समझा है उसने कन्या कोई अछूत।

इग्लिश मे आया फर्स्ट और हिदी मे फेल है,
भगवान की लीला है यह, कुदरत का खेल है।।

आजकल की सेठानिया अपने बच्चो को क्या शिक्षा देती है, वह भी सुना दू।

बालो पाखां बाहिर आयो माता वैण सुणावे यूं।
रो मत रो मत रो मत बाला, थने बिन्दणी परणाय दूं।।

झूला माही बालो झूले, झोटत झोटत बोली यूं।
बारे हाउ म्याउ बैठा, खा जासी थने सो जा तू।।

घर मे मिठाई पडी है, अन्दर बालक को नही जाने देना है तो मां कहेगी कि अन्दर हाऊ-म्याऊ बैठा है, मत जाना। झूठे भूत-प्रेत के सस्कार बच्चे मे डाल दिये जाते है। फिर बडे होने पर उन बच्चो मे वैसे ही सस्कार बन जाते है, जिससे वे निस्तेज और डरपोक होते है, साहसिक कार्य करने मे अक्षम होते है, धीर-वीर सतान उन्ही माता पिता का नाम उजागर करती है, जिन्होने उनमे वीरता के सस्कार भरे हो। इतिहास इसका साक्षी है।

गोविन्दसिह की वीर संतान :

गुरु गोविन्दसिह की सतान कैसी थी? धर्म के पीछे मर मिटने वाली। दीवाल मे चुने गये ८—१० वर्ष के बालक जोरावरसिह एव फतेसिह ने मुगल बादशाहो को क्या कहा—

करदे कतल खुशी से, हमको उजर नही है।
प्यारा है धर्म अपना, जितना कि सर नही है।।१।।

होने को मुसलमा, दो वन्धु मे न कोई ।
दीवाल मे चुनेगे, इसका भी डर नही है ।।२।।

माता पिता हमारे, सिखला चुके है हमको ।
मरना सभी को होगा, कोई अमर नही है ।।३।।

हम धर्म वेच अपना, लेगे न जिन्दगी को ।
है राज के न भूखे, दरकार कुछ नही है ।।४।।

जिसने मनुष्य होकर, रक्षा न धर्म की की ।
सीगों से हीन पामर, पशु है वह नर नही है ।।५।।

देखिये, उन वीर पुंगव नन्हे-नन्हे बालको को । वे आदर्श प्रस्तुत कर गए कि हमे धर्म नही बेचना है । हम दीवाल मे चुन जावेगे, हमे मरना मंजूर है। आपने क्या सिखाया है धर्म के नाम पर अपने बच्चों को । आप बच्चो को क्या सिखावे, खुद ही पूरे आस्थावान् नही है । थोडे से पैसो मे भगवान का सौदा कर लेते है । दुकान पर कोई ग्राहक आता है, कपडे का भाव पूछता है और आप सात रु. मीटर के कपडे के लिए तुरन्त बोलते है—"भगवान की सौगन्ध, दस रु. मीटर का कपड़ा है ।" भगवान को नीलाम कर देते है । तीन रु. मे भगवान की कीमत तीन रुपयो से करली । आज की माताओ को सावधान होना है । बच्चो मे ऐसे सस्कार डाले कि बाहरी विपरीत वातावरण मे भी वे अपने सस्कारो को न छोड़े । आज का वायुमण्डल एक दूषित वायुमण्डल है । माता-पिता के धार्मिक सस्कार होते हुए भी उनकी सतान वायुमण्डल के प्रभाव से गलत मार्ग अपना लेती है । अत. माताओं पर विशेष जिम्मेदारी है ।

देवकी महारानी विलाप कर रही है कि मैने एक भी बालक मे सस्कार नही दिये । "झूरे देवकी रानी"........। वह मन मे सताप करती हुई कहती है कि मैने बच्चो के जन्म का दु:ख तो देखा है, लेकिन उनको अपनी आखो से आज से पूर्व नही देखा । मैने उनका लालन-पालन नही किया । मैने मातृ कर्तव्य का पालन नही किया । देवकी इस प्रकार झूर रही है ।

कृष्ण की नम्रता और आज की संतान :

उसी समय कृष्ण माता के चरण वन्दन के लिए आते है । त्रिखण्डाधिपति कृष्ण अपनी माता को वन्दन करने आते है । कितने गजब के आदर्श शास्त्रो मे भरे पडे है । त्रिखण्डाधिपति होते हुए भी वे अपनी माता को वन्दन करने आये । आज के पुत्र युवक तर्क करते है, "हम रोकर माता-पिता की नीद हराम न करदे इसीलिए हमको सूखे पे सुलाया, कौनसी वडी वात की ? यह अपने स्वार्थ के लिए किया । विपय भोग कर रहे थे और हम तो वीच मे ही टपक पड़े । गर्भ मे रखा उसका किराया ले लो ।" वन्धुओ ! यह कुतर्क आपको ही खा जाने वाला

है। आप जैसा वर्ताव अपने माता-पिता के साथ करेंगे, वैसा ही अथवा उससे दुगुना व्यवहार आपकी सतान आपके साथ करेगी। श्रीकृष्ण महाराज के ७२ हजार माताए थी और छ: महीने मे एक माता का नम्बर आता था।

नमस्कार से ऊर्जा :

भारतीय सस्कृति मे वन्दन-नमन का बहुत महत्त्व बताया है। आज के मनोविज्ञान ने इस पर बहुत खोज की है—हमारे हाथो एव पैरो की अगुलियो से ऊर्जा प्रवाहित होती है। जब कोई वन्दन करता है तो वन्दनीय व्यक्ति आशीर्वाद के रूप मे अपना हाथ ऊपर उठाते है—इसका अर्थ हुआ कि उनके हाथो से निकलने वाली ऊर्जा नमन करने वाले के प्रति सम्प्रेषित हो रही है। इस विषय मे बडा गहरा मनोविज्ञान है। मै अभी उसके विस्तार मे नही जाना चाहता, किन्तु इतना अवश्य समझले कि माता-पिता के प्रति नमन हमे अदृश्य ऊर्जा-शक्ति प्रदान करता है। आज की सतान माता-पिता को नमन करना तो दूर रहा उनके साथ मधुरता का व्यवहार भी नही करती। एक लघु सी घटना है—एक बालक अपने पिता से एक पक्षी के विषय मे पूछता है "पिताजी, यह क्या है ?" पिता ने कहा "बेटा ! यह कौआ है।" कुछ समय मे फिर पूछा "पिताजी यह क्या है ?" बच्चे ने लगभग २०० बार पूछा पिताजी यह क्या है ? यह क्या है ?........पिता ने प्रत्येक बार मधुर शब्दो मे कहा—"कौआ है।" किन्तु वे उसे एक कापी मे लिपिबद्ध करते गए। विनोदवश उन्होने नोट बुक में २०० बार लिख दिया कौआ है.......कौआ है। वृद्धावस्था मे पिताजी ने पूछा "बेटा, यह क्या है ? कौआ है। मेरी जान मत खाओ, दिमाग खराब हो गया है ! चले जाओ यहां से ! बेटे को कापी बताई। तुमने २०० बार पूछा, मैने उत्तर दिया—मधुरता से। तू ३ बार मे चमकने लगा। बस मै यही देखने आया हूँ। यदि पिता ने अपनी सतान से एक से अधिक वार किसी बात के लिए पूछ भी लिया तो वे कह देगे "आपका दिमाग खराब हो गया है—वृद्धावस्था के कारण, मेरी जान मत खाओ।" यह है आज की सन्तान की स्थिति। कृष्ण महाराज माता को वन्दन करने आये, माता को चिन्तातुर देखा। माता ने मुंह फिरा लिया। आज की सतान तो कह देती कि बैठी रह, हम तो वन्दन को आये और तुमने मुह फिरा लिया। लेकिन श्रीकृष्ण ने कहा, "मातेश्वरी, आप चिन्ताग्रस्त क्यो है ? मेरे होते हुए आप इस प्रकार चिताशील रहे, यह उचित नही है। यह सारा राज्य आप पर न्यौछावर कर दूंगा लेकिन मै आपको चिन्ताशील नही देख सकता। आप बताइये, आपकी चिन्ता का कारण ? मै उसको दूर कर दूगा। कृपा करके जल्दी बताइये, देर न कीजिए।" माता ने कहा "लाल ! मैने सात पुत्रो को जन्म दिया लेकिन एक का भी लालन-पालन नही किया। मेरे छ पुत्र आज कमनीय स्वरूप लिये हुए मुनि वेश मे भिक्षार्थ आए। वे भद्दिलपुर नगर मे सुलसा के यहां पले और तुम गोकुल मे यशोदा के यहा। मैने प्रभु से आज पूरा वृत्तान्त सुना।

सात-सात पुत्रों को जन्म देने के बाद भी मैं एक मे भी अपने उन्नत सस्कार नही दे सकी ।"

श्री कृष्ण ने मा के उद्गार सुने तो तुरन्त अपनी वैक्रिय शक्ति से अपना छोटा बालक का रूप बना लिया । अपनी बाल क्रीडा करने लगे । मा से तुतलाती भाषा मे कहा—"मुझे भूख लगी है । दूध लाओ ।" माता दूध लायी । कृष्ण कहते है—"माता ! यह फीका है ।" मा ने उसमे मीठा डाला तो कहा—"यह बहुत मीठा है, इसमे से मीठापन वापस निकालो ।" मा ने समझाया—"इसमे से मीठापन वापस नही निकलता है—तेरे लिये दूसरा दूध लाती हूँ ।" कृष्ण जिद्द करने लगे, बाल हठ करने लगे........नही यही दूध पिऊँगा—मीठा निकालो........" मा घबरा गई—बोली, "कृष्ण अपनी लीला को समेटो । मुझे तो असली लाल चाहिए ।" श्रीकृष्ण कहते है "मै ऐसा ही उपाय करूगा कि मेरे एक छोटा भाई हो ।"

देवकी को नैमित्तिक ने कहा था—"देवकी, तुम आठ लालो को जन्म दोगी ।" तदनुसार एक लाल होना शेष था ही । अब आगे किस प्रकार कृष्ण महाराज तेला की तपस्या करते है और हरिणगमेशी देव का स्मरण करते है, शास्त्र मे आगे क्या विषय आता है, समय के साथ ही ज्ञात होगा । किन्तु यह स्मरण रहे कि पर्युषण पर्व के इन दिनो मे अन्तकृत दशांग सूत्र मे आगत महा-पुरुषों की जीवन घटना से आप कुछ शिक्षा ग्रहण करें ।

यद्यपि ये घटनाए हमे प्रतिवर्ष श्रवण करने को मिलती है किन्तु इनमे जीवन निर्माण के अनेक पहलू समाए हुए है । आप इन्हे विभिन्न दृष्टिकोणो से ग्रहण कर सकते है । मूल विषय इतना ही है कि इन पर्व प्रसगो पर आप अधिक से अधिक आत्मानुशासन-आत्म सयम की ओर गतिशील बने । इसी मगल भावना के साथ आज के विषय को यही विराम देना चाह रहा हूँ ।



३

मानवता का सन्देश वाहक पर्युषण

[पर्युषण पर्व–तृतीय दिवस]

प्रार्थना

आए पर्व राज पर्युषण, आत्म ज्योति सभी जगाएँ।
जिनवाणी का अमीरस पीकर, अन्तर प्यास बुझाएँ।
पाप ताप सन्ताप मिटाकर, अनुपम आनन्द पाएँ ।।आए।।१।।
(पूरा गीत परिशिष्ट न. १/४ मे देखे)

पर्युषण पर्व का दृष्टिकोण :

आज गीतिका की पक्तियो का पुनरावर्तन हुआ है। चूकि हमारी समस्त साधना का मूल उद्देश्य एक ही है अत उसी संकेत को पुन· पुनः प्रेरणा की दृष्टि से दोहराना अनुचित नही माना जाता है। गीतिका की पक्तियो मे मूल लक्ष्य आत्म-ज्योति की ओर ही सकेत किया गया है। आत्म-ज्योति के साक्षात्कार का दृष्टिकोण प्रस्तुत करने को ही पर्व पर्युषण आये है। दो दिन व्यतीत हो चुके है—आज तृतीय दिवस है। हम जरा चिन्तन करे कि इन दिनो मे हमने आत्म-साधना के क्षेत्र मे कितनी प्रगति की है।

वैसे तो जीवन का प्रतिपल धर्म साधना के लिये समर्पित होना चाहिये। प्रतिक्षण आत्म-साधना की गहराई मे गति होनी चाहिये, किन्तु गृहस्थ जीवन की व्यस्तताओ के कारण ऐसा सम्भव न हो तो पर्व के इन आठ दिनों मे तो हमारी चेतना अन्तर्मुखी बने। ये पर्व इसी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते है।

अनादि काल से यह आत्मा स्वभाव से भटक कर परभाव मे रमण कर रही है। आत्म-स्वरूप से अलग हटकर पर रूप मे उलझ रही है। ये पर्व आध्यात्मिक पर्व है और ये इस चैतन्य को पुन अपने मूल स्वरूप मे प्रतिष्ठित करने का सन्देश दे रहे है। विगत दो दिनो से इसी आत्मस्वरूप के दर्शन की चर्चा चल रही है।

लक्ष्यहीन साधना :

अधिकांश धार्मिक व्यक्ति यह जानते है कि इस आत्मा मे अनन्त प्रकाश

भरा है और वे चाहते है कि हमे उस आत्म ज्योति के दर्शन हो। हम अनन्त शान्ति का वरण करें। किन्तु हममे से वहुत कम व्यक्ति यह जानते है कि हम साधना क्यो कर रहे है, क्या उद्देश्य है—हमारी साधना का ? आत्मा क्या है—उसका स्वरूप कैसा है तथा उसका साक्षात्कार कैसे हो सकता है ? आदि विपयो मे बहुत कम व्यक्तियो को जानकारी है, और इस जानकारी के अभाव मे की जाने वाली साधना उद्देश्यहीन साधना है—जो हमे किसी भी लक्ष्य तक नही पहुँचा सकती।

कोई भी विद्यार्थी कॉलेज मे प्रवेश के पूर्व सब्जेक्ट (विपय) का चयन करता है। साइन्स, कॉमर्स अथवा आर्ट्स, जो भी विपय उसे लेना हो, चयन करके ही वह यथोचित सेक्शन मे प्रवेश प्राप्त कर सकता है। एक निश्चित एम (उद्देश्य) के स्थिर हो जाने के पश्चात् उसका विविध विपयगामी भटकाव रुक जाता है। विषय की स्थिरता के पश्चात् फिर उस विद्यार्थी को किसी की प्रेरणा की भी आवश्यकता कम रहती है। वह स्वय उद्देश्य मे सफलता प्राप्त करने को प्रयत्नशील बना रहता है।

ठीक यही स्थिति जीवन मे साधनागत उद्देश्य की है। जव तक आत्म-साधना के उद्देश्य का बोध न हो जाय कि साधना क्यो की जा रही है, साधना का यथेष्ट लाभ प्राप्त नही हो सकता है। साधना का उद्देश्य निश्चित हो जाये और समस्त चित्त वृत्तियाँ साधना के प्रति समर्पित हो जाये तो साधना का सहज आनन्द उपलब्ध हो सकता है। फिर पुन पुन इस प्रेरणा की भी आवश्यकता नही रहेगी कि आप सामायिक, पौषध, उपवास अथवा दयाव्रत आदि करे।

लक्ष्यहीन दौड़ :

आज हमारी साधना मे सवसे वडी कमी है कि हमारा कोई निश्चित उद्देश्य स्थिर नही हो पा रहा है। साधना के नाम से वर्षो पर वर्ष व्यतीत हो जाते है किन्तु साधना मे गति नही हो पाती है। आज अधिकाश व्यक्तियो की साधना या तो उस व्यक्ति के समान है जो सडक पर दौडा जा रहा है। तेज रफ्तार से भाग रहा है किन्तु उसे पता नही है कि उसे कहाँ जाना है। या फिर उस विद्यार्थी के समान है, जो या तो वर्षो तक अनुत्तीर्ण होता जाता है या प्रति वर्ष विषय वदल-वदल कर उसी कक्षा मे बैठा रहता है।

कल्पना करिये, एक विद्यार्थी ने प्रथम वर्ष साइन्स ली, फिर दूसरे वर्ष कॉमर्स ली और तीसरे वर्ष आर्ट्स ली। अव वह विद्यार्थी कॉलेज के द्वितीय वर्ष मे प्रवेश कैसे कर सकता है ? साधना की भी आज प्राय यही स्थिति वन रही है—विना उद्देश्य की साधना हमें आगे गति-प्रगति नही दे सकती है। और यही कारण है कि साधना करते-करते वर्षो व्यतीत हो जाने पर भी उसमे रस नही

आता—राग-द्वेष कषाय मन्द नही पडते, हम जहाँ वर्षो पूर्व थे वही के वही बने रहते है।

कल्पना करिये, एक विद्यार्थी तीसरी कक्षा मे चार-पाँच या छः वर्ष तक फेल (अनुत्तीर्ण) होता रहे तो आप उसे क्या कहेगे ? यही तो कि वह बुद्धू है—उसमे दिमाग नही है। किन्तु जरा इस बात को स्वय पर लेकर विचार करे—आप साधना की कौनसी कक्षा मे बैठ है ? कभी आपने इस विषय मे विचार किया कि आप कौनसी कक्षा मे है ? वह विद्यार्थी यह तो जानता है कि वह चार वर्ष से चौथी कक्षा मे पढ रहा है। किन्तु आप मे से बहुत सो को यह भी पता नही है कि वे आध्यात्मिक साधना की कौन सी कक्षा मे बैठे है ? ऐसी स्थिति मे उस विद्यार्थी को बुद्धू कहे या किसे ? प्रभु महावीर ने आत्मा के क्रमिक विकास को चौदह कक्षाओ मे विभक्त किया है, जिन्हे हम चौदह गुण-स्थान कहते है। उनमे श्रावक की कौन सी कक्षा है ? "पाँचवी"। इस रूप में आप सभी पाँचवी कक्षा के विद्यार्थी है। किन्तु विचार करिये, कितने वर्षो से इस एक ही कक्षा मे बैठे है ? क्या कभी यह विचार उठा कि अब पाँचवी से ऊपर उठकर छठवी कक्षा मे चले जाएँ ? यदि यह भावना ४०-५० या ६० वर्षो मे भी नही बनती है तो यह कैसे माना जाये कि आपकी साधना निष्ठा एव अभिरुचि के साथ हो रही है ?

अन्तरंग अभिरुचि :

साधना के लिये प्रथम आवश्यकता है कि उसके प्रति अन्तरंग अभिरुचि का जागरण हो। बिना किसी बाहरी प्रेरणा के स्वतः ये भाव उठे कि हमें साधना करना है—सामायिक, दया, पौषध आदि करना है। जो साधना स्वय की अभिरुचि के आधार पर होगी उसमे स्वत आनन्द आएगा। कल्पना करिये—कोई विद्यार्थी चाहता है कि मुझे बी ए. करना है, मुझे कला मे प्रवीण होना है और पिता उसे जबरन वी. एस-सी. (विज्ञान) में प्रवेश दिलाता है, तो उस विद्यार्थी को सफलता मिले, यह निश्चित नही। या तो उस विद्यार्थी को अपनी रुचि मे परिवर्तन करना पडेगा या पिता को अपने विचार बदलने पडेगे तभी उसे अपने लक्ष्य मे सफलता प्राप्त हो सकती है। ठीक इसी प्रकार धर्म साधना के प्रति आपकी स्वत रुचि जागृत हो। मुनिराजो को पुन पुनः प्रेरणा नही द नी पडे कि आप सामायिक करिये, पौषध करिये आदि।

आप जानते है, अच्छी नस्लवाला कम्बोजी घोड़ा चाबुक की मार से नही, केवल इशारे से चलता है। हम इन्सान होकर भी इशारे मे न समझे और हमे वार-बार प्रेरणा देनी पडे तो हमे मानना होगा कि अभी हममे धर्म साधना की भूमिका के रूप मे मानवीय गुणो का विकास भी नही हुआ है। हमारा मन अभी अडियल घोडे के समान वना हुआ है, जिसे बार-बार चाबुक की मार के समान

प्रेरणा देनी पडती है। और ऐसी स्थिति मे हमारे लिये धर्म साधना के पूर्व मानव बनने की आवश्यकता है। आज आम व्यक्ति का जीवन क्रम जिस रूप मे चल रहा है, उस स्थिति मे यह कहा जा सकता है कि आज पशुता अधिक, मानवता कम है। आज का इन्सान प्राय शरीर से इन्सान है, मन से नही।

भगवान् करे तुम मनुष्य बनो :

एक छोटा-सा रूपक याद आ रहा है। एक महात्मा थे। उनको कोई प्रणाम करता तो वे आशीर्वाद के रूप मे कहते "भगवान् करे तुम मनुष्य बनो" प्रत्येक व्यक्ति के प्रति उनका यही आशीर्वचन रहता। एक वार एक युवक अपने किसी मित्र के साथ महात्मा के दर्शनार्थ पहुँच गया। उसने वन्दन किया तो महात्मा ने अपने स्वभावानुसार आशीर्वाद दिया "भगवान् करे तुम मनुष्य बनो।" यह आशीर्वाद युवक को कुछ अटपटा लगा। वह तत्काल तो कुछ नही बोला किन्तु बाहर आकर उसने मित्र को भला-बुरा कहा "तुमने भी अच्छे गुरु बना रखे है—जिन्हे आशीर्वाद के दो शब्द भी नही आते। भला यह भी कोई आशीर्वाद है कि "भगवान् करे तुम मनुष्य वनो" भला, मनुष्य तो हम है ही। यदि आशीर्वाद ही देना हो तो दे—"भगवान् करे तुम धनवान् वनो, विद्वान् बनो, पुत्रवान बनो या लक्ष्मीवान वनो" मित्र ने कहा दोस्त, ये महात्मा तो सदा यही आशीर्वाद दिया करते है। तुम्हे यदि अच्छा नही लगा तो उसी समय पूछ लेते। खैर, आज नही तो कल फिर आएँगे, कल पूछ लेना। और दूसरे ही दिन वह युवक महात्मा से वाक्युद्ध करने की जोर-शोर से तैयारी करके गया।

महात्मा ने ज्योही अपना पुराना वाक्य दुहराया कि युवक उछल पडा—"महात्माजी !" यह भी कोई आशीर्वाद है—"भगवान् करे तुम मनुष्य बनो" अरे मनुष्य तो हम है ही। क्या हम आपको पशु दिखाई दे रहे है जो आप मनुष्य बनने का आशीर्वाद दे रहे है ?"

महात्मा मुस्कराते हुए उस युवक की वात सुनते रहे। फिर बडे गम्भीर किन्तु मधुर शब्दो मे कहने लगे—"हा भाई ! तुम तन से तो मनुष्य हो ही, किन्तु मै चाहता हूँ कि मन से भी मनुष्य बन जाओ... ...." तुम्हारा तन तो मनुष्य का है, किन्तु मन मनुष्य का नही लगता है। तुम रात-दिन चीटियो की तरह धन इकट्ठा करने के लिये दौडते रहते हो। कुछ धन इकट्ठा हो गया तो सर्प की तरह फन फैला कर उस पर बैठ जाते हो। कोई छोटी-मोटी कुर्सी (सत्ता) मिल जाती है तो वकरे की तरह मै-मै करने लग जाते हो। जरा सा भय का दृश्य आते ही भीगी विल्ली वन जाते हो। सामान्य सी बात पर कुत्ते की तरह भौ-भौ करने लग जाते हो....... वताओ वन्धु, तुम्हे क्या कहा जाये ? चीटी, साप, वकरी, कुत्ता या विल्ली ?

युवक महात्मा की बात सुनकर शर्मिन्दा हो गया। उसने समझ लिया कि वास्तव मे हम तन से ही मनुष्य है, हमारी मनोवृत्तियाँ तो अधिकाशतया पशुओ से ही मेल खाती है।

धार्मिकता की भूमिका मानवता :

धार्मिक बनने के लिये हमें पहले मानव बनना होगा। मानवता आध्यात्मिक जीवन की आधार भूमि है। कोई व्यक्ति नीव एव प्रथम मंजिल न बनाकर पहले दूसरी मंजिल बनाने के लिये आकाश मे ईट-सीमेन्ट एव पत्थर फैकने लगे तो क्या दूसरी मजिल बन जाएगी ? नही, वे सभी पदार्थ ईट, सीमेन्ट आदि उसी के सिर पर गिरेगे। ठीक उसी प्रकार मानवता की नीव बने बिना सम्यग्दृष्टि की पहली मजिल एव श्रावकत्व-साधुत्व की अगली मजिले नही बन सकती है।

आज के आम व्यक्ति का प्रयास प्राय: यही चल रहा है कि वह बिना नीव के बहुत बडी इमारत खडी कर देना चाहता है। मानवता के दिव्य गुण करुणा-दया-स्नेह-सौजन्य के अभाव मे वह धार्मिक बन जाना चाहता है।

धार्मिक बनने के पूर्व हमारे भीतर मानवीय दिव्य वृत्तियो का प्रादुर्भाव हो। हम सही अर्थो मे मन से मानव बने। दु:खी को देखकर हमारे हृदय मे करुणा का स्रोत उमड पडे—हमारा अन्तरग पसीज उठे। तो निश्चित उस नीव पर धर्म का भव्य भवन खड़ा हो सकेगा।

मानवतावादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने वाला एक लघु आख्यान स्मृति पटल पर उभर रहा है—एक सम्राट् एक दिन शिकार के लिये निकला। निकट जगल मे उलझ गया। साथी लोग पीछे छूट गए। वह एकाकी भ्रमण करता हुआ सन्ध्या समय एक साधनारत महात्मा की कुटिया पर पहुँच गया। महात्मा को वन्दन कर पूछने लगा—"भन्ते, आप कौनसी साधना कर रहे है ? कितना समय हुआ है आपको साधना करते हुए और क्या उपलब्धि हुई है ?"

चिमटे पर फूल :

महात्मा ने कहा "बेटा ! मुझे साधना करते हुए बहुत वर्ष बीत गए है। मेरे गुरु ने मुझे एक लकड़ी का सूखा डण्डा दिया और कहा कि जब इस पर फूल महकने लगे तो समझना तुम्हारी साधना सफल हो गई। बेटा, अभी तो उस सूखे टुकडे पर एक कोपल फूटी है......" कहते हुए महात्मा ने कपडा हटाकर वह कोपल निकल आया डण्डा बडे गर्व के साथ बताया। सम्राट् सूखी लकड़ी पर कोंपल देखकर आश्चर्य चकित रह गया। साधना के प्रतिफल के प्रत्यक्ष प्रमाण देख कर उसके हृदय मे श्रद्धा के भाव उमड आए। उसके कठोर

हृदय मे कोमलता के भाव उठने लगे। हठात् उसके विचारो मे एक परिवर्तन हुआ और उसने महात्मा से निवेदन किया "महात्मन ! यह साधना तो मैं भी करूंगा। आप मुझे भी मन्त्र दीक्षा के साथ ऐसा ही कोई प्रयोग देने की कृपा करें।"

महात्मा ने कहा "बेटा ! मेरी साधना में व्यवधान मत डालो, यह तुम्हारे वश का रोग नही है" लेकिन सम्राट् आग्रह पर अड़ा रहा तो महात्मा ने अपना लोहे का चिमटा उठाकर सम्राट् को देते हुए कहा "लो यह चिमटा ले जाओ और इस मत्र का जप करना, जब इस चिमटे पर पुष्प महकने लगे तो समझना की तुम्हारी साधना फलित हुई है।"

गहरी श्रद्धा के साथ उस सम्राट् ने वह चिमटा लिया और कुटिया से कुछ दूर एक वृक्ष तले चिमटे पर अपना उत्तरीय ढककर साधना मुद्रा मे मत्र जाप करने बैठ गया।

सयोग से सूर्यास्त के कुछ समय बाद एक व्यापारी अपने परिवार के सदस्यों के साथ मार्ग भूल जाने से उसी जगल मे निकल आया। वह कुछ प्रकाश देखकर आशा भरी दृष्टि से कुटिया के द्वार पर जाकर महात्मा से निवेदन करने लगा—"ऋषिवर ! मै मार्ग भूल गया हूँ, मेरे बाल-बच्चे साथ मे है, इस विकट जगल मे हमे बडा खतरा है। आप कृपा करके हमें कोई निकट बस्ती-ग्राम या नगर का मार्ग बता दे—हम आपका बडा उपकार मानेगे।"

महात्मा ने कुछ आदेश के साथ कहा—"चलो–जाओ यहाँ से, मेरी साधना मे बाधा मत डालो, यहाँ सैकडो लोग आते है....हम किस-किस को रास्ता बताते फिरें।"

व्यापारी पुन. नम्रतापूर्वक निवेदन करने लगा—गिड-गिडाने लगा—"भगवन् ! दया करे, मेरे बच्चे बेमौत मारे जाएँगे...., कुछ समय लगेगा आप फिर साधना मे विराज जाइये....हमे थोड़ा मार्ग भर बता दे....हम आपका बहुत उपकार मानेगे....।"

....किन्तु महात्मा के मन मे करुणा के स्थान पर क्रोधावेश का भाव उमड आया। वे भडक उठे और बडे रोष भरे शब्दों मे चिल्लाने लगे—"चल निकल यहाँ से, नही तो अभी भस्म कर दूँगा—तुम्हारे पूरे परिवार को।"

विचारा व्यापारी भय से कापता हुआ वहाँ से निराश हो चल दिया। कुछ ही दूर जाने पर उसे वृक्ष के नीचे वह सम्राट् वैठा दिखाई दिया, जो तन्मयतापूर्वक मन्त्र जाप कर रहा था। व्यापारी वहाँ खडा हो गया और वडे

करुणापूर्ण विनम्र स्वरों मे निवेदन करने लगा—"महात्मन् ! मुझे क्षमा करे, मै आपकी साधना मे व्यवधान डाल रहा हूँ—मै परिवार सहित इस जगल में भटक गया हूँ........रात्रि का समय है—आप कृपा करके हमे थोड़ा किसी निकट की बस्ती का मार्ग बता दें....। आपकी बड़ी दया होगी....हम आपका उपकार कभी नही भूलेगे....।"

सम्राट् के हृदय में करुणा का स्रोत उमड पडा, वह सोचने लगा—यह साधना तो अभी लम्बी चलेगी ... .. फिर करते रहेगे........अभी बिचारा यह परिवार सकट में पड़ा है, मेरा कर्तव्य है कि पहले इस परिवार को संकट से बचाया जाय । और वह सम्राट् उस चिमटे को वही छोडकर उठ खडा हुआ और व्यापारी से कहने लगा—"चलिये, मै आपको मार्ग बता देता हूँ....वैसे मै भी इस वन से अपरिचित हूँ किन्तु मैने अभी कुछ समय पूर्व कुछ राहगीरो को इस मार्ग से जाते देखा है ...।" और सम्राट् ने उस परिवार को वह मार्ग बता दिया । वह परिवार हजारो दुआएँ देता हुआ चला गया । सम्राट् पुन· लौटकर उसी श्रद्धा भाव से अपनी साधना मे लीन हो गया और रात्रि भर लीन रहा ।

प्रात काल विचार हुआ, जरा देखूँ तो फूल निकला कि नही ! फिर चिन्तन किया--उन महात्माजी को तो इतने वर्ष हो गए है और मै एक रात्रि मे ही फूल निकल आने की कामना कर रहा हूँ । किन्तु फिर विचार आया—देख लेने मे क्या हर्ज है और बड़े उल्लास भाव से उसने कपडा उठाकर देखा तो उसके आश्चर्य एव हर्ष का पार नही था । उस लोहे के चिमटे पर कोपल और पत्तियाँ ही नही एक मनभावन सुन्दर सुवासित पुष्प भी महक रहा था । वह बडे हर्ष के साथ उस चिमटे को लेकर महात्मा के पास गया । प्रणाम करके जिज्ञासा व्यक्त की—"महात्मन् ! क्या आपके उस डण्डे पर पुष्प निकल आया है ?"

"नही बेटा, तुम अपना काम करो, मुझे परेशान मत करो....फूल उगाने के लिये लम्बी साधना की आवश्यकता है ।" सम्राट् ने अपना चिमटा निकाल कर दिखाते हुए कहा—"भगवन् ! आपकी कृपा से मेरी तो साधना एक रात्रि मे ही सफल हो गई । यह देखिये, इस पर फूल महक रहा है ।"

महात्मा चिमटे पर पुष्प देखकर अवाक् रह गये, उनके आश्चर्य का ठिकाना नही था साथ ही दु ख का भी । उन्हे विचार आने लगा—मेरी वर्षों की साधना से फूल नही निकला और इसकी एक रात्रि की साधना ही फलवती हो गई ।

साधना के पूर्व मानवता :

सम्राट् (राजर्षि) महात्मा के गमगीन चेहरे को देखकर कहने लगा—"ऋषिवर ! आपकी साधना मे कोई कमी या त्रुटि तो नही रही है ?"

महात्मा ने कहा—"नही वेटा ! मै वडी लीनता से जप कर रहा हूँ।" आज तो एक व्यक्ति व्यवधान उपस्थित करने आया था पर मै अपनी साधना से नही उठा, उसे डाट कर भगा दिया। किन्तु आज ही देख रहा हूँ कि मेरी पहले वाली कोपल भी मुरझा गई है।"

सम्राट् ने कहा—"गुरुवर ! वही परिवार मेरे पास भी आया था, मैंने तो उन्हे बड़े प्रेम से मार्ग बता दिया।"

महात्मा ने एकदम चौकते हुए कहा—"तव तो वह कोई देव पुरुष होगा जो मेरे मानवीय गुणो की परीक्षा लेने आया हो। किन्तु मैं उस परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गया। बेटा, तू धन्य है। तेरी साधना एक रात्रि मे ही फल ले आई। वास्तव मे साधना के पूर्व उसकी भूमिका रूप मानवता की आवश्यकता है।"

बन्धुओ ! इस आख्यान के माध्यम से मैं आपको यह कहना चाह रहा हूँ कि साधना के पूर्व हमारे मन मे दया-करुणा, सेवा-सौजन्य आदि सद्गुणो का अवतरण हो। जैन तत्त्व दर्शन मे सम्यग्दृष्टि के लक्षणो मे एक लक्षण बताया है—अनुकम्पा ! अर्थात् साधना का अधिकारी वह व्यक्ति हो सकता है जिसके हृदय में करुणा हो—दुःखी व्यक्ति को देखकर जिसका हृदय अनुकम्पित हो उठे।

मानवता का सन्देशवाहक पर्युषण :

हम पर्युषण पर्व की आराधना कर रहे है। किन्तु जरा चिन्तन करे—हमारी भीतर करुणाभाव-करुणभाव जागृत हुए है या नही ? पडौसी अथवा सगे भाई के प्रति भी वात्सल्य भाव उमडा या नही ? हमारे अन्तरग मे शम-सवेग की भावना है या नही ? यदि हमारे अन्तर मे ये सब गुण उदित नही हुए है तो हम अपने आपको महावीर के उपासक कैसे कह सकते है ! महावीर, राम एव कृष्ण के आदर्श हमारे सामने है किन्तु हम उनका अनुकरण करे तव तो।

इन पर्व दिनो मे अन्तकृतदशाग सूत्र के माध्यम से एक-एक ज्वलन्त दीप्तिमन्त आदर्श हमारे समक्ष उपस्थित हो रहे है।

त्रि-खण्डाधिपति श्री कृष्ण का आदर्श व्यक्तित्व आपके समक्ष आ रहा है।

कल बताया गया था कि माता की अन्तरंग इच्छा पूरी करने के लिये वे सब कुछ करने को तत्पर हो जाते है। वे यह जानने के लिये कि अब मेरा छोटा भाई कब होने वाला है, हरिणगमेशी देव की आराधना हेतु पौषधशाला मे जाते है और तेले की उपासना करते है। यद्यपि उनका यह तेला आत्म शुद्धि का उत्प्रेरक नही था—इसमे उनकी सासारिक कामना थी। अतः धर्म क्रिया के रूप मे नहीं माना गया है तथापि धर्म क्रिया की विधि के अनुसार श्रीकृष्ण वह साधना विवेक पूर्वक करते है। वे पौषधशाला में जाकर स्वय अपने हाथ से पौषधशाला का प्रमार्जन करते है और घास का संस्तारक (शय्या) तैयार करते है।

श्रीकृष्ण का पौषध शाला पूंजना :

यहाँ आज के परिवेश में थोडा चिन्तन करे कि क्या श्रीकृष्ण के पास नौकरो की कमी थी जो वे हाथ से पौषधशाला की सफाई करते है? नही, उन्हें नौकरो की कमी नही थी। उनके एक इशारे पर हजारो नौकर हाथ जोडे खडे हो जाते। किन्तु वे जानते थे कि जिस साधना-उपासना पद्धति के लिये मै जा रहा हूँ वह अहिसात्मक साधना है, इसमे पूर्ण विवेक की आवश्यकता है।

आज आप चिन्तन करे—नौकर-नौकरानियाँ उतने विवेक से कार्य नही कर सकते, जितने विवेक से आप लोग करेंगे। आप प्रत्येक कार्य यतना से करेंगे, जीवो की यथाशक्ति रक्षा करेंगे, किन्तु जैनत्व के सस्कारो से शून्य नौकरो में वह यतना का भाव कहाँ होगा?

आज तो जहाँ—तहाँ धर्म स्थानो मे सफाई के लिये नौकर देखे जाते है। क्योकि आप सेठ लोग है, आपको झाडू बुहारी जैसा घटिया—छोटा कार्य क्यों शोभा देगा? किन्तु विचार करिये। श्रीकृष्ण अधिक सम्पन्न थे कि आप??? उन्हे हाथ से सफाई करने मे सकोच नही आया। वे धर्म साधना जैसी क्रिया मे स्वतन्त्र स्वावलम्बी रहना चाहते थे—परतन्त्रता से धर्म क्रिया जैसी साधना नही हो सकती है। वैष्णव ग्रन्थो में उल्लेख मिलता है कि राजसूय यज्ञ मे श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से पूछा कि मुझे कौन-सा कार्य करना है? तो युधिष्ठिर ने कहा—"आप ही अपने योग्य कार्य का चयन कर लीजिये" और श्रीकृष्ण ने सब लोगो की जूठी पतले उठाने का कार्य अपने जिम्मे लिया। क्या इससे उनकी प्रतिष्ठा कम हो गई? आज सेठ साहब दरी के कौने के पास खडे है जो थोडा मुडा हुआ है या उस पर सल पड रहे—नौकर दूसरी ओर कार्यरत है तो भी सेठ साहब नौकर को आवाज देंगे—"यह दरी ठीक करो" जबकि उनके जरा से झुकने मात्र से दरी ठीक हो सकती थी।

बन्धुओ! कृष्ण पौषघशाला मे जाने पर अपने त्रिखण्ड को भूल जाते है। वे सोचते है—यहाँ मैं एक साधक हूँ—उपासक हूँ। धर्म साधना मे हर व्यक्ति

समान है। वहाँ अपने पराये या नौकर-स्वामी भाव नही आना चाहिये। नौकर सामायिक मे है और सेठ खुला है तो उस समय शास्त्रीय दृष्टि से नौकर का स्थान ऊँचा है।

तेला बनाम टेलीपेथी :

श्रीकृष्ण पौषधशाला का प्रमार्जन करके तेले की आराधना मे बैठ जाते है। वे हरिणगमेशी देव को बेतार का तार, जिसे हम आज की भाषा में टेलीपेथी प्रक्रिया कहते है, पहुँचाते है। उनकी उपासना मे मन की इतनी एकाग्रता रहती है कि देव का सिहासन हिल उठता है। उसने अवधि ज्ञान से देखा और तुरन्त अपनी दिव्य शक्ति से श्रीकृष्ण के पास उपस्थित हुआ। उसने निवेदन किया कि फरमाइये, मेरे लिये क्या आदेश है ?

श्रीकृष्ण ने कहा—"मेरी माताजी की कामना है कि वे एक सन्तान का और पालन करे अर्थात् मुझे एक छोटे भाई की आवश्यकता है। आप इसे पूरा करे।"

देव ने कहा—"बिना कर्म संयोग के ससार मे कोई किसी को सन्तान नही दे सकता है। अतः मै आपकी माताजी को पुत्र दे सकूँ यह शक्ति मुझमें नही है। पर इतना अपने अवधि ज्ञान से अवश्य बता सकता हूँ कि अब निकट भविष्य मे आपको छोटे भाई की प्राप्ति होने वाली है, किन्तु वे यौवन वय को प्राप्त होते ही दीक्षित हो जाएँगे।"

श्रीकृष्ण सन्तुष्ट हो गए और देव चला गया। आज हमे यह विचार आता है कि उस समय एक तेले से देव आ गया, किन्तु आज इतनी लम्बी तपस्या पर भी देव क्यो नही आता है ? इसका सीधा समाधान इतना ही है कि क्या आज आपकी कृष्ण जैसी एकाग्रता धर्म साधना मे बनती है ? एक सामायिक जितनी अवधि मे भी आप मन को स्थिर रख पाते है ? टेलीफोन सुनने मे जितनी एकाग्रता बनती है क्या उसका शताश भी साधना मे बनती है ? आप जरा चिन्तन करे। टेलीफोन की जब तक लाइन नही मिलती, बात नही हो सकती, तो जब तक एकाग्रता पूर्वक विचारो का सम्प्रेषण न हो, देव सिहासन कैसे प्रकंपित हो सकता है ?

आत्म जागरण एक उपदेश में :

श्रीकृष्ण ने महलो मे जाकर माता को सूचित किया और अपने राज्य व्यवस्था के कार्य मे लग गए। इधर महारानी देवकी ने यथासमय सिह का स्वप्न देखा और उचित समय पर पुत्र रत्न को जन्म दिया। शिशु के शरीर के

अग गज-हाथी के तालुए के समान कोमल थे, अत उसका गुण निष्पन्न नाम गज-सुकमाल रखा गया। जन्मोत्सव एव मातृ सस्कारो के सम्बन्ध में तो अन्तगड सूत्र के माध्यम से अभी आप सुन ही गए है। घटना क्रम के विस्तार मे नही जाकर हम उसके मूल का स्पर्श करे। गजसुकमाल कुमार उन्नत संस्कारो से सम्पन्न हो १६ वर्ष की उम्र मे पहुँचते है। उस समय द्वारिका नगरी मे अरहा अरिष्टनेमि प्रभु का पदार्पण होता है। श्रीकृष्ण चतुरगिणी सेना सजा कर प्रभु अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ जाने की तैयारी करते है। राजकुमार गजसुकमाल ने देखा तो श्रीकृष्ण से पूछा—"भाई साहब, आप कहा पधार रहे है ?"

श्रीकृष्ण ने बडे मधुर शब्दो मे कहा—"भैय्या, नगरी के बाहर उद्यान मे प्रभु अरिष्टनेमि पधारे है, हम उनके दर्शन हेतु जा रहे है।"

गजसुकमाल ने भावपूर्ण शब्दो मे कहा—"क्या मै भी चल सकता हूँ—प्रभु के दर्शन करने ?"

यद्यपि श्रीकृष्ण को देव की भविष्यवाणी से यह ज्ञात था कि गजसुकमाल यौवन वय मे दीक्षा ले लेगा, अतः इसे अभी प्रभु के सम्पर्क मे नही आने दिया जाय। किन्तु उन्होने सहज भाव से कहा—"अवश्य चलो।" वे यह जानते थे कि जिसकी आत्मा जागृत होगी उसे कोई शक्ति रोक नही सकती। भवितव्यता को टाला नही जा सकता है और फिर यदि मेरा लघुभ्राता आत्म साधना जैसे महान् पथ पर आगे बढता है तो मेरे लिये यह गौरव एव हर्ष का विषय है। इसी दृष्टिकोण से उन्होने यह जानते हुए भी कि यह निकट भविष्य में दीक्षा लेगा, उसे कहा—"चलो भैया—अवश्य चलो—प्रभु दर्शन को।"

आज आप लोगो को यह ज्ञात हो जाए कि हमारे बच्चे की कुछ साधना करने की भावना बन रही है तो आप उसे सन्त समागम से रोकेंगे तो नही ? उसकी टांग पकड कर नीचे तो नही खीचेगे ?

श्रीकृष्ण अपने साथ ही हाथी पर गजसुकमाल को बिठा लेते है और प्रभु के पावन दर्शन हेतु प्रस्थान कर जाते है। मार्ग में चलते हुए उनकी दृष्टि एक सुकोमल रूपवती एव लावण्य सम्पन्न कन्या पर पडी। उसे देखते ही श्रीकृष्ण को लगा—यह बालिका मेरे लघु भ्राता गजसुकमाल के लिये उपयुक्त है, और उन्होने अपने निकटवर्ती कौटुम्बिक पुरुष को सकेत किया कि इस कन्या की इसके माता-पिता से गजसुकमाल के लिये याचना करो एव इसे उन्नत सस्कार देने हेतु कुवारे अन्त पुर मे पहुँचा दो। उस समय जातीयता को नही गुणो को महत्त्व दिया जाता था। आज तो न गुण और जाती को, महत्त्व पैसो को दिया जाता है। कौटुम्बिक पुरुष ने आज्ञाराधन का कार्य किया। सौमिल

ब्राह्मण की उस सोमा नामक कन्या की याचना कर उसे अन्त पुर मे पहुँचा दिया । और श्रीकृष्ण प्रभु के समवसरण मे पहुँचे ।

प्रभु की अमृतदेशना मानव जीवन की वहुमूल्यता एव साथ ही क्षण-भंगुरता पर चल रही थी । उसके उपदेश मे गरीब-अमीर का कोई भेद नही था—"जहा पुण्णस्सकत्थई तहा तुच्छास्स कत्थई" के आगम वाक्य के अनुसार उनका उपदेश समवर्षी मेघ के समान था ।

मनुष्य जीवन की दुर्लभता का धारावाहिक उपदेश हजारो श्रोताओं ने सुना । किन्तु गजसुकमाल की आत्मा को वह उपदेश छू गया । उपदेश आप सभी सुनते है, किन्तु किसी-किसी निकट भवी पुण्यशाली हलुकर्मी आत्मा को ही वह उपदेश लगता है । उपदेश श्रवण कर गजसुकमाल की आत्मा आनन्द विभोर हो उठी । उसका हृदय गद्‌गद् हुआ जा रहा था—उसके आन्तरिक हर्ष का कोई पार नही था । वह दूर खडा-खडा निर्निमेप भाव से प्रभु के दर्शन कर रहा था । वह अपलक प्रभु के स्वरूप को निहारने में खोया हुआ था कि श्रीकृष्ण ने कहा—"भैया चलो, अब बहुत विलम्व हो गया है, अधिकाश लोग जा चुके है ।"

गजसुकमाल ने निवेदन किया—"भाई साहब, मुझे अभी प्रभु दर्शन से तृप्ति नही हुई है । मै प्रभु के निकट से दर्शन करना चाहता हूँ ।"

कृष्ण मन-ही-मन समझ गए कि भाई हाथ से गया । किन्तु उन्होने उसे रोका नही । हाथ खीच कर घर नही ले आए, उन्होने कहा—"जाओ, तुम प्रभु की पर्युपासना मे चले जाओ । प्रभु के निकट जाकर वन्दन करो—दर्शन करो ।"

प्रभु से संवाद :

गजसुकमाल प्रभु के समीप जाते है । प्रभु से निवेदन करते है—"भगवन् ! मैने आपका उपदेश सुना, मुझे वह बडा रुचिकर लगा । मै घर जाकर माता-पिता की आज्ञा लेकर आपके चरणो मे दीक्षित होना चाहता हूँ ।"

प्रभु अरिष्टनेमि ने कहा—"अहासुह देवाणुप्पिया, माप डिबन्ध करेह जैसा तुम्हे सुख हो—अच्छा लगे, वैसा करो, किन्तु अच्छे कार्य मे विलम्व न करो ।"

मां की ममता :

प्रभु के श्रीमुख से पुनः अप्रमत्त भाव का संक्षिप्त उपदेश श्रवण कर

गजसुकमाल राजमहलो मे पहुँचे। मा से निवेदन किया—"मातेश्वरी, आज मैने प्रभु के दर्शन किये।" मा ने कहा —"लाल, तेरे नेत्र पवित्र हो गए।" गजसुकमाल ने पुन. कहा—"मां मैने प्रभु की वाणी सुनी।" मा ने कहा—"बेटा! तेरे कान पवित्र हो गये।" गजसुकमाल—"मा! मैने उस वाणी को हृदय मे धारण किया।" मा ने कहा—"पुत्र! तेरा हृदय पवित्र हो गया। धन्य-धन्य हो गया।" "मा! मै उस वाणी को जीवन में उतार लेना चाहता हूँ अर्थात् मै प्रभु के चरणो मे दीक्षित हो समर्पित हो जाना चाहता हूँ।"

यह अन्तिम वाक्य सुनते ही तो मा की ममता जाग उठी। मातृ-वात्सल्य उमड पडा। वह सहसा यह बोलती हुई अचेत हो गई—"बेटा! यह बात मै नही सुन सकती।"

राजमाता देवकी को अचेत देखकर अनेक नौकर-चाकर दौड पडे। पवन-पखा किया, शीतल जल छिटका। देवकी कुछ सचेत हुई तो अपने समीप खडे लाल को अपलक देखती ही रह गई।. उसने तुरन्त श्रीकृष्ण को बुलवाया। श्रीकृष्ण ने वहाँ आकर देखा तो सब कुछ समझ गए। मन्द-मन्द मुस्कान के साथ उन्होने गजसुकमाल को कहा—"क्यो भैया, मा को क्यो परेशान कर रहे हो?"

गजसुकमाल ने बडे गम्भीर स्वर मे कहा—"आज आपने और मैने प्रभु का उपदेश सुना, मुझे तो उस एक ही उपदेश से ससार से विरक्ति हो गई—मैने ससार की असारता एव जीवन की बहुमूल्यता को समझ लिया है। मै अब सयम साधना मे प्रवेश करना चाहता हूँ।"

श्रीकृष्ण ने कहा—"भैया! तू बहुत सुकोमल है। राज्य महलो मे सुख शय्या पर समय व्यतीत कर रहा है। तलवार की धार पर चलने के समान कठोर सयम की आराधना कैसे कर सकेगा?"

वीर गजसुकमाल :

गजसुकमाल ने श्रीकृष्ण के विचार सुनकर एक गम्भीर गर्जना के साथ कहा—"भाई साहब! यह कायरता की बात कहकर आप मेरा नही मा का अपमान कर रहे है। मा ने मुझे वह दूध पिलाया है, वे सस्कार दिये हैं कि मै कठोर-से-कठोर मार्ग पर पुष्प शय्या के समान गति कर सकता हूँ। आप भी तो राजमहलो के सुख भोगने वाले है। जब कर्म क्षेत्र मे उतर कर युद्ध भूमि पधारते है तब क्या राजमहलो के ऐश्वर्य का स्मरण करते है? जैसे आप राजकीय कर्म क्षेत्र मे उतरते है वैसे ही मै धर्म क्षेत्र मे उतरना चाहता हूँ। मै पूर्व आत्म-विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि मै साधना के कठोर पथ पर वह पराक्रम

दिखाऊँगा जो मा के दूध को दीप्तिमन्त वनाने वाला होगा। मेरी मां ने मुझमे ऐसे ही सस्कार दिये है।"

एक दिन का राज्य और क्षण भर में त्याग :

बन्धुओ! यह घटनाक्रम तो आप कई बार सुन चुके होगे किन्तु इन्हे पुन· पुनः इसलिये दोहराया जाता है कि ये अध्यात्म साधना के ज्वलन्त आदर्श है। ये आदर्श हमे प्रत्येक बार नई प्रेरणा—नया जोश दे जाते है। श्रीकृष्ण एव गजसुकमाल के भ्रातृ-प्रेम का यह महान् आदर्श हमारे सामने है। श्रीकृष्ण अपने लघु भ्राता की विरक्ति भावना को देखकर अन्त मे एक विचार और उनके समक्ष रखते है। वे गजसुकमाल को कहते है—"ठीक है, तुम भले ही दीक्षा ले लेना किन्तु कम-से-कम एक दिन के लिये राज्य सिहासन पर वैठो- एक वार राजा बन जाओ, फिर अपनी इच्छा हो वैसा करना।" इस प्रस्ताव मे श्रीकृष्ण के अनेक उद्देश्य हो सकते है। उन सभी को अभी स्पष्ट करने का समय नही है।

बडे भ्राता की इस बात पर गजसुकमाल मौन हो गए। मौन स्वीकृति लक्षणम् के अनुसार श्रीकृष्ण ने तुरन्त उनके लिये राज्य तिलक की व्यवस्था कर दी। तीन खण्ड के आधिपत्य का अपना राज मुकुट अपने लघु भ्राता के सिर पर रखा और जय विजय की बधाई के साथ स्वय एक प्रजाजन के तुल्य उनके समक्ष खडे होकर सोचने लगे—अब तो तीन खण्ड के स्वामी हो गए है। इस सत्ता सम्पन्नता मे वैराग्य स्थिर रहे तभी तो सच्चा वैराग्य कहा जा सकता है।

किन्तु गजसुकमाल राजकुमार का वैराग्य कच्चा-मसाणिया या खिचडिया वैराग्य नही था। उनका वैराग्य अन्तरग की भूमि से उद्भूत मजीठिया वैराग्य था। उन्होने अपने प्रथम राजकीय फरमान मे यह आदेश निकाला कि भण्डार से तीन लाख सौनैया निकाले जाएँ—दो लाख ओघा–पातरा (पात्र) हेतु कुत्रिकापण को दिये जाये और एक लाख नाई को। साथ ही मेरे दीक्षा महोत्सव की तैयारी की जाय। मुझे यह भौतिक सत्ता लक्ष्मी नही चाहिये, मुझे तो अतिशीघ्र मुक्ति लक्ष्मी का वरण करना है। आज हम देखते है कि अच्छे-अच्छे ख्याति प्राप्त व्यक्ति कुर्सी के पीछे क्या-क्या नही कर गुजरते है। और इधर देखिये इस महान् आत्मा किशोर को जो तीन खण्ड के आधिपत्य को तृणवत ठोकर मारकर आत्म लक्ष्मी के वरण हेतु कटिवद्ध हो रहा है।

गजसुकमाल का यह आदेश राजकीय आदेश था। इस आदेश को सुनकर श्रीकृष्ण सहज समझ गये कि अव यह महान् आत्मा ससार के वन्धन मे वन्धने वाली नही है और उन्होने माता देवकी को समझा कर गजसुकमाल की दीक्षा की तैयारी की। भण्डार से तीन लाख सौनैया निकाले गए और उत्साह के साथ दीक्षा महोत्सव का आयोजन किया गया।

यहाँ यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि ओघापात्रा और नाई के लिये तीन लाख स्वर्ण मुद्राओ की क्या आवश्यकता थी ? तो इसका समाधान इतना ही है कि बडे-बडे राजा महाराजाओ की दीक्षा के समय उन लोगो की आजीविका की पूर्ति की जाती थी । अन्य दीक्षाओ के समय उन्हे अधिक मिले-न-मिले तो भी वे सन्तुष्ट रहते और प्रसन्न भाव से सेवा किया करते ।

लाल का समर्पण भिक्षा रूप में :

एक भव्य महोत्सव पूर्ण अभिनिष्क्रमण यात्रा के साथ श्रीकृष्ण, राजमाता देवकी एव अन्य सभी पारिवारिक व नगरजन प्रभु के चरणो मे पहुँचे । श्रीकृष्ण एव देवकी ने प्रभु अरिष्टनेमि के चरणो मे वन्दन पूर्वक निवेदन किया—"प्रभु, हम आपके चरणो में यह शिष्य रूपी भिक्षा अर्पित करने आए है ।" देवकी ने भरे गले से कहा –"भगवन् ! मै अपने कलेजे के टुकडे को श्रीचरणो मे—आपश्री की पवित्र शरण में समर्पित करने आई हूँ । मेरा यह लाल बहुत सुकोमल है—आप इसे साधना का वह मार्ग वताएँ कि यह इसी जन्म मे अपना उद्धार करले ।" और गजसुकमाल की ओर अभिमुख हो कर देवकी ने कहा—"लाल, अब तुम ऐसी साधना करना कि तुम्हे पुन किसी माता के गर्भ मे न आना पडे । तुम इसी जीवन मे परम मुक्ति शाश्वत शान्ति का वरण कर लेना—जन्म-मरण के क्रम से अपनी आत्मा को सदा-सदा के लिये मुक्त कर लेना ।"

धन्य है उस मां को जो अपने कलेजे की कोर को, नयनो के तारे को निकाल कर प्रभु चरणो मे समर्पित कर रही है । आज ऐसी कितनी माताएँ है जो अपनी सन्तान को प्रसन्नता पूर्वक शासन मे आत्म कल्याण हेतु समर्पित करती है ? प्रत्येक गाव एव नगर के लोग चाहते है कि हमे साधु-साध्वियो के वर्षावास प्राप्त हो, किन्तु जहाँ अपनी सन्तान के साधु वनने का प्रसग आता है उसकी टाग पकड कर नीचे खीचने का प्रयास करते है ।

वन्धुओ ! जरा विचार करे—किसी सौभाग्यशाली परिवार मे ही कोई ऐसी पुण्यात्मा उत्पन्न होती है जो आत्म साधना के मार्ग पर चरण बढा कर आत्म कल्याण के साथ परिवार के गौरव को चार चाद लगाती है । अनन्ता अनन्त पुण्योदय हो तभी सयम के भाव जागृत होते है । उससे भी अधिक पुण्योदय पर वैसे शब्द मुँह से निकलते है और उससे अनन्त गुणी पुण्याई होने पर सयम ग्रहण किया जा सकता है । आप यह अच्छी तरह समझ ले कि जिसका उपादान पक चुका हो, जिसकी आत्मा मे सच्चा वैराग्य जागृत हो चुका है । उसे आप लाख कोशिश करके भी नही रोक सकेगे ।

महामुनि गजसुकमाल :

राजकुमार गजसुकमाल प्रभु के चरणों मे समर्पित होकर अव महामुनि

गजसुकमाल बन गए। दीक्षा ग्रहण करते ही उन्होने प्रभु से निवेदन किया—"भगवन् ! मुझे ऐसा मार्ग बताइये कि मैं अतिशीघ्र अपने चरम एव परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकूँ ।"

सर्वज्ञ सर्व दृष्टा प्रभु अरिष्टनेमि सम्पूर्ण भवितव्यता के ज्ञाता थे। उनसे सृष्टि का कोई भी रहस्य छिपा हुआ नही था। वे यह जानते थे कि इस महामुनि का कल्याण आज ही होने वाला है, अत' उन्होने कहा—"मुनिवर! यदि शीघ्र कल्याण की कामना है तो बारहवी भिक्षु प्रतिमा की आराधना हेतु महाकाल श्मशान मे जाकर ध्यान करो। परिषहो पर विजय प्राप्त करो।"

यद्यपि १२वी भिक्षु प्रतिमा की आराधना २० वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला साधक ही कर सकता है, किन्तु प्रभु ने देखा कि इस लघुवयी महामुनि मे वैसी योग्यता का निर्माण हो चुका है।

महाकाल श्मशान में—क्षमा का अपूर्व आदर्श :

प्रभु की अनुमति प्राप्त करके महामुनि गजसुकमाल महाकाल श्मशान मे जाकर अकम्प ध्यानालीन खडे हो जाते है। इधर सन्ध्या के समय सोमिल ब्राह्मण, जिसकी कन्या को श्रीकृष्ण ने गजसुकमाल के पाणिग्रहण हेतु अन्त:पुर मे पहुँचाया था, उस श्मशान की ओर आ निकला। उसकी दृष्टि ध्यानस्थ महामुनि गजसुकमाल पर पडी और उसका ९९ (नन्यानवे) लाख भव पूर्व का वैर जागृत हो गया। उसने सोचा, यदि इस राजकुमार को दीक्षा ही लेनी थी तो मेरी कन्या की याचना क्यो की ? मेरी लडकी मे ऐसा क्या दोष था जो इसने उसे छोड दिया....। मेरी कन्या का तिरस्कार करने का मजा इसको अभी चखाता हूँ इसी विचार मे तीव्र आक्रोश के साथ वह निकट के तालाब से गीली मिट्टी उठाकर लाता है और महामुनि गजसुकमाल के सिर पर उस मिट्टी की पाल बाध देता है। समीप मे जलती हुई चिता से मिट्टी की ठीकरी मे खैर के अगारे भरकर ले आया और तीव्रतम वैर भाव के साथ महामुनि गजसुकमाल के मुण्डित सिर पर डाल दिये। महामुनि का सिर खिचडी की तरह खद-बद-खद-बद सीजने लगा। सोचिये, कितनी ज्वलन्त वेदना हुई होगी उन महामुनिजी को ? किन्तु उन्होने केवल सिर ही नही मुण्डाया था, राग-द्वेष रूप कषायो की जटा भी मुण्डली थी। उनके मन मे किंचित् मात्र भी विद्वेष की भावना नही आई। यदि वे जरासी कल्पना कर लेते कि इसके पैर चिपक जाएँ या आग ठण्डी हो जाये तो वैसा हो जाता। किन्तु वे तो आत्मलीन हो चुके थे। उनका पूरा चिन्तन देहातीत हो चुका था। हमारी कल्पना के अनुसार उनका चिन्तन इतना हो सकता है कि "ये मुझे अपने लक्ष्य तक शीघ्र पहुँचाने मे सहयोग कर रहे है—आखिर तो ये मेरे श्वसुर होने वाले थे—ये मुझे मुक्ति रमणी के

वरण हेतु पगडी बंधा रहे है ।" किन्तु यह चिन्तन भी हमारी स्थूल दृष्टि का चिन्तन है। उनकी चेतना तो समस्त पर पदार्थों से अतीत-स्वरूप मे रमण कर रही थी। और उसी रमणता मे उन्होंने कैवल्यज्ञान को उपलब्ध कर लिया और कुछ ही समय में मुक्ति श्री का वरण कर लिया ।

कितनी अद्भुत क्षमा का जागरण हो गया था इस लघुवयी मुनि मे। इसीलिये तो कवि कह उठते है—

"क्षमा का पुजारी वीर गजसुकमाल था ।
देवकी का लाल था वो देवकी का लाल था ।"

(पूरा गीत परिशिष्ट न. १/१३ मे देखें)

मुनि गजसुकमाल की क्षमा ने वह कर दिखाया जो बड़े-बड़े शूर-वीरो के लिये कठिन है। उस वीरता ने माता-पिता के यश को भी उज्ज्वल बना दिया। पूत कपूत निकलता है तो माता-पिता को बुरा कहा जाता है और पूत सपूत निकलता है तो माता-पिता को धन्यवाद मिलता है।

बन्धुओ ! अब अधिक विस्तार मे जाने का अवकाश नही है। आप इन पर्व पर्युषणो के दिनों मे अन्तगड़ सूत्र के इन जीवन्त उदाहरणो के परिप्रेक्ष्य मे अपना अन्तरावलोकन करे एव आत्म साधना के क्षेत्र में आगे बढने का प्रयास करे।

अन्तगड सूत्र का आगे का विवेचन भी समय पर ही रखा जा सकेगा ।

—आज इतना ही—



४ निवृत्ति अर्थात् अकर्म की ओर

(पर्युषण पर्व—चतुर्थ दिवस)

(तर्ज—छुप-छुप आते हो जी माखन···· ···)

पर्व राज आया है, जीवन बनाइये ।
पर्वगान गाइये जी, पर्व गान गाइये ।। पर्व·······।।टेर।।

तीन सौ पैसठ दिन, मे तो यह आता है,
जीवन बनाये सब, सन्देशा यह लाता है ।
इस शुभ दिन सब धर्म ध्यान ध्याइये ।। पर्व·······।। १ ।।

सब पर्वो में यह पर्व सिरमौर है,
आज हर घर मे इसका ही शोर है ।
हर बच्चे बूढे मे खुशी बहु छायी है ।। पर्व·······।। २ ।।

सब वैरभाव को आज दिन बिसारिये,
आत्म सम व्यवहार जीवन मे धारिये ।
मैत्री भावना की आज घर-२ बधाई है ।। पर्व·······।। ३ ।।

आओ सब हिलमिल पर्व आराध ल,
मैत्री भावना को सब, जीवन मे साध ले ।
अपने जीवन मे शाति बसाइये ।। पर्व·······।। ४ ।।

प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर :

गीत की पक्तियो का उच्चारण नित्य प्रति चल रहा है और पक्तियो मे आये हुए भावो की गहराई मे प्रवेश करने का भी कुछ प्रयास चल रहा है । आज पर्युषण पर्व का चतुर्थ दिवस है । पर्युषण मे जीवन शुद्ध करे, अपना संशोधन करे । बाहर की शुद्धि तो प्राय निरन्तर चलती है । लेकिन ये अन्तरशुद्धि का सदेश लेकर उपस्थित होते है । हम प्राय: प्रवृत्ति में चलते है । पर्युषण हमे निवृत्ति मे ले जाते है । अपेक्षा दृष्टि से प्रवृत्ति-बधन का कारण निवृत्ति-मुक्ति का पथ है । चाहे हमारी प्रवृत्ति धार्मिक आराधना के लिये हो रही है—उसमे पुण्य सचय होगा । उच्च देवलोक मे जायेगे । भौतिक वैभव से घिरे रहेगे । यद्यपि यह पुण्य किसी सीमा तक उपादेय है तथापि एक स्थिति मे पहुचकर हमे इसे छोडना होगा । वैभव यदि ग्राह्य होता तो तीर्थंकर महापुरुष उसे क्यो तिलांजली देते ? भगवान् महावीर के सन्देश प्रवृत्ति की ओर उतना बल नही देते जितना निवृत्ति की ओर बल देते है । हमे पुण्य-पाप दोनो से मुक्त होना

होगा। दोनो बधक रूप माने गये है। यह शास्त्रीय दृष्टिकोण है। आगमो में आस्रव के दो रूप बताये है। "शुभ पुण्यस्य अशुभः पापस्य" अर्थात् पुण्य और पाप दोनो आश्रव है। आपको यह बात विचित्र लगेगी। यदि पुण्य को छोडना ही है तो दान-पुण्य क्यों करे ? किन्तु इसके विवेचन को कुछ गहराई से समझना होगा। पुण्य-पाप दोनो छोडने योग्य अवश्य है, किन्तु किस स्थिति मे ? इसके लिये सीधा सा उदाहरण लीजिये—आपको नदी के उस किनारे पहुँचना है। नदी का प्रवाह तेज है। नौका पड़ी है। बडे गौर से देखा तो आपको लगा एक पत्थर की और दूसरी काष्ठ की नौका है। आप पत्थर की नौका का सहारा नही लेंगे। काष्ठ की नौका से चलते है तो भी दूसरे किनारे पर उसे छोडना होगा। आप सोचे, क्यो छोडें, तो नदी में घूमते रहेंगे। ठीक यही स्थिति है ससार समुद्र की—पाप पत्थर की नौका के समान है। पुण्य लकड़ी की नौका है, जिसके सहारे पार पहुचा जाता है किन्तु अन्तिम स्थिति में उसे भी छोड़ना होगा। यदि कोई सोचे, आगे तो छोडना है फिर बीच मे ही छोड दें तो स्थिति डावाडोल होगी। आप बीच भवर मे ही डूब जायेंगे, किनारे पर नही पहुंच सकेंगे, इसी तरह पुण्य छोडना है किन्तु अन्तिम स्थिति मे छोडना है। आखिर दोनों बध के कारण है। कवि बनारसीदासजी ने कहा है—

पुण्य बध पाप बंध दुहू मे मुगति नाही,
कटुक-मधुर स्वाद पुग्गल को पेखिये।

ये पुण्य-पाप पुद्गलो के स्वाद रूप है। ये प्रवृत्तियां हमें बंधन की ओर ले जाती है। अतएव निवृत्ति का महत्त्व बताया गया है। निवृत्ति का सन्देश देने के लिए पर्युषण पर्व आते है। प्रवृत्ति होती है—व्यापार में कुछ-न-कुछ करने को 'प्रवृत्ति' कहते है। कर्ता भाव से ऊपर उठने को निवृत्ति कहते है। एक घण्टा आपको ध्यान में बिठाया जाय, २० मिनट चिन्तन मे बिठाया जाय और कह दिया जाय—हाथ-पैर आँखें नही हिलाना। आप कहेगे—आप हमे अकर्मण्य बना रहे है, निठल्ले बना रहे हैं। किन्तु प्रभु महावीर कहते है—अकर्म-शील बने बिना कर्म बधन की शृंखला नही टूटती है।

अकर्म से कर्म क्षय :

'सूत्रकृताग सूत्र' में चर्चा आती है, व्यक्ति कर्म कैसे करे—
'नकम्मुणा कम्मरववेन्तिबाला, अकम्मुणाकम्म खर्वेतिधीरा।'

शास्त्रकार कह रहे है कि कर्म से कर्म का क्षय नही होता है। जो ऐसा करते हैं वे बाल है, अज्ञानी है। अकर्म से कर्म का क्षय होता है। अकर्म मे स्थिर होने वाले धीर है। अज्ञानी व्यक्ति कर्म करता है और वह चाहता है—मैं कर्मक्षय करू तो वह नही कर सकता है। जो धीर व्यक्ति होते है वे ही कर्मक्षय करते

है। आप २४ घण्टों किन्ही-न-किन्ही कार्यो में व्यस्त रहना चाहते हैं। किसी-न-किसी कर्म में रत रहते है। हमारा मन प्रवृत्ति पक्ष का इतना अभ्यस्त वन गया है कि निवृत्ति की चर्चा ही अटपटी लगती है। सोये है और नीद नही आये तो मन को कुछ काम चाहिये, चाहे वह तनाव वढाने वाला हो, मेवाडी कहावत है–'खाली बैठो वाण्यो कई करे, उठी का तोल्या वठी ने धरे'। निद्रा देवी घेर न ले तब तक आप प्रवृत्ति मे रहना चाहते है। यह प्रवृत्ति ही हमे अपने मूल साधना क्षेत्र से विचलित कर रही है। हमे निवृत्ति का आस्वादन करना है तो प्रवृत्ति से निवृत्ति होना होगा। उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है—

एगओ पवत्ति कुज्जा, एगओ य निव्वत्तणं ।
असजमे निव्वत्ति कुज्जा, संजमे य पवत्तण ।।

सयम के अनुष्ठान मे प्रवृत्त हो, असयम से निवृत्त हो। हम प्रवृत्ति पक्ष को समझकर निवृत्ति पक्ष की ओर उन्मुख वने। ससार के जितने आकर्षण है वे बधन के कारण है। हमारी आत्मा निरन्तर निविडतम वधनो को वाधती जा रही है। ये पर्व इसलिये आये है कि हम आत्मा की स्वतत्र सत्ता को समझे, बधनो से दूर हटे। आपको ये आगमिक वाते अटपटी लग रही होगी, लेकिन इनको समझना होगा। निवृत्ति मूलक साधना हमारे तत्त्व दर्शन का आधार है। जब तक आश्रव से निवृत्त नही होगे, सयम-सवर मे गति नही होगी।

जिन पदार्थो के प्रति आपकी रुचि है—जिन्हे एकत्रित करने को आप प्रतिपल समर्पित कर रहे है, वे भौतिक पदार्थ आपको शांति नही दे रहे है। जो अर्थ प्राप्ति का दौर आज चल रहा है। उसने सभी पवित्रतम रिश्तो को तोडकर रख दिया है।

एक मार्मिक घटना :

अलवर के पास की एक घटना है–एक मजदूर अपनी मेहनत की कमाई का १० रु० का नोट लेकर आ रहा था। उसका एकाकी २-३ वर्ष का बच्चा दौडा-दौडा आया। बच्चा चचल था, पूछा—"पापा क्या लाये ?' मजदूर ने सोचा, माँ को देगा और वह नोट उसे दे दिया। वह बालक रसोई घर मे गया और माँ से कहा–"माँ, माँ पैसा लाया" और उसने वह नोट आग मे फेक दिया। मजदूर ने सोचा, कितनी मेहनत से रुपया कमाया, उसे वडा क्रोध आया, वच्चे की टाग पकडकर उसे चीर डाला। १० रु० के पीछे लाडले लाल को मार दिया। उस की माँ चिल्लाने लगी–"हाय मेरा लाल।"

वताइये वह पैसा क्या काम का जो इसान को इतना पागल वना देता है। उस मजदूर को पैसे के पीछे इतना भी वोध नही रहा कि मै क्या कर रहा हूँ। नोट की आसक्ति ने उसे पागल वना दिया।

बंधुओ, यह स्थिति केवल उस मजदूर की ही है ऐसी बात नही। आप सब की भी प्राय. यही स्थिति है।

समय का मूल्य :

आप १० रु० के नोट की चिन्ता करते है। पर जीवन के अमूल्य क्षण चले जा रहे है। मृत्यु की घडिया आ रही है। आप कभी विचार करते है कि हमारा समय किधर जा रहा है ? हिन्दुस्तानियो ने समय की कीमत नही समझी है। पाश्चात्य देशो ने समय की कीमत समझी है। वहा समय की पाबन्दी है (पक्चेलिटी है)। आज 'इण्डियन टाइम' बदनाम हो रहा है। विदेशो के लिए सुना है कि ५ बज के ५ मिनिट का टाइम दिया है तो उसी टाइम पर पहुँचेगे। किन्तु हिन्दुस्तानी दस बजे तक भी पहुँच जाये तो बहुत है। हमने समय को कोई मूल्य नही दिया है, जबकि प्रभु महावीर ने अपनी प्रथम देशना मे कहा है— 'खण जाणाहि पडिए' जो क्षण-क्षण की कीमत समझता है वह पडित है। विद्वान्-पडित वह नही जो सभी शास्त्रों को कठस्थ करले या लच्छेदार भाषण दे ले। विद्वान् वह है जिसने जीवन के एक-एक क्षण का मूल्य समझ लिया है। समय की अधिक लम्बी-चौड़ी चर्चा जाने दे। अभी पर्युषण पर्व का बहुमूल्य समय हमारे हाथ आया है। पापों से, विषय-वासना की निवृत्ति से मन को निर्मल करे। शरीर की सजावट तो प्रतिदिन होती है। आपके इधर एक और यह विचित्र प्रथा है—बहिने संवत्सरी के दिन हाथो को सजाती है। पौषध मे भी मेहन्दी लगाती है। यह पर्व आत्मा को सजाने का है। आत्मावलोकन करने का है। यह मेहन्दी का रग ऊपर रचाने का नही है, आत्मा को रचाइये। मैने कितना राग, द्वेष किया ? परस्पर कितना विघटन कराया ? कितना कलह कराया ? यह त्यौहार आत्म शुद्धि का है। शरीर शुद्धि या शरीर की सजावट का नही। किन्तु भावुक बहिने विपरीत दिशा मे जा रही है। पौषध मे मेहन्दी रचायेगी और फिर कैसी-कैसी चर्चा करती है—मेरी मेहन्दी अच्छी रची है, तेरी अच्छी नहीं रची। हम अन्तर्मन. शुद्धि का प्रयास करे। इस बात को सही ढग से समझे और कुप्रथा को तिलांजलि दे। शरीर सज्जा के लिए दूसरे पर्व और दूसरा समय है आपके पास। पौषध का पाठ बोलते है उसमे आया है, 'माला वण्णग विलेवण का पच्छक्खाण' अर्थात् सभी प्रकार के विलेपन आदि का प्रत्याख्यान करता हूँ। ऐसी स्थिति मे मेहन्दी लगाना कैसे कल्पता है ? आत्मालोचन एव आत्म साधना मे समकित की मेहन्दी रचाना है, तो समभाव मे रमण करिये। वाहर की मेहन्दी मे तो राग-द्वेष हो जाता है। समकित की वजाय मिथ्यात्व आ जाता है। आत्मा से दया, करुणा का स्रोत वहे। तभी हमारी साधना होगी। विषय कुछ दूसरा चल पड़ा। मुझे अन्तगड का विषय भी लेना है।

अन्तगड सूत्र मे श्रीकृष्ण के विभिन्न आयामी आदर्श प्रस्तुत हुए है। कल

विषय चल रहा था–गजसुकमाल मुनि ने एक ही उपदेश मे और एक ही दिन मे अपना आत्मकल्याण कर लिया। उन्होने क्षमा का अपूर्व आदर्श उपस्थित कर दिया।

दूसरे दिन श्रीकृष्ण चतुरंगिणी सेना लेकर प्रभु के दर्शनार्थ जाने लगे। उनके मन मे विभिन्न विचार उठ रहे थे कि कोमल पुष्प शैय्या पर सोने वाला अनुज आज घास के सस्थारक पर सोया होगा। आज उसकी साधना की प्रथम रात्रि कैसी रही होगी····

इन्ही विचार तरगो में बहते हुये वे चले जा रहे थे कि सहसा उनकी दृष्टि एक वृद्ध पुरुष पर पड़ी। आगम का पाठ है–'एगं पुरुप पासइ' एक वृद्ध पुरुष को मार्ग में देखा, वह बाहर ईटो के ढेर मे से ईंट उठाता है और लकड़ी के सहारे चलता हुआ घर के अन्दर ले जाकर रखता है। उसका पूरा शरीर कांप रहा है। इस वृद्ध पुरुष के लड़के कैसे निष्ठुर होगे जो इस पिता से इस जर्जरित स्थिति मे ऐसा श्रम करवा रहे है। उनके मन में करुणा जाग उठी। उन्होने अपने हाथी को उस ईंटो के ढेर की दिशा में मोड दिया और ईंटो के ढेर के पास जाकर एक ईंट उठाई और हाथी पर बैठे-बैठे ही धीरे से अन्दर डाल दी। उनके पीछे जो लोग आ रहे थे उन सभी ने श्रीकृष्ण का अनुसरण किया अर्थात् एक-एक ईंट उठाकर अन्दर डालदी।

बात करते हजारो ईंटो का वह ढेर मकान के अन्दर पहुच गया और उस वृद्ध पुरुष के हजारो चक्कर मिट गये।

महापुरुष के हृदय मे अनन्त करुणा होती है। जैन दर्शन मे करुणा-अनुकम्पा को सम्यक्त्व का लक्षण कहा है।

शास्त्र का मूल पाठ है 'तस्स अणुकम्पणट्ठाए' उनके अन्दर अनुकम्पा का भाव कितना था। महापुरुषो की आत्मा तडफ उठती है, दुःखी को देखकर। इतिहास साक्षी है। इतिहास के अन्दर उतर कर देखे—महानाम एक करुणावान पुरुष था। विडुम ने कपिलवस्तु पर चढाई की। कपिलवस्तु पर आक्रमण किया। वहा का राजा कायर था। स्थान छोडकर भाग गया। इधर विडुम ने आदेश दिया–कपिलवस्तु को लूट लो। आक्रमण हो रहा है। महानाम जो वहा के अनुभवी मत्री थे, उनका हृदय दया से द्रवित हो उठा। वे अचानक विचार करते है। सीधे विडुम के पास पहुँचे। महानाम ने कहा—"आप मुझे जानते है?" विडुम ने कहा–"मै जानता हूँ, आप करुणामूर्ति सौम्यशील है।" महानाम ने कहा–"मै आपके साथ कुछ सम्वन्ध रखता हूँ या नही?" विडुम को याद आया–कन्या की याचना की। महानाम ने दासी पुत्री पिता को दी। आज जो दासी पुत्री का लड़का था वह राजा वना। दूसरी वात, मै वचपन मे यहा आया

तब आपने मुझे शिक्षा दी। दोनों बातें याद आई। महानाम ने कहा—"तो मुझे गुरु दक्षिणा मिलेगी।" विडुम ने कहा—"निश्चित, आपको गुरु दक्षिणा मिलेगी।" विडुम ने अपने सेनापति से कहा—"महानाम के घर को कोई न लूटे।" महानाम ने कहा—"ठहरो, मै इतना स्वार्थी नही हूँ।" विडुम ने कहा—"नाना यह नही होगा। मेरा खून खौल रहा है। नगर को जलाऊँगा। किन्तु एक बात है, आपको तैरने का शौक है, जितने समय तक आप पानी के अन्दर रहेगे, उतने समय तक जनता को छूट है, जहा जाना हो वहा जा सकेगी।" नगर मे घोषणा होती है जिसको प्राण बचाना हो वह भाग जाये। इधर महानाम तैरते-तैरते खम्भे के निकट पहुँचते है। उन्होने अपनी प्रजा के लिये स्तूप मे अपना उत्तरीय-दुपट्टा बाधा और अन्दर ही रह गये। जल समाधि ले ली। लोग सोच रहे थे कि अब आये, अब आये। जनता की दया के पीछे—जनता की शाति के लिए महानाम ने अपने आपको बलिवेदी पर चढाया। उस शरीर को बाहर निकाला तो लोगो ने श्रद्धा के अश्रु बहाये। यह है सम्यक्त्व का रग। मेहन्दी से सम्यक्त्व का रग नही लगता है। पानी की एक बून्द मे असख्यात जीव है। आप कहेगे—धोवन पानी गरम पानी लेते है। किन्तु वह भी जीवो की हिसा से हुआ है। दु खी को देखकर करुणा जागृत नही होती और कहते है, हम सम्यक्त्वी है। मै आपके सामने श्रीकृष्ण की बात रख रहा हूँ। वे अरिष्टनेमी प्रभु के चरणो मे पहुँचते है और इधर-उधर देखते है। लघु मुनि कहा है? भगवान से पूछा—नये मुनि कहा है? भगवान ने कहा—'वे जिस कार्य के लिए निकले, वह कार्य उन्होने साध लिया।' कृष्ण ने कहा—"भगवन, यह कैसे?' प्रभु ने कहा—"उसको सहयोगी मिल गया है। रास्ते मे तुमने बूढे की एक ईट उठायी, सभी साथियो ने तुम्हारा अनुकरण करके ईटे उठायी। बुढ्ढे के चक्कर मिट गये, वैसे ही सहयोगी ने गजसुकमाल के जन्ममरण मिटा दिये।" श्री कृष्ण ने पूछा—"भगवन्, वह सहयोगी कौन है?" "कृष्ण तुम रास्ते मे जाओगे, तुम को देखकर जो मार्ग मे गिरेगा, मृत्यु को प्राप्त होगा, वही सहयोगी है।"

स्वयं का पाप स्वयं को खाए :

इधर सोमिल ब्राह्मण रात को तो घर आकर सो गया किन्तु उसे नीद नही, प्रात होते ही उसने सोचा—अभी श्रीकृष्ण प्रभु के दर्शनार्थ जायेगे। प्रभु सर्वज्ञ है। सब कुछ श्रीकृष्ण को बता देगे। और श्रीकृष्ण मुझे न जाने किस मौत से मारेगे। इन्ही शंका-कुशंकाओ मे वह प्रात काल गली के मार्ग से भागकर शहर छोड़ देना चाहता था। किन्तु कहावत है—'पापी की आत्मा स्वय को खाती है।' सयोग से श्रीकृष्ण भी शोक की दृष्टि से गली से निकले। सोमिल सामने मिला, उसने सोचा—अवश्य इन्हे सब कुछ पता लग गया है। वह १०० कदम दूर से गिरा व मर गया।

श्रीकृष्ण ने तुरन्त समझ लिया कि यह वही अनार्य पुरुष है जिसने महामुनि की हत्या जैसा कुकृत्य किया है। इसे उचित दण्ड दिया जाना चाहिये।

ताकि आगे किसी की ऐसी हिम्मत न हो और कर्मचारियों से कहा–यद्यपि यह मर गया है, किन्तु इसके पैरों मे रस्सी बाधकर इसे पूरे शहर मे घसीटा जाये और फिर शहर की जल छिडकाव करके सफाई की जाय। श्रीकृष्ण का यह कार्य राज्य व्यवस्था का अग था।

सर्वनाशी शराब, द्वारिका का विनाश :

त्रिखण्डाधिपति श्रीकृष्ण के जीवन के अनेक पक्ष इस अन्तगड सूत्र मे आ रहे है। उनका जीवन सप्तरगी घनुष के समान विविध रगी था। उनकी करुणा का रग आपने देखा, तो सोमिल को सजा देने का उनका राजनैतिक व्यवस्था का रग भी आपने देखा। आज आपने मूल पाठ मे उनकी धर्म दलाली वाला प्रसग भी सुना होगा, जो उनके जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व ज्योतिर्मय प्रसग है। जब प्रभु के चरणों मे उन्होंने जिज्ञासा रखी–"भगवन् ! क्या इस स्वर्ण निर्मित अलकापुरी के समान द्वारिका नगरी का भी विनाश होगा ?" तो प्रभु ने कहा–कृष्ण, ससार का कोई पदार्थ स्थिर रहने वाला नही है। यहां सभी नष्ट होने उत्पन्न होते है। वस्तु का स्वभाव ही क्षणभगुर है। उत्पत्ति विनाश से युक्त है और विनाश उत्पत्ति से। अत. यह द्वारिका भी चाहे कितनी ही सुन्दर हो, नष्ट होगी ही।

श्रीकृष्ण ने पुन जिज्ञासा की–"भगवन्, इस द्वारिका का किस निमित्त से विनाश होगा ?" प्रभु ने कहा–"द्वारिका का नाश निकटतम आ गया है, यादव कुमार शराव पीयेंगे, द्वेपायन ऋषि को छेडेंगे, वह मरकर देव बनेंगे और तुम्हारी नगरी को जला देंगे।" यह सब सुनकर श्रीकृष्ण क्षुब्ध नही हुए। वे जानते थे–पुद्गलो का स्वभाव नष्ट होने का है। उन्होंने सोचा—मै सभी नगर निवासियों को सावधान करदू और पुन. प्रभु से पूछा–"भगवन्, नगरी की रक्षा किससे होगी ? कोई साधन है ?"

आयम्बिल एक सुरक्षा कवच :

प्रभु ने कहा—'यहा जब तक आयम्बिल होता रहेगा, तब तक नगरी को कोई नही जला सकेगा।' तप-बल कितना बड़ा बल है। तभी कहा है–'देवावित्त नमसति जस्स धम्मे सयामणो'। जिसका मन सदा धर्म में–तप मे रमा रहता है, उसको देवता भी नमस्कार करते है। यह प्रभु की वाणी है। प्रभु ने एक आयम्बिल मे कितनी शक्ति बताई है ? आयम्बिल की साधना देवो के उपद्रव को भी मिटा देती है और यह कोई कठिन बात भी नही है। इतने बडे क्षेत्र मे प्रतिदिन एक-एक घर मे एक आयम्बिल हो तो २-४ माह मे एक बार नम्बर आता है। कृष्ण नगर मे गये, सोचा–मैं लोगो को सावधान कर दूँ। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान का युद्ध हुआ, तब लोगो को सावधान किया जाता था। सायरन

बजाये जाते थे। श्रीकृष्ण ने उद्घोषक को बुलाया और कहा— नगर मे घोषणा करो—'नगरवासियो ! आप श्रीकृष्ण को अनुशासिता मानते है, उनका आदेश है, प्रभु द्वारा ज्ञात हुआ है कि द्वारिका का नाश होने वाला है और इसका नाश शराब के कारण से होगा । अत. आज के पश्चात् इस नगरी मे कोई शराब नही पीयेगा । नगरी मे जितनी शराब है, सब दूर पहाड़ो पर जगलो मे फिकवा दी जाय । आज्ञा का उल्लघन करने वाला अपराधी माना जायेगा ।

साथ ही प्रभु ने इस स्वर्गपुरी के समान द्वारिका की रक्षा का उपाय आयम्बिल के रूप मे बताया है । 'अत. एक नारियल प्रति दिन अलग-अलग घर पहुँचाया जाये, जिस घर नारियल पहुँचे उस घर मे किसी-न-किसी सदस्य का आयम्बिल होना आवश्यक है ।' इस घोषणा के साथ ही उन्होने यह भी सूचना करवायी कि जो प्रभु के चरणो मे जाना चाहे, रानियो, राजकुमारो तक को घोषणा कराई, आत्म साधना मे जो जाना चाहे, जा सकता है । मै पीछे रहने वाली सन्तान-परिवार की रक्षा करूगा । आप सोचेंगे वे स्वय क्यो नही दीक्षित हो जाते है । यह चर्चा प्रभु के सामने पहुच ही चुकी होगी । प्रभु ने विधान किया है कि वासुदेव सयम नही ले सकते । 'न भूतो न भविष्यति' यह जानकारी श्रीकृष्ण को हुई तो उन्हे बडा दु ख हुआ । प्रभु ने कहा—तुम तीर्थकर बनोगे अगली चौबीसी मे । तो बड़ा गौरव हुआ और श्रीकृष्ण ने गर्व से शखनाद किया । मै तीर्थकर बनू गा । इसके पश्चात् बडे हर्षोल्लास से उन्होने धर्मदलाली की । नगर मे घोपणा करवादी कि जिसको जिस वस्तु का अभाव होगा उसकी पूर्ति मै करूगा । जिसके पुत्र नही है, मै पुत्रवत सेवा की व्यवस्था करूगा आदि । आज के लोग कहेगे—कृष्ण ने सौदा किया । पैसे देकर दीक्षा दिलवायी किन्तु यह भ्रात धारणा है । कोई व्यक्ति दाने-दाने के लिए तरस रहा है, उसे कहे तुम्हे धन दे, दीक्षा ले लो, क्या वो दीक्षा ले लेगा ? नही, कदापि नही । श्रीकृष्ण ने धर्म दलाली से तीर्थकर गोत्र का बध किया । उनके अन्त पुर की बहुत सी रानिया सयम लेती है । वहुत से राजकुमार प्रभु के चरणो मे समर्पित होते है । श्रीकृष्ण ने पूर्ति की । इसे खरीदना नही कह सकते है । यह सब प्रभु के सामने की वात है ।

दूसरी वात प्रभु ने कही—जिसके लिये मै पूर्व मे सकेत कर गया हूँ । यादव कुमार शराव पियेगे और नशे मे द्वैपायन ऋषि को छेड़ेगे । सोचा—'न रहे वास न वजे वासुरी' । नगर की सारी शराव को नगर के वाहर फिकवा दिया ।

आज का युवक और शराब :

आज हिन्दुस्तान मे करोड़ो की शराव विकती है । मै कहूँगा—अच्छे-अच्छे घरो के लोग यहां तक कि जैनी नाम घराने वाले शराव पीते है । आपके युवक कालेजो मे जाते है, वे कहते है सोसायटी के पीछे शराव पीनी पडती है । मै थलीयो प्रात में घूम रहा था । राजलदेसर की वात है । मै वहाँ अतिथि भवन मे

ठहरा था। सुजानगढ से वारात ग्रायी। हमे ग्रतिथि भवन से दूसरे मन्दिर मे स्थान दिया। दो दिन वाद वारात वापस जाती है। हम पुन. उसी भवन मे ग्राये। वहा के नौकर ने कहा—महाराज १०० वारातियो मे से लगभग ३० शराव पीने वाले थे। यह ग्रणुव्रतधारी धोरियो की वारात थी। यहां उन्होंने रात को खूब धमाल मचाई। ग्राज शराव पीना फैशन मानली गई है। ग्राज यह तथाकथित उच्च वर्ग किधर जा रहा है। वडे-वडे घराने मे फ्रिज में ग्रण्डे ग्रौर वीयर की बोतले पडी रहती है। कोई-कोई तो शराव पीकर घर मे ग्राते है। पत्नी ग्रौर बच्चो को पीटते है। वात कुछ कठोर है पर जीवन निर्माण की वात है। ऐसे सस्कार बच्चो मे डाले जो वुरे रास्ते नही जाये। दुर्व्यसनो से मुक्त रहे। भोपाल में भीमसेन वाठिया है—२१ वर्ष की उम्र मे एल.एल.वी. पास की है। प्रतिभाशाली है—कालेज मे टी पार्टी मनाई जा रही थी, वह सादा भोजन ले गया। विद्यार्थी लोग जिद्द करने लगे—एक ग्रण्डा खालो। प्रोफेसर से कहा तो कहने लगे "खालो क्या हो गया है।" ग्रब क्या करे, वाड उठकर खेत को खाने लगी। उस समय वे खिडकी से कूद घर भाग गये। उनके पिताजी वकील थे, सो प्रोसफेर को डाट दिया—"ग्राप विद्यार्थी को विगाड़ रहे है।" वन्धुग्रो, हर व्यक्ति को सावधान होना है। हर ग्रभिभावको को सावधान होना है। यह शराब क्या नही करती है? द्वारिका के विनाश मे निमित्त वन गई। यादव कुमार बाहर भ्रमण को गये हुए थे। पर्वत से पानी के साथ बहकर ग्रायी शराव पीने मे ग्रा गई ग्रौर शराब के नशे मे द्वैपायन ऋषि को छेडा। द्वैपायन ने कहा—'मेरी करणी का फल हो तो मै इस नगरी को जलाने वाला बनूं।' वह देव बना, पर नगरी मे ग्रायम्बिल होते रहने से उसका जोर नही चला। एक दिन जिसकी पारी थी—सोचा मै ग्राज ग्रायम्बिल नही करू, कोई ग्रन्य कर लेगा ग्रौर देव का जोर चल गया। स्वर्ण की दो नगरी थी लंका ग्रौर द्वारिका। दोनो राख की ढेर वन गई। इस स्वर्ण की नगरी ने ही तो दुनिया को पागल बना रक्खा है। कहा है—'स्वर्ण मयेन पात्रेण सत्य स्यापिहितं मुख।' सोना या कागज के टुकडो ने चकरा दिया। सोने की नगरी जल गई। तीन खण्ड के ग्रधिपति श्रीकृष्ण ३ दिन तक पानी के लिए छटपटाते रहे। मै प्रारम्भ मे वोल गया हूँ। हम कर्म वध की प्रवृत्ति से हटे। ये सुन्दर क्षण ग्राये है। ग्राप उपदेश सुन रहे है, पर उपदेश का शताश भी जीवन मे लाये तव। ग्राप कहेगे—यदि जीवन मे नही लाना होता तो यहा क्यो ग्राये? ग्राप सुन ग्रधिक रहे है, पर ग्राचरण मे थोडा ला रहे है। पूरा ग्राचरण मे लाए—समय को सार्थक बनाये।

वन्धुग्रो! ग्रमूल्य क्षण हमारे साथ है। पवित्र वेला हमारे साथ है। हमने इस समय कुछ नही किया, तो ग्रन्त समय मे पश्चात्ताप रह जायेगा। चौमासा हो गया है, पर्युषण ग्रा गया ग्रौर चला जायेगा, ग्रतिथियो का सम्मान करते है, लेकिन उससे ग्रधिक स्वय का सन्मान करे। ग्रापकी सोई ...गे। सन्तो की यही वास्तविक प्रेरणा है। यद्यपि ग्रापकी भक्ति भावना

उत्तम है, फिर भी अधिक से अधिक धर्म जागृति लायें। बात कटुक है, पर कहा है–कडवी दवा बिना रोग नही निकलता है। आज तो इजेक्शन चल गये। उसमें भी चुभन होती है। पर्युषण मे प्रतिक्रमण होना चाहिये। यदि पिक्चर जाना हो, राजनीति मे भाग लेना हो तो पारी का सवाल नही है। धर्म क्षेत्र मे कहते है–उसकी पारी है वह करेगा। वैसे तो जागृति आ रही है, लेकिन कुछ व्यक्ति शीतल है, वे आगे आये। आप करेंगे तो आपकी आत्मा पवित्र होगी।

अन्तगड सूत्र का प्रसग भी बहुत प्रेरक चल रहा है। उन आदर्शो के समान हम भी आत्मकल्याण के मार्ग मे सक्रिय बने। इसी मगल भावना के साथ·······

आज इतना ही।



५ आत्मबल का उत्प्रेरक पर्युषण

[पर्युषण पर्व–पंचम दिवस]

प्रार्थना

(तर्ज—जय बोलो त्रिशलानन्दन की.......)

महा पर्व पर्युषण जयकारी, ये दुखहारी मंगलकारी । महा पर्व....
मंगल घड़ियाँ ये आई है, जन-जन मे हर्ष बधाई है,
फहरेगी धर्म ध्वजा प्यारी–महापर्व..........॥१॥

(पूरा गीत परिशिष्ट नं. १ में देखें)

अन्तर्मुखता का सन्देश :

आज पर्युषण पर्व का पाँचवा दिन है । इन दिनो आत्म उद्‌बोधन का क्रम अनवरत चल रहा है । ये घड़ियाँ तो हमारे लिये एक निमित्त का कार्य करती है । वास्तव मे हमे प्रतिपल आत्म-जागरण—आत्म-उद्‌बोधन के प्रति समर्पित होना चाहिये । किन्तु वह उद्‌बोधन अथवा जागरण का सन्देश किसके लिये हो ? किसी पर के लिये नही—स्वय के लिये हो । और स्वयं को उद्‌बोधन देने का अर्थ है—स्वयं की चेतना को परभाव–विभाव से ऊपर उठाकर स्वभाव मे स्थिर करना । बहिर्वृत्ति से अलग हटकर अन्तरावलोकन–अन्तर्दर्शन करना । अनादि-अनन्तकाल से हमारी चेतना बहिर्मुखी बनी हुई है । पर पदार्थो के प्रति इसका इतना अधिक आकर्षण बढ गया है कि इसे उनमे ही स्वप्रतीति होने लगी है। यह विभाव को ही स्वभाव समझने लगी है । जैसे अनवरत झूठ बोलने वाले व्यक्ति को यह अहसास नही होता है कि मै झूठ बोल रहा हूँ । वह असत्य को ही सत्य मानने लग जाता है । आत्मा की यह स्थिति अनादि-अनन्तकाल से चली आ रही है । मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के कारण आत्मा इस पर भाव रमणता से ऊपर नही उठ पा रही है ।

मौन अर्थात् स्वभाव में स्थिरता :

पर्युपण पर्व के ये दिवस यह सन्देश देने आए है कि हम पर भाव से अलग हटकर स्वभाव मे स्थिर वने । हम वचन के दुरुपयोग से वचने के लिये मौन करते है, किन्तु वचन के समान मन से भी मौन होती है और काया से भी । मन

की मौन का अर्थ है—विविध दिशाओ में भटकने वाली मनोवृत्तियों को किसी एक प्रशस्त दिशा मे केन्द्रित कर देना। इसी प्रकार काया की मौन का अर्थ है—देह को कायोत्सर्ग की मुद्रा में स्थिर कर देना। उसकी समस्त हलन-चलन पर नियन्त्रण साध लेना। मुख्य तौर पर मन के मौन की यह प्रक्रिया ही हमे पर भाव से स्वभाव मे गति प्रदान करती है, जिसे हम शास्त्रीय भाषा मे गुप्ति कहते है। श्रमण जीवन की साधना मे पाँच-समिति—तीन गुप्ति की साधना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह तीन प्रकार की गुप्ति है—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति।

आजकल आमतौर पर वाणी की मौन को ही मौन मानकर उसी को महत्त्व प्रदान किया जा रहा है। किन्तु मन की मौन वाणी की मौन से भी अधिक आवश्यक है। आज अधिकाश व्यक्तियो का मन असंतुलित होने के कारण अनावश्यक रूप से भटकता रहता है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से आज अस्सी (८०) प्रतिशत रोग मन से सम्बन्धित होते है—मानसिक रोग होते है। अतः हमारी साधना मे मनोगुप्ति का प्रावधान रखा गया है, ताकि मन के अनावश्यक भटकाव पर नियन्त्रण साधा जा सके। इससे सवर और निर्जरा आध्यात्मिक लाभ रूप तो है ही, किन्तु मन की शक्ति का सदुपयोग होने से भौतिक एव शारीरिक लाभ भी होता है। किन्तु यह मन की साधना सरल नही है। अनादि काल से विषयगामी मन को सहसा मौन में ले जाना या नियन्त्रित कर लेना सरल नही है। इसके लिये हमे साधना की सूक्ष्मता मे प्रवेश करना होगा। चिन्तन और ध्यान की गहराइयो मे पहुँचना होगा।

आज की धार्मिकता :

आज के अधिकाश धार्मिक अथवा साधनात्मक प्रयोग केवल ऊपरी एव रूढ रह गए है। एक व्यक्ति से उसके जीवन की विशेषता पूछी गई तो वह कहने लगा—"मै अपने धर्म को कभी नही छोडता।" यह पूछने पर कि तुम्हारा धर्म क्या ? कौन सा है ? वह कहने लगा—"मै कभी-कभी शराब भी पी लेता हूँ—मौका लगने पर मास भी खा लेता हूँ, आवश्यक होने पर चोरी भी कर लेता हूँ और अवसर मिलने पर वेश्यालय भी चला जाता हूँ, किन्तु अछूत के हाथ का छुआ हुआ भोजन नही करता।" अब बताइये—उस व्यक्ति ने धर्म किसमें समझा ? अन्य सभी बुराइयाँ हो पर अछूत का छुआ हुआ भोजन नही करना ही उसने धर्म समझ लिया है। कितनी उथली एव थोथी मान्यताएँ हो गई है—धर्म की मान्यताएँ। आज अधिकाश व्यक्तियो ने धर्म को स्थूल व्यवहारो एव थोथे आचरणो मे उलझा दिया है, जबकि धर्म का मूल सम्बन्ध आत्म जागरण एव आत्म शुद्धि से है। आज का जनजीवन प्राय. दो समानान्तर भागो मे विभक्त हो गया है। एक तरफ जुआ, शराब, मास, वैश्यावृत्ति, मिलावट—

चोरी जैसे धर्म विरोधी, समाज विरोधी एव राष्ट्र द्रोही घृणित कार्य करते जाओ और दूसरी ओर मन्दिर, मस्जिद, गिर्जाघर, गुरुद्वारे जैसे धर्म स्थानो मे जाकर घटा बजादो, नमाज पढ लो, और दस-बीस मिनिट प्रार्थना करलो, बस हो गई पाप से मुक्ति। जबकि यह धार्मिकता नही, धार्मिकता की मजाक है। दुनिया के साथ ही नही अपने साथ भी छलावा है। पोशाक के आवरण मे अह एवं दम्भ का प्रदर्शन है।

पर्व पर्युषणो की इन घडियो में हमे आत्मावलोकन करना होगा कि अन्तरग एवं बहिरग रूप मे परस्पर विरुद्ध चर्या मे कही आत्म प्रदर्शन के भाव तो नही छिपे है ? हम नाकुछ धर्म क्रिया के द्वारा अपने पाप को छिपाने का प्रयास तो नही कर रहे है ?

साधुता—अन्तर्बाह्य एक रूप :

आज बहुत कुछ साधको की भी यही स्थिति बन रही है। साधुता के आचार-व्यवहार मे भी द्विरूपता के दर्शन सहज रूप से हो सकते है। स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. फरमाया करते थे कि—

"इर्या भाषा एषणा, ओलख जे आचार ।
गुणवन्त साधु देखने, वन्दजे वारम्वार ।।"

गुरु वन्दन के पूर्व उस साधक की चर्या का सूक्ष्म निरीक्षण करो—उसकी ईर्या समिति अर्थात्—गतिक्रिया कैसी है, वह विवेक पूर्वक नीचे देखकर चल रहा है या इधर-उधर देखते हुए। उसकी वाणी मे कैसी मधुरता है। भाषा समिति के अनुसार बोलने मे उसकी सजगता है या नही, वो सावद्य या कर्कशकारी भाषा का प्रयोग तो नही कर रहा है। उसकी भिक्षा विधि कैसी है। रसलोलुपता के कारण भिक्षा विधि का उल्लघन तो नही कर रहा है। समिति के साथ वह गुप्ति की साधना भी कर रहा है या नही।

वास्तव मे उच्च कोटि के साधक गुप्ति की साधना ही अधिक करते है। जैसा कि अभी-अभी मै कह गया हूँ—तीन गुप्ति के विषय मे कि मन, वाणी और कर्म तीनो की मौन होना गुप्ति है। ज्ञानी जन कम-से-कम वाणी का प्रयोग करते है। जैनागमों मे उल्लेख मिलता है कि केवली-केवली आपस मे कोई चर्चा नही करते। उनकी भाषा मौन भाषा है। गुरुवाणी की महत्ता एव शिष्य की योग्यता का प्रतिपादन करते हुए नीतिकारो ने कहा है—

"गुरवस्तु मौन व्याख्यान, शिष्यास्तु छिन्नसंशया ।"

अर्थात् गुरुओ का मौन व्याख्यान होता था और शिष्यो के सशय

छिन्न-भिन्न हो जाते थे, उनकी सभी शकाओ का मन-ही-मन समाधान हो जाता था।

कबीरदासजी के समय की एक घटना—सूफी सन्त फरीद कबीरदासजी की कुटिया के निकट से गुजर रहे थे—कबीर एव फरीद दोनो सन्तो के शिष्यो में बडी चहल-पहल पूर्ण जिज्ञासा थी कि आज दो साधक विद्वानो का मिलन होगा—खूब ज्ञान चर्चा होगी बहुत आनन्द आएगा। किन्तु जब दोनो सन्त मिले तो उनकी वाणी मौन थी। एक दूसरा एक दूसरे को हृदय की भाषा मे समझ रहा था। आँखो की भाषा मे पढ रहा था। २-३ घण्टे बीत गए एक दूसरे को देखते, किन्तु कोई कुछ नही बोला। शिष्य उक्ता रहे थे कि कोई तो बोलने की पहल करे। सोचा दोपहर मे बोलेंगे। भोजन से निवृत्त हुए और फिर दोनो बैठ गए, किन्तु उनकी चर्चा मौन ही मौन होती रही। शिष्यो की हैरानी बढती गई........दोपहर बीत गई और इसी प्रकार रात्रि भी व्यतीत हो गई। दूसरे दिन प्रात काल फरीद अपने शिष्यो को लेकर चल पड़े। दोनो सन्तो के नेत्रो मे प्रेम का पानी छलक रहा था। आखिर फरीद के चले जाने पर कबीर के शिष्यो ने कहा—आपने कोई बात ही नही की– आखिर हमे इतने समय तक क्यो बिठाए रखा। कबीर कहने लगे—"भाई, मै क्या बात करता उनसे, जहाँ एक ज्ञानी और एक अज्ञानी हो अथवा दोनो अज्ञानी हो तो कुछ बोलना होता है।" ज्ञानी-जनो की तो सारी बात टेलीपैथी से होती है। वहाँ बेतार के तार ही सन्देश को एक दूसरे तक पहुँचा देते है। ज्ञानी जनो के समस्त सम्बन्ध विचार सम्प्रेषण की प्रक्रिया से ही होते है। यही कारण है कि केवली-केवली से बात नही करते किन्तु सामान्य व्यक्ति बात करते है। आज हम इतने मुखर हो गए है कि हमारे लिये दो मिनिट भी मौन रहना कठिन हो जाता है। हमे कोई पाँच मिनिट मौन रहने को कहे तो वह समय भी हमे पहाड-सा लगने लगता है। वाणी की मौन तो फिर भी हम जैसे-तैसे कर लेते है किन्तु मन की मौन अत्यन्त कठिन है, जबकि कर्म बन्धन से बचने के लिये मन-वाणी एव कर्म तीनो की मौन अत्यन्त आवश्यक है।

आश्रव का द्वार योग :

शास्त्रकारों ने इन तीनो साधनो को ही कर्मास्रव का मुख्य हेतु बताया है। वाचक मुख्य उमास्वाति ने अपने मौलिक ग्रन्थ तत्त्वार्थ सूत्र मे कहा है—

कायवाङ् मन कर्म योग. ६—१
सआस्रव. ६—२

अर्थात् मन, वचन एव काया की प्रवृत्ति योग है और वही आश्रव का मूल सेतु है। आगे कहा गया है—

शुभ. पुण्यस्य ६—३
अशुभ. पापस्य ६—४

शुभ योग पुण्य का आस्रव है एव अशुभ योग पाप का आस्रव है। अतः यदि हमे अशुभ कर्मो के वन्धन से वचना हो तो तीनो योगो से मौन का अभ्यास करना होगा। योग की वृत्तियो को स्थिर करके ही हम साधना मार्ग में गतिशील हो सकेगे। हम समिति एव गुप्ति के स्वरूप एव महत्त्व को समझे तथा अधिक-से-अधिक शुभत्व मे स्थिर होने का प्रयास करे। कम-से-कम इन पर्व-दिवसो मे तो यह सकल्प करे कि हम अपनी शक्ति का आत्म जागरण की दिशा मे उपयोग करेगे। विचारो की अशुभ परिणतियो से वचेगे। ऐसे शव्दो का प्रयोग नही करेगे, जिनसे किसी के हृदय को चोट पहुँचे। सामान्य से सकल्पपूर्ण प्रयास से गुप्तित्रय की साधना की जा सकती है। आपकी जिज्ञासा हो सकती है कि यह समिति—गुप्ति की साधना तो मुनियो के लिये है, श्रावको के लिये नही। किन्तु श्रावक भी देश से व्रतो की आराधना करते है, अत उनको भी उतनी मात्रा मे मन-वाणी एव कर्म पर सयम साधना चाहिये। सवसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कर्म बन्धन की प्रक्रिया से जिसे वचना हो उसे गुप्ति की साधना करनी ही होगी—चाहे वह श्रावक हो या साधु।

आगम व्याख्या—अनर्थकारी यौवन :

अन्तगड् सूत्र का विषय भी आपके समक्ष कुछ इसी रूप मे आ रहा है। आज आपने प्रिय धर्मी दृढधर्मी सेठ सुदर्शन एव अर्जुन माली का विवेचन सुना। आप केवल घटना क्रम तक ही न रह जाएँ। ये शास्त्रीय आख्यान हमारे समक्ष एक गहरी दृष्टि प्रस्तुत करते है। सेठ सुदर्शन और अर्जुन माली का यह सवाद आत्म बल एव दैविक बल के सघर्ष का सवाद है। सेठ सुदर्शन ने अपने आत्मवल से राक्षसी शक्ति को परास्त कर दिया। कथा का सक्षिप्त रूप है—प्रभु महावीर के समय की यह घटना है। राजगृह नगरी मे अर्जुन मालाकार का अपना वगीचा था। वह श्री सम्पन्न होते हुए भी परिश्रमी था, उसी की आय से वह अपना जीवन चलाता था। प्रतिदिन अपनी अर्धागिनी के साथ प्रात. पुष्प चयन के लिये वगीचे मे जाना उसका दैनिक क्रम था। उसकी पत्नी वन्धुमती अत्यन्त सौन्दर्य सम्पन्न थी।

इधर उसी राजगृह नगर में छः व्यक्तियो की एक ललित गोष्ठी थी। सम्राट् की ओर से उन पर कोई प्रतिवन्ध नही था, अत वे स्वच्छन्द एव उद्दण्ड हो गए थे। नीतिकार कहते है—

"यौवन धन सम्पत्ति प्रभुत्व मविवेकिता।
एकैक मप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टम॥"

यौवन हो, सम्पत्ति हो, कोई सत्ता भी हाथ मे हो और साथ मे अविवेक मिल जाए तो क्या कहना ? चारो मे से एक-एक भी अनर्थकारक है तो चारो तो निश्चित ही अनर्थकारी होगे। उस गोष्ठी को भी ये चारों सुलभ थे—राजा ने भी उन्हे स्वतन्त्रता दे रखी थी। अत आए दिन नगरजनो को परेशान करना, उनका जीवन क्रम बन गया था। एक दिन उनकी दृष्टि अर्जुन मालाकार की पत्नी वन्धुमती पर पड गई और वे उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गए। उन्होने योजना बना ली कि जब यह बगीचे मे फूल चुनने जाएगा और यक्षायतन मे मुद्गलपाणी यक्ष की पूजा करने जाएगा तब हम इसे बान्ध कर बन्धुमती के साथ अपनी मनोकामना पूरी कर लेगे, और उन्होने वैसा ही किया। ज्योही अर्जुन माली यक्ष की मूर्ति को प्रणाम करने को झुका कि किवाडो के पीछे छिपे उन छहो व्यक्तियो ने उसे पकड कर बाध दिया और उसकी आँखो के सामने ही उसकी पत्नी के साथ व्यभिचार का सेवन करने लगे। अर्जुन माली की आत्मा तडफ उठी। अपनी आँखो के सामने यह कुकृत्य होता देखकर उसका मन विकराल हो उठा किन्तु बन्धनो मे जकडा होने के कारण वह कुछ कर नही पा रहा था।

सहसा उसके मानस में एक विचार कौधा—मै इस मुद्गलपाणी यक्ष की वर्षों से पूजा करता आ रहा हूँ। आज इस मूर्ति के समक्ष यक्षायतन मे ही यह कुकृत्य हो रहा है ... यदि इसमे कुछ भी शक्ति होती तो आज यह कृत्य क्यो होता ? सयोग से उस समय मुद्गलपाणी यक्ष वही कही उपस्थित था—उसने अर्जुन माली को शक्ति प्रदान कर दी। यक्ष की शक्ति का अर्जुन के शरीर मे प्रवेश होते ही, अर्जुन मे शक्ति का आवेग फूट पडा। उसके बन्धन टूट गए और उसने वहाँ पडा हुआ एक हजार पल का मुद्गर उठा लिया। सर्वप्रथम उसने उन छहो व्यक्तियो को मुद्गर के प्रहार से समाप्त कर दिया। उसके बाद यह सोच-कर कि यह बन्धुमती भी दुराचारिणी है—इसने जीभ खीचकर आत्म-हत्या क्यो नही कर ली--दुराचार का सेवन क्यों किया, उसे भी मार डाला। उसका वह आवेग यही तक नही रुका- उसने सोचा यहाँ के राजा एव प्रजा सभी पापी है—जिन्होने ऐसे दुष्टो को बढावा दे रखा है और वह अर्जुन प्रतिदिन छ पुरुष व एक महिला की हत्या करने लगा। उसके शरीर पर यक्ष का प्रभाव होने से उसे भूख-प्यास का कोई ध्यान नही आता ....पूरे राजगृह नगर मे हाहाकार मच गया। नगर के समस्त द्वार बन्द करवा दिये गए और सम्राट् की ओर से घोषणा हो गई कि कोई भी नगर के बाहर जाएगा, उसकी सुरक्षा का दायित्व शासन का नही होगा।

इधर अर्जुन का नरसहार का कृत्य चल रहा था। उसके विचारो मे यह बात घर कर गई थी कि यहाँ का शासन दूषित है- जहाँ दुष्टो को प्रश्रय मिल रहा है। वह जहाँ कही जो कोई व्यक्ति मिलता एक ही प्रहार मे उसे धराशायी कर देता। इस प्रकार उसने ११४१ व्यक्तियो की हत्या कर दी।

प्रभु महावीर का अनन्य उपासक—सुदर्शन :

इधर राजगृह नगर के वाहर उद्यान मे अहिसा एव समता की जीवन्त मूर्ति प्रभु महावीर का पदार्पण हुआ। नगर मे प्रभु के पदार्पण के समाचार फैल गए किन्तु अर्जुन माली के भय के मारे किसी की हिम्मत नही हो रही थी कि प्रभु के दर्शनार्थ नगर के वाहर जावे। नगर से वाहर निकलने का अर्थ था मौत को निमन्त्रण देना। इतनी हिम्मत कौन कर सकता था। यद्यपि भगवान् महावीर ने जिस राजगृह मे १४ वर्षावास व्यतीत किये उसमे प्रभु के अनेक अनन्य उपासक होगे। स्वय सम्राट् श्रेणिक प्रभु का परम भक्त था। किन्तु कोई भी व्यक्ति इतना आत्मवल-मनोवल नही वना पा रहा था कि मृत्यु की परवाह किये बिना निकल पडे, प्रभु चरणो मे वन्दन करने को........।

किन्तु ऐसा नही था—एक युवक सुदर्शन के अन्तर्मन मे भक्ति का सागर तरगायित होने लगा—उसके श्रद्धा समुद्र मे प्रभु दर्शन की हिलोरे उठने लगी। ज्यो ही उसने प्रभु के नगरी के वाहर आगमन का सवाद सुना, उसका मन मचल उठा प्रभु के प्रत्यक्ष दर्शन पाने को। उसने मौत की परवाह किये विना अपने पूज्य माता-पिता से निवेदन किया—"मै प्रभु के दर्शन-वन्दन को जाना चाहता हूँ।"

बन्धुओ! घटना बहुत विस्तृत है और अभी मूल पाठ एव उसके अर्थ के रूप मे आप सुन गए है। यहाँ तो हमे इतना ही चिन्तन करना है कि कितना आत्म-वल एव मनोबल था उस युवक मे। कितनी श्रद्धा भावना से आप्लावित थी उसकी अन्त चेतना........माता-पिता ने उसे बहुत समझाया कि बेटा, प्रभु सर्वज्ञ है—वे सब कुछ जानते—देखते है........तुम यही से उन्हे वन्दन करलो....... अभी नगरी के बाहर उपद्रव है, अत. जाने का निषेध है।

उस युवा बन्धु सुदर्शन ने कहा—पूज्य पितृजनो, प्रभु तो सर्वज्ञ है, वे तो मुझे देख रहे है—मेरी भक्ति को भी जानते है किन्तु मै तो सर्वज्ञ नही हूँ, मुझे प्रभु के प्रत्यक्ष दर्शन नही हो रहे है.... ...मुझे आप अनुमति दे—प्रभु दर्शन हेतु जाने की। मृत्यु तो यहाँ इस घड़ी भी आ सकती है, उसे रोका नही जा सकता। फिर उस मृत्यु के भय से मै प्रभु दर्शन से वचित रहूँ यह मेरी आत्मा स्वीकार नही करती........प्रभु दर्शन हेतु जाते समय यदि मृत्यु भी आ जाए तो सद्गति ही होगी।

हम जरा विचार करे—आज के परिप्रेक्ष्य मे। कहाँ तो वह युवा श्रावक जो मृत्यु के सामने होते हुए भी नगर वाहर दर्शनार्थ जाना चाहता है और कहाँ आज के युवक जो घर के सामने सन्त ठहरे हो तो भी दर्शन-वन्दन का लाभ नही

ले पाते। उस युवा बन्धु सुदर्शन ने अपनी अटल सकल्प शक्ति से माता-पिता का हृदय जोत लिया और चल पड़ा बेधडक प्रभु दर्शन-वन्दन को।

इसीलिये जैन कवियो ने युवक सुदर्शन के आत्मबल की प्रशसा के गीत गाए है—

सुदर्शन श्रावक पूरण प्रिय धर्मी श्री महावीर नो

(पूरा गीत परिशिष्ट न. १ में देखें)

श्रद्धा के दर्शन :

अचल आस्थानिष्ठ युवक श्रावक सुदर्शन अपने भवन से निकल कर नगर द्वार पर पहुँचा तो द्वार बन्द थे, किसी को भी नगर बाहर जाने की अनुमति नही थी। किन्तु जिसके रग-रग में धर्म रमा हो, शास्त्रीय दृष्टि से जो "अट्ठी मिज्जा धम्मपेमाणुराग रत्ता" के आदर्श का प्रतीक हो, वह इस निषेध को स्वीकार करने को तैयार नही था। उसने तत्कालीन सम्राट् श्रेणिक से अनुमति प्राप्त कर ली और द्वार खुलवा कर बढ गया अपने लक्ष्य की ओर। अपनी सामान्य गति से वह चला जा रहा था। न उसमे अपनी भक्ति का अहकार था और न किसी प्रकार के भय की चचलता। उसके अन्तरग मे प्रभु दर्शन का उल्लास हिलोरे ले रहा था। इधर नगर के कोट पर चढ़कर अनेक व्यक्ति उत्सुक होकर वह दृश्य देखने को आतुर थे—जो सम्भवित है। कुछ सुदर्शन की प्रभु भक्ति पर धन्य-धन्य के शब्द बोल रहे थे तो कुछ उसकी हँसी करने को बोल रहे थे—बडा धर्मात्मा बना है। जब अर्जुन आएगा तब नानी-दादी याद आएगी। धर्म का सारा ढोग निकल जाएगा। कोई कह रहा था—पूरे राजगृह में धर्मात्मा तो मानो यह एक ही है। इसे अपनी मृत्यु का भी भय नही है। कोई-कोई तटस्थ दृष्टा बनकर देख रहे थे।

आत्मबली सुदर्शन अपनी मस्त गति से चला जा रहा था कि सामने से कई दिनो का भूखा अर्जुन माली अपने हाथ मे हजार पल भार वाला मुद्गर घुमाता हुआ चला आ रहा था। सुदर्शन ने ज्योही अर्जुन को देखा—उपसर्ग का अनुमान लगाकर सागारी सथारा लेकर ध्यानस्थ हो बैठ गया। आगमिक पाठ के अनुसार वह प्रभु महावीर को परोक्ष रूप से वन्दन कर अपने व्रतो सम्बन्धी अतिचारो की आलोचना करके समाधि भाव मे लीन हो गया।

कदाचित् सुदर्शन के स्थान पर आज का कोई भक्त होता तो (यद्यपि इतना दृढ श्रद्धा वाला व्यक्ति आज मिलना कठिन है) भगवान् महावीर पर दोषारोपण करता कि मै तो आपके दर्शन करने आ रहा हूँ और मुझ पर यह उपसर्ग आ रहा है। क्या आप मे इतनी भी शक्ति नही है कि आप मेरे इस

उपसर्ग को दूर कर धर्म पर आने वाले कलंक को रोक दे........किन्तु सुदर्शन इतनी उथली श्रद्धा वाला नहीं था। उसने प्रभु से इस प्रकार की कोई प्रार्थना नही की कि भगवन्, आप मेरी रक्षा करे।

वास्तव मे वीतराग वाणी एवं आत्मबल पर सच्ची श्रद्धा हो तो विना पुकारे ही अनेकों देव चरणों मे नतमस्तक हो जाएँगे। किन्तु ऐसे विकट क्षणो मे हम आत्मबल के विश्वास पर स्थिर नही रह पाते है। न जाने कितने देवी-देवताओ को पुकार लेगे....इधर-उधर के शरण ढूँढते फिरेगे। केवल एक आत्म देव की शरण ले ले तो सभी वल उसके पीछे दौडे आएँगे।

निर्बल के बलराम :

वैदिक ग्रन्थो में एक उपाख्यान आता है—श्रीकृष्ण भोजन कर रहे थे। रुक्मिणी भोजन परोस रही थी। सहसा भोजन करते-करते श्रीकृष्ण वाहर भागे, किन्तु कुछ ही समय मे वे पुनः लौट कर चले आए। रुक्मिणी ने जिज्ञासा व्यक्त की "आप बाहर क्यों दौडे और वापस कैसे आ गये ?" श्रीकृष्ण ने कहा मेरे एक भक्त पर कष्ट आ गया था....... कुछ उद्दण्ड व्यक्ति उसको परेशान कर रहे थे ....वह असहाय था तो मै अपने भक्त को बचाने चला गया। किन्तु वापस इसलिये आ गया कि मै पहुँचा तब तक उसने भी हाथ में पत्थर-ढेले उठा लिये थे........फिर वह असहाय नही रहा........पत्थरो को उसने सहायक बना लिया।" इस वैदिक उपाख्यान के आधार पर ही कहा जाता है—

सुनेरी मैने निर्बल के बलराम—सुनेरी........
जब लग गजबल अपनो राख्यो, नेक सरयो नही काम।
निर्बल हो बलराम पुकारयो, आए आधे नाम—सुनेरी........

कहने का तात्पर्य यह है कि हम एक आत्मबल को आधार बनालें तो अन्य सभी वल अपने आप दौडे आएँगे। दृढ आस्था के धनी सुदर्शन ने आत्मवल का ही आश्रय लिया। उसने प्रभु को भी इस भाव से नही पुकारा कि वे रक्षा करे।

सुदर्शन आत्मस्थ हुआ जा रहा था कि अर्जुन जोरों से दहाड मारता हुआ निकट आ पहुँचा और उसने प्रहार हेतु मुद्गर ऊपर उठा लिया। दूर अट्टालिकाओं एव नगर कोट पर खडे लोगों मे विभिन्न भाव वन रहे थे। कोई सोच रहा था—हाँ, अव बच्चे की सारी भक्ति निकल जाएगी... ... अभी मुद्गर पड़ा नही कि कचूमर निकल जाएगा..... ..अभी इसके ढोंग का फर्दाफास हो जाएगा। कइयो के नेत्र फटे के फटे रह गए और कइयो के मुँह से सिसकारियाँ निकल रही थी—हे प्रभु यह क्या है ?

प्रेम–अहिंसा बल :

किन्तु सहसा सभी स्तब्ध रह गए कि मुद्गर ऊँचा उठा तो उठा ही रह गया। अर्जुन के लाख प्रयास करने पर भी वह नीचे नही गिरा। सुदर्शन के नेत्रो से प्रेम का अमृत बरस रहा था—जिसने अर्जुन की क्रूरता के समस्त विष को रूपान्तरित कर दिया या परास्त कर दिया।

बन्धुओ! प्रेम, करुणा, समता—अहिंसा में वह शक्ति है कि वह क्रूर-से-क्रूर प्राणी को बदल सकती है। प्रेम अथवा करुणा की एक जीवन्त घटना मैं आपके समक्ष रख रहा हूँ।

एक जीवन्त घटना :

घटना १५–२० वर्ष पूर्व की है—देशनोक निवासी श्री दीपचन्दजी भूरा (श्री अ. भा. वर्षीय साधुमार्गी जैन सघ के वर्तमान अध्यक्ष) के बड़े भाई थे श्री तोलारामजी भूरा। वे बड़े स्वाध्यायनिष्ठ श्रावक थे। लाखों की सम्पत्ति के स्वामी होने पर भी धर्म साधना पर इतनी श्रद्धा कि घर में ही पौषध शाला बना रखी थी। उनका व्यवसाय कलकत्ता एव आसाम करीमगज में था। उन्होंने स्वय मुझे अपना एक सस्मरण सुनाया—वे करीमगंज मे थे उस समय की घटना है–एक दिन वे प्रात काल स्नान करने बाथरूम मे गए। वहाँ कुछ अन्धेरा सा था…….उन्हे लगा कि कोई रस्सी पडी है, भीग जाएगी। अतः उन्होने उसे उठाकर बाहर फेक दिया। किन्तु फेकने के तुरन्त बाद उन्हे ज्ञात हुआ कि वह रस्सी नही, एक बहुत बडा सर्प था। ज्ञात होते ही वे भी बाहर चले आए। सर्प सन्नाटे के साथ भागने लगा। नौकर लोग भगे आए और कहने लगे—"बाबूजी, (उन्हे उधर में 'बाबूजी' शाह से ही सम्बोधित करते थे) आपने इस सर्प को छेड दिया है। यह सर्प अत्यन्त जहरीला है और साथ ही इस जाति का है कि इसको मार दिया जाए तो भी इसके खून की एक बून्द भी रह जाए तो यह पुनः बदला लेता है।" तोलारामजी ने कहा, "इसे जाने दो, कभी भी हो किसी भी जानवर को नही मारना। सर्प अपने रास्ते चला गया। सब लोग अपने-अपने कार्य मे लग गए। सन्ध्या के समय भोजन आदि से निवृत्त होकर तोलारामजी बाजार जा रहे थे, सूर्यास्त हो चुका था। आगे-आगे तोलारामजी जा रहे थे और पीछे-पीछे वह सर्प दौड़ा आ रहा था। लोगबाग घरो से निकल आए थे—बच्चे शोरगुल करने लगे, तोलारामजी ने पीछे मुड़कर देखा तो लगा कि कुछ व्यक्ति लाठियाँ लेकर आए है और सर्प को मारने वाले है। उन्होने क्षण भर रुक कर आवाज दी "खबरदार, कोई भी व्यक्ति सर्प पर हाथ नही उठाएगा, इसे आने दो।" उनकी बात को वहाँ कोई टाल नही सकता था। अतः लोग सब सर्प के पीछे-पीछे हो लिये।

तोलारामजी कुछ तेज कदमो से चलकर दुकान पर पहुँच गए। तीन-

चार सीढ़ियाँ थी, उन्हे चढकर पेढी पर वैठ गए और अपने सामने लैम्प रख दिया। उपस्थित सभी व्यक्तियो को यह कहकर ध्यान में वैठ गये कि सर्प मुझ पर चढ जाए, मुझे काट खाए तो भी आप लोग कुछ नही करेंगे।"

उन्होने ध्यान मे नमस्कार महामंत्र के साथ पूरे भक्तामर का पाठ किया। भक्तामर का ४१वां श्लोक है जो सर्प के भय का हरण करता है—

"रक्तेक्षण समद कोकिल कण्ठनीलं,
क्रोधोद्धतं फणिनमुत्फणमापतन्तम्
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशक:
त्वन्नाम नागदमनी हृदियस्य पुंसः ।।४१।।"

ऐसे ४८ श्लोक है भक्तामर मे। उन्हे इस पूरे पाठ में दस-पन्द्रह मिनट लगे होंगे, तब तक सर्प निकट आकर पहली सीढ़ी पर फन फैलाकर बैठा रहा। पचासो व्यक्ति लाठियाँ लिये, घेरा डालकर खडे थे। उनमे से कुछ ने निश्चय कर रखा था कि बाबूजी कितना ही मना करे यदि सर्प ऊपर चढा तो हम इसे मार देगे। किन्तु सर्प ऊपर चढा ही नही।

जब तोलारामजी ने ध्यान खोला और देखा कि सर्प सामने बैठा है, तो उन्होंने सर्प को सम्बोधित करते हुए कहा—"नागराज ! मैने तुम्हे जानकर नही छेड़ा है, मैने रस्सी समझकर तुम्हे फैंक दिया था........फिर भी मेरे कारण तुम्हे कष्ट हुआ है। तुम उसका बदला लेना चाहते हो, तो यह लो मेरा पैर, मेरे अगूठे को काट खाओ" और अपना पैर सर्प की ठुड्डी के सामने कर दिया। सर्प, जैसे नमस्कार करते है, उस तरह अपना फन झुकाकर दिवाल के सहारे-सहारे चला गया।

यह घटना स्वय तोलारामजी ने मुझे सुनाई थी। मुझे विश्वास नही हुआ तो मैने उनके मुनीमजी से पूछा—उन्होने कहा—"महाराज श्री, इस घटना को देखने वाले पचासो व्यक्ति थे, मै स्वयं वही था। हम सब तो सर्प से डर रहे थे, किन्तु सेठजी निर्भीक होकर बैठे हुए ध्यान करते रहे।"

अद्भुत शक्ति आत्मबल की :

वन्धुओ ! हम जरा चिन्तन करे—कितना मनोबल एव आत्मवल था तोलारामजी मे ! आज आप यहाँ सामायिक साधना मे बैठे है और कही आपके वीच मे चूहा दौड़कर आ जाये तो क्या होगा ? सव इधर-उधर भाग जाएँगे।

कहने का अर्थ यह है कि करुणादूत आत्मबल के आगे क्रूरतम पशु पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है। क्रूरता के विप को समत्व के अमृत मे वदला जा सकता है।

युवक सुदर्शन की अमृत वर्षी दृष्टि ने अर्जुन मे समायी हुई राक्षसी शक्ति को परास्त कर दिया। सुदर्शन मे प्रबलतम आत्मबल था, जिसके सामने दैविक बल को भी परास्त होना पडा। इसीलिये गीतिका मे कहा है—

आतमबल ही है....सब बल का सरदार आतम....
आतमबल वाला अलबेला, निर्भय होकर देता हेला,
लडकर सारे जग से अकेला, देता सबको हार। आतम....

(पूरा गीत परिशिष्ट न १ मे देखे)

बन्धुओ! क्या यह आत्मबल सुदर्शन मे ही था या आपमे भी है? आज का मनोविज्ञान कहता है कि हमारा पूरा शरीर ऊर्जा-शक्ति का केन्द्र है। मै एक दिन बता गया था—हमारे नेत्रो से, हाथ-पैरो की अगुलियो से एव मुँह से ऊर्जा निकलती है जो सामने वाले व्यक्ति को प्रभावित करती है। हमारी नमस्कार की प्राचीन पद्धति मे वन्दन करने वाला वन्दनीय के चरण के अगुष्ठ से अपना ललाट (आज्ञाचक्र का स्थान) लगाता है। इसका तात्पर्य है महापुरुषो के शरीर से—अगूठे से जो ऊर्जा प्रवाहित होती है वह वन्दनीय के प्रति सम्प्रेषित होती है। हम देखते है—कोई हमे प्रेम भरी दृष्टि से देखता है तो हमारे भाव कुछ और होते है और क्रूर दृष्टि से देखने वाले के प्रति भाव कुछ और ही होते है। इसका अर्थ इतना ही है कि हमारी आँखो से भी ऊर्जा का स्रोत बहता है। हम इस विषय को समझ नही पाते है कि हमारी कितनी ऊर्जा निरर्थक कार्यो मे वह जाती है।

आचार्य भगवन् दृष्टि सम्बन्धी ऊर्जा के विषय मे एक घटना का उल्लेख किया करते है—

अग्रेजी शासनकाल की घटना है। एक फक्कड़ सन्यासी ट्रेन मे बैठा था। वहाँ एक अग्रेज अफसर आया और कहने लग—"बाबाजी, इस डिब्बे से नीचे उतरिये। यह पूरा डिब्बा खाली रहेगा। इसमे मै अकेला ही बैठूँगा।"

सन्यासी ने कहा—"हमने पैसे दिये है, हम इसी मे बैठेगे।" आखिर अग्रेज अफसर ने पुलिस बुला ली तो सन्यासी स्वय उतर कर प्लेटफार्म पर बनी सीट पर बैठ गए और अपनी दृष्टि इजिन के ऊपर केन्द्रित कर दी। गाड़ी स्टार्ट हुई तो इजिन स्यूँ....स्यूँ की आवाज करने लगा किन्तु आगे नही बढा। तुरन्त दूसरा इजिन मगवाया गया किन्तु उसके ट्रेन में जुडते ही उसकी भी वही दशा हो गई। तीसरी की भी वही दशा। इजिन आते समय तो घना-घन तीव्र गति से आता है और वहाँ आकर खराब हो जाता है। अग्रेज अफसर परेशान हो गया कि आखिर बात क्या है? वह कर्मचारियो पर झल्ला रहा था—"मुझे शीघ्र पहुँचना है, तुम इजिन शीघ्र तैयार करो।"

कर्मचारी सभी हैरान थे। यहाँ आते ही इंजिन कैसे खराब हो जाता है? वे इंजिन की जाँच करने लगे....सहसा एक व्यक्ति ने देखा वह फक्कड़ संन्यासी इजिन पर दृष्टि गडाए बैठा है। उसने तुरन्त अफसर से कहा—"साहब, ये इंजिन उस सन्यासी ने रोक दिये है। देखिये उसकी दृष्टि के तेज को।" अफसर ने देखा तो दंग रह गया। संन्यासी के पास गया और नमस्कार की मुद्रा मे निवेदन करने लगा—"महात्मन्, आप चलिये गाड़ी मे बैठिये।"

महात्मा ने कहा, "नही, हमे नही बैठना है, आपकी गाड़ी मे। जाओ, ले जाओ, तुम अपनी गाड़ी को....।"

अफसर गिडगिड़ाने लगा—"महात्मन्, ऐसा मत करिये, हमें क्षमा करे... हमें पता नहीं कि आप मे इतनी शक्ति है कि आप इंजिन को भी रोक लेगे आप मे इतनी शक्ति है तो आप तो हमारा भी कुछ-से-कुछ कर सकते है।"

आखिर उस संन्यासी ने अपनी दृष्टि हटाई और फिर गाडी पहले ह इंजिन से चल पडी। यह है हमारी दृष्टि-ऊर्जा का चमत्कार। आज मन क चचलता के कारण हमारी सारी ऊर्जा विपरीत दिशागामी हो रही है। अन्यथ मन की शक्ति के द्वारा असम्भव दिखाई देने वाले सभी कार्य सम्भव ह जाते है।

पुद्गलों की शक्ति :

आज के विज्ञान ने तो पुद्गलों की भी अद्भुत क्षमता का आविष्कार क लिया है।

लेजर किरणो का आविष्कार हुआ है। उन किरणों से एक मिनिट हजारवे हिस्से मे आँख के ट्यूमर का ऑपरेशन किया जा सकता है। जब वा पुद्गलो मे इतनी शक्ति है तो आत्मबल की शक्ति का क्या कहना?

आत्मबल की विजय :

आत्मबली सुदर्शन ने देखा कि मुद्गर नीचे नही गिर रहा है, तो उ एक स्नेह भरी दृष्टि से अर्जुन की ओर देखा। उसके देखते ही यक्ष अप मुद्गर लेकर अदृश्य रूप से भाग गया और ६ माह का भूखा अर्जुन धडाम नीचे गिर पडा।

सुदर्शन ने जब देखा कि उपसर्ग टल गया है, तो उसने अपना ध्य खोला और सामने पड़े हुए अर्जुन को उठा लिया अपनी गोद मे।

देखिये, उस श्रावक के विवेक को। कितनी अनुकम्पा थी उसके ह में। सैकड़ों मनुष्यो की हत्या करने वाले—यही नही स्वय सुदर्शन की हत्य

लिये चले आ रहे उस जानी दुश्मन को भी उसने उसकी रक्षा हेतु गोद में सुला लिया और अपने उत्तरीय से उसको पवन करने लगा। आज हम देखते है कि कोई कुत्ता भी काट खाने वाला हो जाय तो उसे मारने को तैयार हो जाते है।

अर्जुन को जब होश आया तो वह अपलक अपने जीवनदाता उपकारी की ओर देखता ही रह गया....उसने सुदर्शन से पूछा—"भन्ते आप कौन है, कहाँ जा रहे है ?"

ज्ञात है आपको, सुदर्शन ने अपने परिचय मे क्या उत्तर दिया था ? उसने यह नही कहा कि मै एक श्री सम्पन्न सेठ का लड़का हूँ या मेरे पास इतना धन-वैभव है। उसने कहा—"मै एक श्रमणोपासक हूँ और प्रभु महावीर के दर्शन हेतु उद्यान मे जा रहा हूँ।" अर्जुन सहज भावो में बोल पडा—"क्या आपके भगवान् के दर्शनार्थ मै भी चल सकता हूँ ? क्या मुझ जैसे पापी का भी उद्धार आपके भगवान् कर देगे ?"

अब आप ही बताएँ ऐसे पापी को प्रभु के चरणो में ले जाना कि नही ? वास्तव मे प्रभु के चरणो मे पहुँचने का अधिकार पापियो को धर्मात्माओ से भी अधिक है। धार्मिक-तो-धार्मिक है ही, उसे उपदेश की जितनी आवश्यकता नहीं है जितनी पापियो के लिये है। अटल श्रद्धानिष्ट विवेकी सुदर्शन ने अर्जुन को बड़े स्नेह के साथ कहा—"अवश्य, आप भी प्रभु के चरणो मे चल सकते है। मुझे विश्वास है कि प्रभु आपका उद्धार अवश्य करेंगे।

और दोनो भक्त उठे प्रभु के दर्शनार्थ चलने को। इधर नगर की जनता ने आत्मबल का प्रभाव देखा तो स्तब्ध रह गई। श्रावकवर्य सुदर्शन के आत्मबल के सामने यक्ष खड़ा नही रह सका और अब अर्जुन को सुदर्शन प्रभु के चरणों मे ले जा रहा है, यह सवाद बिजली के करेन्ट की तरह राजगृह नगरी मे फैल गया। चारो तरफ सुदर्शन की जय जयकार होने लगी। नगर दरवाजे खुल गए और अब तो जनसागर उमड़ा पड़ा प्रभु के दर्शनार्थ।

धर्मशूर अर्जुन :

बन्धुओ ! घटना बहुत विस्तृत हो गई है। सक्षेप मे इतना ही कि सुदर्शन के साथ अर्जुन मालाकार प्रभु के चरणो मे पहुँचा और एक ही उपदेश ने उसकी आत्मा को जागृत कर दिया। सुदर्शन जैसा श्रद्धानिष्ठ भक्त पीछे रह गया और अर्जुन जैसा पापी आत्म कल्याण के लिये आगे बढ गया। प्रभु ने उसे दीक्षा दी।

दीक्षा लेते ही अर्जुन मुनि ने आजीवन बेले-बेले पारणा करने का अभिग्रह धारण कर लिया। कल का पापी हजारो व्यक्तियों को उत्पीडित एवं भयाक्रान्त बना देने वाला व्यक्ति आज सौम्य—मुनिवेश मे निकल पड़ता है। एक

गहरा पश्चाताप अपने पाप के प्रति अर्जुन को था । गीत की प्राचीन पक्तियाँ है—

धन्य अर्जुन मुनिवर दीक्षा लेइने चाल्या
गोचरी

(पूरा गीत परिशिष्ट न. १ मे देखे)

प्रभु का सिद्धान्त है—
"जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा"

जो कर्म मे शूर-पराक्रमी होता है वह धर्म मे भी पराक्रमी हो सकता है। अर्जुन के जीवन मे एक गहरा परिवर्तन आ गया था। वह अब कर्मशूर नही, संयम शूर बन गया। उसने अपनी सारी शक्ति को कर्मक्षय की प्रक्रिया मे नियोजित कर दिया। जब अर्जुन मुनि वेले के पारणे मे भिक्षा हेतु नगर मे जाते तो अनेक व्यक्ति उन पर व्यंग्य कसते—हत्यारा कही का—अब ढोग रचा रहा है—साधु वेश लेकर। कोई गालियाँ देते तो कोई मार-पीट करने तक को उद्यत हो जाते। किन्तु अर्जुन मुनि अब क्षमाशूर बन गए थे। वे यह सोचकर क्षमा भाव धारण करते कि—मैने तो इनके रिश्तेदारो को जान से समाप्त कर दिया, ये तो मुझे गाली ही दे रहे है या सामान्य-सा प्रहार ही कर रहे है।

बन्धुओ ! समय अधिक हो चुका है, अतः अब इस विषय को अधिक विस्तार मे ले जाने का अवसर नही है। किन्तु इन पर्युषण पर्वो के दिनो मे हम इन आगमिक उदाहरणो से कुछ शिक्षा ग्रहण करे। सुदर्शन के आत्मवल के अनुसार हम मे भी आत्मबल का जागरण हो। आज हमारा आत्मवल सोया हुआ है—ये पर्व उस आत्मबल के जागरण का सन्देश देने आए है।

आचार्य देव इस अर्जुन एव सुदर्शन के आख्यान का एक बहुत सुन्दर आध्यात्मिक रूप भी प्रस्तुत करते है। किन्तु आज उसे समयाभाव मे नही रख पा रहा हूँ।

आप इन उल्लेखों पर चिन्तन–मनन करे एव अपने सोए देवत्व को जगाएँ।

वस आज इतना ही....

□ □ □

६

साधना का मूल–निवृत्ति

[पर्युषण पर्व—षष्ठ दिवस]

महा पर्व पर्युषण जयकारी, ये दु:खहारी मंगलकारी।
मंगल घड़िया ये आई है, जन-जन मे हर्ष बधाई है ।।
फहरेगी धर्म ध्वजा प्यारी ।। महापर्व.... ।।

शक्ति के उपयोग की दो दिशाएँ

पर्वाधिराज पर्युषण के पवित्र दिवस चल रहे है। आज छठवा दिवस है। इन दिनो प्रवचन-श्रवण एवं साधना के माध्यम से आत्म ज्योति को प्रज्वलित करने का प्रयास अनवरत चल रहा है। तात्विक दृष्टि से आत्म ज्योति का दर्शन ही परमात्म दर्शन माना गया है। क्योकि आत्मा की सर्वोच्च अवस्था ही तो परमात्मावस्था है। किन्तु आत्म ज्योति के प्रगटीकरण के पूर्व आत्म-शक्ति-परमात्मशक्ति पर विश्वास-अचल आस्था का होना आवश्यक है और उसी आस्था-जागरण का सन्देश दे रहे है पर्युषण पर्व।

पर्व के ये दिन हमारे लिये एक प्रशस्ततम निमित्त बनकर उपस्थित हुए है। समय अपने आपमे एक सामान्य, किन्तु अमूल्य शक्ति है—तत्त्व है, उसका उपयोग हम दोनो दिशाओ मे कर सकते है। जिस समयावधि मे हम पतन की गहरी खाई मे गिरने का कार्य कर सकते है, उसी कालावधि मे आत्मोत्थान के शिखर का स्पर्श करने की साधना भी कर सकते है। केवल समय ही नही संसार की प्रत्येक शक्ति का उपयोग दोनों दिशाओं में हो सकता है। विध्वस एव निर्माण दोनो एक ही शक्ति के द्वारा अनुप्रेरित होते है। जिस अणु शक्ति का उपयोग विध्वस मे होता है उसी का सृजन मे भी हो सकता है। ठीक इसी प्रकार इन दिवसो के उपयोग की दृष्टि है। जो व्यक्ति अध्यात्म में रस लेते है वे इन क्षणों का उपयोग आत्म जागृति की दिशा मे कर लेते है और जो अध्यात्म के प्रति पूर्णतया निष्ठावान नही है वे इन्ही क्षणों मे कर्म बन्धन कर पतन की गहरी खाई मे भी गिर सकते है और ऐसे श्रद्धाविहीन व्यक्ति एक बार नही, सख्यातीत बार भी पर्युषण पर्व मना ले—आत्मकल्याण की दिशा मे गति नही कर सकते है। हमे भी इन पर्वो की प्रति वर्ष आराधना करते हुए कितने वर्ष व्यतीत हो गए है, किन्तु क्या हममे कुछ परिवर्तन हुआ है? यदि नही तो हमे पुन: अपना अन्तरावलोकन करना होगा। स्वय मे झांकना होगा। बताया जा चुका है कि

इन दिनो मे जितना अधिक हो सके हम विभाव से ऊपर उठकर स्वभाव में स्थित होने का प्रयास करे। इन आठ दिवसों के एक-एक क्षण का उपयोग अन्तरग रमणता के लिये समर्पित किया जाय।

जे आसवा ते परिसवा :

कल आपके समक्ष कुछ मौन की चर्चा की गई थी और बताया गया था कि शरीर, वाणी एवं मन की मौन मे मानसिक मौन का ही सर्वोत्तम स्थान है। मानसिक वृत्तियाँ विशुद्ध हो जाए तो हम बहुत अधिक कर्मबन्धन से बच सकते है। तीनों प्रकार की मौन सध जाए फिर तो कहना ही क्या—कर्मबन्धन के समस्त हेतु कर्म मुक्ति के हेतु बन जाए, संसार के समस्त संघर्ष-तनाव समाप्त हो जाएं। प्रभु महावीर ने आचाराग सूत्र मे कहा है—

"जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा"

जो आस्रव के अर्थात् कर्मबन्धन के द्वार हैं वे संवर अर्थात् कर्मबन्धन रोकने के साधन बन जाते है। जिस मानसिक, वाचिक एवं कायिक वृत्ति से कर्मों का बन्ध होता है उन्ही वृत्तियों से कर्मक्षय का कार्य भी हो सकता है। जैन साध्वाचार मे जो समिति-गुप्ति के रूप मे प्रवृत्ति-निवृत्ति का सन्देश है वह इसी बात की ओर सकेत करता है। कल बताया गया था कि प्रवृत्ति की ओर निवृत्ति की ओर बढने पर ही साधना में गति हो सकती है। हां इतना अवश्य है कि प्रारम्भ मे हम इन वृत्तियो पर संयमन न कर सके तो इन्हे अशुभ से शुभ मे लाने का प्रयास करें—यहा मन की मौन को जो सर्वश्रेष्ठ कहा गया है उसका अर्थ इतना ही है। कर्म बन्धन की प्रक्रिया मे मन की प्रमुख भूमिका रहती है और कर्म मुक्ति मे भी। आप जानते है कि विशिष्ट तन मन वाला संज्ञी मनुष्य ही मुक्ति की साधना कर सकता है और सातवी नरक जैसे क्रूर कर्मो का बन्धन भी मनवाला सज्ञी पचेन्द्रिय प्राणी ही कर सकता है।

शकराचार्य ने भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा है—

"मनसा कल्प्यतेवन्धः मोक्षस्तेनैवकल्प्यते।"

बन्धन और मुक्ति दोनो का प्रमुख साधन मन ही है। अतएव मन की वृत्तियो के साधने की चर्चा की जा रही है। जैसे सधा हुआ शिक्षित घोडा सवार के इशारे पर सही मार्ग पर गति करता है, ठीक उसी प्रकार मनोवृत्तियो के सध जाने पर वे अशुभ से शुभ मे गति करती हुई अन्त में साधना की पराकाष्ठा पर पहुँच कर शुभ से भी निवृत्त होकर अन्तर्मुखी बन जाएगी और अन्त मे अपनी चरम परिणति मे वृत्तियों की समस्त परिणतियां समाप्त हो जाएगी।

प्रवृत्ति के अभ्यास में निवृत्ति अस्वाभाविक :

आजकल हम प्रवृत्ति पक्ष के इतने अभ्यस्त हो गए है कि हमे निवृत्ति की चर्चा ही अटपटी लगती है। जैसे बहुत अधिक वाचाल व्यक्ति को १० मिनिट का मौन भी पहाड-सा लगता है। बस यही दशा हमारी निवृत्ति साधना की वनती जा रही है। किन्तु जो निवृत्ति मे जीने के अभ्यस्त हो जाते है उन्हे प्रवृत्ति मूलक समस्त व्यवहार निस्सार से लगने लगते है। चीन में एक ख्याति प्राप्त दार्शनिक हो गया है—लाओत्से। उनके जीवन का एक सस्मरण है—लाओत्से प्राय. प्रतिदिन अपने एक मित्र के साथ घूमने जाया करते थे। वे अपने मित्र के मकान के वाहर से एक निश्चित समय पर निकलते और मित्र चुपचाप उनके साथ हो जाता। वे अपने आपमें इतने लीन रहते कि मित्र के नमस्कार का उत्तर भी ५-७ मिनिट के अन्तराल से देते। दोनों मित्र बगीचे मे घूमते किन्तु किसी से कोई वात नही करता। यह मित्रता आपको बडी अजीब लगेगी, किन्तु जहा चित्त अन्तर की गहराइयो मे डुबकी लगाने लगता है वहां वाणी की मुखरता समाप्त हो जाती है।

एक दिन लाओत्से के मित्र का कोई रिश्तेदार व्यक्ति भी उनके भ्रमण में साथ हो गया। तीनों भ्रमण करते हुए उद्यान मे एक बेच पर बैठ गए। किन्तु दोनो की मौन को देखकर वह तीसरा व्यक्ति उकता गया। उससे मौन रहा नही गया। उसने चर्चा प्रारम्भ करते हुए कहा—"कितना सुहावना मौसम है ! कितना सुन्दर सूर्य है यह आजका !! कितनी मनोहर कलिया खिल रही है ! यह प्रभात कितना मनभावन लग रहा है !!!"

फिर भी दोनों मित्र शान्त अपने-अपने मे खोये बैठे रहे। किसने कोई प्रतिक्रिया नही की। समय हो जाने पर तीनों चले वहां से अपने-अपने निवास-स्थान की ओर। मार्ग मे जब मित्र अपने घर की ओर मुडने लगा तो लाओत्से ने उसे अलग बुलाकर धीरे से कहा—"यह कौन व्यक्ति है ? बडा वातूनी है, इसे कल से मत लाना—क्या हम नही देख रहे थे कि मौसम कैसा है—सूर्य कैसा खिला है और पुष्प कैसे सुन्दर है—व्यर्थ मे बोलने की क्या आवश्यकता है ?"

देखिये उस रिश्तेदार का इतना-सा बोलना भी लाओत्से को कितना अटपटा लगा और आज हम कितने वाचाल वने हुए है। अपनी वहुमूल्य ऊर्जा को किस प्रकार वर्वाद कर रहे है। हमारे पास वोलने को कुछ नही होगा तो निरर्थक चर्चा छेडकर समय पास करेंगे और कुछ नही तो—कितनी गर्मी पड़ रही है—कितनी वारिस आ रही है—आदि कोई न कोई चर्चा छेडकर ऊर्जा समाप्त करेंगे। जवकि जो वात हम कह रहे है उसे वह सामने वाला व्यक्ति भी जानता है—अनुभव कर रहा है। वास्तव में हम प्रवृत्ति में ही जीने के अभ्यस्त हो गए है। निवृत्ति से हमे चिड़-सी है। जवकि हमारा मूल लक्ष्य निवृत्ति से ही सिद्ध

होने वाला है। जव तक हमारा आत्मलीनता का अभ्यास नही वन जाता, हम साधना मार्ग मे व्यवस्थित गति नही कर सकते।

निवृत्ति का आनन्द-अद्भुत :

इन पर्वो के दिनो मे तो हम कम से कम प्रवृत्ति करे या प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर लौटें।

यह वात स्पष्ट है कि एक वार आपको निवृत्ति मे आनन्द आ गया तो फिर आपका मन प्रवृत्ति मे नही जाएगा। पहले आप अशुभ प्रवृत्ति से ऊपर उठकर शुभ प्रवृत्ति मे आये। पाप से हटकर पुण्य मे आये। फिर आप निवृत्ति मे स्थिर हो जाएगे। एक वार उसका आस्वाद आ गया, परमात्मभाव का दर्शन हो गया कि फिर वहा से पुन. प्रवृत्ति मे लौटने की इच्छा ही नही होगी।

उत्तर प्रदेश मे एक आलकारिक कथा प्रचलित है—मच्छरो का एक झुंड था, वहां पख वाले कुछ कीडे आ गये। पतगो ने देखा—ये हमारी जाति के नही है, तो उनसे कहा "चलो निकलो यहा से।" उन्होने कहा—"हम तुम्हारी जाति के है।" सभापति ने कहा "चलो सध्या का समय आ रहा है पता लग जाएगा।" सभापति ने सध्या को कहा—"शहर मे दीपक जले या नही ? पता करके आओ" और नकली पतगों का झुड गया और आकर कहा "दिये जल गये।" सभापति ने कहा "तुम पतगे नही हो। पतंगा तो ज्योति पर समर्पित हो जाता है। वह लौटकर नही आ सकता।" कीड़ो ने कहा "आप दूसरों की परीक्षा लीजिये।" असली झुड गया, वही समर्पित हो गया। दूसरे तीसरे को भेजा, सभी समर्पित हो गये—ज्योति पर। आखिर निर्णय हो गया कि तुम पतगे नही हो, कीडे हो। यह चित्रण जरूर आलकारिक है लेकिन रहस्य यह है कि असली भक्त भगवान को देखकर लौटता नही। असली साधक वही है। पर्युषण पर्व है इसमे असली नकली सभी तरह के भक्त आते है। किन्तु सभी की अन्तर चेतना कहां जागृत होती है ? आत्मदर्शन कहाँ फलित होता है ? इस पर्व पर ज्योति मे समर्पित नही हुए तो हम असली पतगे है या क्या है, अपने आपको पूछे। हम असली उपासक-भक्त वने। पूर्ण समर्पित हो जाये।

संकल्प रूपान्तरण का :

पानी जव सौ डिग्री गर्म होता है तभी वाष्प वनता है। ९९ डिग्री तक भी नही। ठीक इसी प्रकार जव तक हमारे भीतर पूर्ण रूप से (१०० डिग्री) तक समर्पण के भाव नही वनते हमारा परमात्म भाव के रूप मे रूपान्तरण नही हो सकता है और उसके अभाव मे हम आत्म शान्ति एवं मानसिक शान्ति प्राप्त

नही कर सकते । साधना की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के रूप मे यह आवश्यक है कि हमारे भीतर एक रूपान्तरण घटित हो ।

धर्मस्थान मे अथवा प्रवचन मे पहुँचते समय आप यह सकल्प लेकर पहुँचे कि हमे अपनी वृत्तियो को बदलना है—जीवन को बदलना है । किन्तु आधुनिक परिवेश मे तो ऐसा लगता है कि आप बाहर से ही यह सकल्प करके आते है कि कही महाराज हमे बदल न दे । हमारी कोई झूठ बोलने, ब्लेक करने—मिलावट करने आदि की आदत छुडा न दे ।

मूर्तिपूजक बन्धुओ मे एक परम्परा है कि जब वे मन्दिर में प्रवेश करते है तो "निसीहि-निसीहि" शब्द का उच्चारण करते है । इसका अर्थ होता है—मै ससार की समस्त प्रवृत्तियों का निषेध करके उन्हे बाहर छोड़कर आ रहा हूँ । अब मुझे रूपान्तरित होना है । बाहर से हटकर अन्तर में प्रवेश करना है । प्रवचन सुनने आते समय क्या आप भी निसीहि-निसीहि का उच्चारण करते है । क्या आप मे भी अपनी बुरी प्रवृत्तियो को बाहर ही छोड देने के सकल्प जागृत होते है ? आज कुछ इससे विपरीत ही देखने को मिलता है । आप पहले ही सकल्प लेकर आते है कि हमे अपनी यथावत् स्थिति मे कोई परिवर्तन नही करना है । हा, महाराज को बदला जा सके—अपने विचारो के अनुरूप तो अवश्य बदलने का प्रयास करेंगे ।

एक घटना—हम अपने को बदलना नहीं चाहते :

महाराष्ट्र मे एक सन्त हुए है—स्वामी एकनाथ । एक बार एकनाथ अपनी भक्त मण्डली के साथ तीर्थयात्रा को निकले । एक नामी चोर जो एकनाथ मे कुछ श्रद्धा रखता था, एकनाथ के पास पहुँचा और निवेदन करने लगा—"गुरुदेव ! मुझे भी इस यात्री दल के साथ रख लीजिये । मेरे भी कुछ पाप हलके हो जाएगे ।"

एकनाथ ने कहा—"नही भाई, मुझे मालूम है, तुम क्या धन्धा करते हो । तुम अपनी आदत से बाज नही आओगे और मेरे सहयात्री परेशान हो जाएगे । अत मै तुम्हे साथ नही ले जा सकता ।"

चोर गिडगिडाने लगा । उसने एकनाथ के पांव पकड़ लिये और कहने लगा—"गुरुदेव, ऐसा न करे—मुझ पापी को ऐसे न छिटके—मेरा भी कुछ उद्धार करदे... ।"

एकनाथ ने कहा—"एक शर्त पर मै तुम्हे साथ रख सकता हूँ । अभी हमारी यात्रा एक माह तक चलेगी । तुम कम-से-कम यह सकल्प करो कि एक माह तक चोरी नही करोगे ।"

चोर ने यह स्वीकार कर लिया और यात्री दल के साथ हो गया। दूसरे दिन प्रातःकाल ही लोग परेशान हो गए। किसी का लौटा गायव है तो किसी का टावेल। किसी का वैग गायव है तो किसी की टार्च। किसी की लगोटी गायव है तो किसी की पूजा सामग्री। सब लोग हैरान होकर इधर-उधर ढूंढने लगे। सहसा माहौल मे परिवर्तन आ गया। सभी की वस्तुएं मिल गईं, किन्तु एक-दूसरे की एक-दूसरे के सामान में। क्रमशः दूसरे एवं तीसरे दिन भी यही स्थिति रही। वस्तुए सवकी मिल जाती है किन्तु सभी को काफी परेशान होना पड़ता है।

स्वामी एकनाथ भी इस प्रकरण से विस्मित थे कि आखिर ऐसी मजाक कौन करता है? चौथे दिन रात्रि में एकनाथ जागृत रहे और उन्होने देखा कि रात्रि को एक वजे के आसपास एक आदमी उठा और लोगो का सामान टटोल रहा है। एकनाथ उठे और उस व्यक्ति का हाथ पकड लिया। ध्यान से देखा तो वही नामी चोर था। एकनाथ ने कहा, "भले आदमी, तुमने एक माह की तो प्रतिज्ञा कर रक्खी है कि मै चोरी नहीं करूगा, फिर यह क्या कर रहे हो?"

चोर ने सहमते हुए कहा—"गुरुदेव, मैं चोरी कहां कर रहा हूँ। मैं तो इधर का सामान उधर रख रहा हूँ। वह भी इसलिये कि कही मेरा चोरी करने का अभ्यास छूट न जाए, क्योकि एक माह वाद तो मुझे पुनः अपना धन्धा करना होगा।"

वन्धुओ! इस घटना के भाव तो आप समझ गए होगे। कही आप भी अपने अभ्यासक्रम को वैसा का वैसा बनाए रखने का सकल्प लेकर तो नही आते है—प्रवचन श्रवण करने को! यह बहुत विचारणीय विषय है। इन आध्यात्मिक पर्व-दिवसो मे आप इस पर कुछ चिन्तन करें। आज के आम व्यक्ति का एक कदम धर्म की ओर बढ़ता है तो पुन. दस कदम पाप की ओर बढ जाते है। आप ही बताइये जिस व्यक्ति को पूर्व मे जाना हो वह दो कदम पूर्व की ओर जाकर पुनः दस कदम पश्चिम की ओर बढ जाता है, तो क्या वह कभी अपने गन्तव्य को प्राप्त कर सकेगा? आज आप परिवार, समाज, सत्ता, सम्पत्ति, पूजा-प्रतिष्ठा के लिये दस कदम की तरह बहुत समय देते है किन्तु आत्म साधना के लिये—स्वय के लिये कितना समय देते है? २४ घण्टो मे आप २४ मिनिट भी अपने लिये नही दे पाते तो आपको क्या अधिकार है कि आ आत्मशान्ति की कामना अथवा चर्चा भी करे।

आप इसे कुछ सरलता से समझे—आप परिवार की सुन्दरतम व्यवस्था के के प्रति जागृत है। आप एक नही, कई पीढियो के लिये सुख-समृद्धि जुटाने के लिये समर्पित है। अपने लडके-पोतो के लिये सव कुछ करने को तत्पर है। समाज के लिये भी कुछ करने को तैयार है किन्तु अपने साधनात्मक कार्यों के लिये आपके मन मे कितनी जागृति है?

हमारा प्रत्येक क्षण आत्म जागरण का हो :

वास्तव में यह जीवन परिवार-समाज जागरण के लिये नहीं आत्म जागरण के लिये मिला है। आत्म जागरण के बाद जो कुछ परिणति होगी वह परिवार की क्षुद्र परिधि को लांघकर विश्वकल्याण के प्रति समर्पित होगी। इन दिनों मे आप इतना तो चिन्तन करे कि इस वर्ष मैने अपने जीवन के अमूल्य क्षणो मे से अपने लिये कितने क्षणो का उपयोग किया। परिवार की सुख-समृद्धि के लिये दिये गए समय का पाच प्रतिशत भी समय आपने अपने लिये दिया है ?

यहा अभी आप सभी प्राय: श्रेष्ठि ही श्रेष्ठि बैठे हैं। आप जरा व्यापारी बुद्धि से विचार करें। श्रेष्ठि कहला लेना सरल है किन्तु सेठ-श्रेष्ठि बन जाना सरल नही है। श्रेष्ठि श्रेष्ठता का प्रतीक होता है। आज आप अपना आत्म-निरीक्षण करे कि आपमें कौनसी श्रेष्ठता है ? धन कमाने की कला को ही श्रेष्ठता माने तो बात अलग है। अन्यथा आप किन अर्थो मे श्रेष्ठ है, यह एक प्रश्नवाचक चिह्न है। आज आपका अधिकाश समय अर्थोपार्जन मे जाता है। आप यह भी नही विचार करते है कि जिस परिवार के लिये धन एकत्रित कर रहे है, उस परिवार के प्रति धन के अतिरिक्त और भी आपके कुछ दायित्व है। आप धनोपार्जन मे ही लगे रहे और अन्य सभी दायित्वो को भूल जाए, यह कहा तक उचित है ? जिन बच्चो के व्यावहारिक शिक्षण की इतनी व्यवस्था करते है, क्या उनमें धार्मिक सस्कार डालने का भी प्रयास करते है ? कभी १०—२० मिनिट का समय भी आप अपने बालको मे धर्म सस्कार देने के लिये निकालते है ? यदि आप अपने बालको के लिये २४ घण्टो मे दस-बीस मिनिट भी नही दे पाते तो आप किस आधार पर यह आशा करे कि आपके बालक मातृ-पितृ भक्त बनेंगे ? आप तो अपने बच्चो को अतिशीघ्र इग्लिश मैन बनाने के लिये अथवा पैसे कमाने की मशीन बना देने के लिये कान्वेन्ट आदि इग्लिश स्कूलो मे भरती कर देते है और निश्चिन्त हो जाते है। आप पीछे यह नही सोचते कि इग्लिश स्कूल मे पढकर इन्सानियत के सस्कार लेकर आपके बालक भारतीय सस्कृति के साथ क्या व्यवहार करेगे ?

जरा विचार कीजिये। अपने बालकों मे धर्म के—अध्यात्म के सस्कार डालिये अन्यथा अपनी वृद्धावस्था मे आपको ही पछताना पड़ेगा।

अन्तगड-विवेचन :

अन्तगड सूत्र के आगमिक विवेचन में आपके समक्ष सुदर्शन एवं अर्जुन की चर्चा चल रही थी। सुदर्शन मे कितने गहरे धार्मिक संस्कार थे। वह अपने प्राणों की परवाह किये बिना चल पडा प्रभु के दर्शन को। आज के भक्तो की स्थिति है—

खाते पीते हरि मिले तो हमको भी कहना ।
शीष दिये जो हरि मिले तो चुपके ही रहना ।।

ससार के सारे ऐशोआराम करते भगवान मिल जाएं तो ठीक हे । जहा मौत सामने नाच रही है, वहा निर्भीक होकर आगे बढना—प्रभु दर्शन के लिए, तो समझे कि हमारे भीतर भक्ति का भाव लहरा रहा है ।

सुदर्शन की चेतना मे भक्ति का सागर लहरा रहा था । उसकी आन्तरिक ऊर्जस्विल भक्ति धारा ने दैविक शक्ति को परास्त कर दिया और अर्जुन की आत्मसाधना मे एक महानतम निमित्त का कार्य किया । उसे प्रभु के चरणो मे ले गए जहा प्रभु की एक ही अमृत देशना ने अर्जुन के सोए हुए देवत्व को जगा दिया । अर्जुन की दृष्टि बदली तो उसकी सृष्टि ही बदल गई ।

बौद्ध साहित्य में भी एक इसी प्रकार की घटना का उल्लेख मिलता है। उसमें अगुलीमाल नामक खूंख्वार चोर, जो इन्सान की अंगुलियो की माला पहना करता था, गौतम बुद्ध के उपदेश से बदल जाता है और मुनि बन जाता हे । ये घटनाए हमारे समक्ष यह दृष्टि प्रस्तुत करती है कि क्रूरतम व्यक्ति भी महान आत्माओ का स्पर्श पाकर रूपान्तरित हो सकता है ।

अर्जुन का सम्पूर्ण जीवन रूपान्तरित हो गया । अब वह क्षमाशील मुनि बन गए । बेले के पारणे मे शहर मे भिक्षार्थ गए तो वचनो के ही नही हाथी एव अन्य अस्त्रो के भी प्रहार होने लगे—कोई कहता इसने मेरी मा को मारा है। कोई कहता मेरे भाई, बहिन, पिता, चाचा आदि को मारा है । ये हत्यारा आज मुनिवेष लेकर आ गया है । किन्तु अर्जुन मुनिवर ने क्षमा का अस्त्र अपने हाथ मे लिया और छ माह की अल्प साधना मे समस्त कर्मो का क्षय कर मुक्ति प्राप्त करली ।

कथा का आध्यात्मिक रूप .

इस आगमिक आख्यान का एक आध्यात्मिक रूप भी है—ललित गोष्ठी के छ गोठिलो के समान पाच इन्द्रिया और छट्ठा मन ये शक्तिया बुद्धि या सन्मति रूप बन्धुमती को भ्रष्ट करना चाहते है । ऐसी स्थिति मे अज्ञान तपादि के रूप मे अर्जुन और यक्ष की शक्ति इन्हे नष्ट करते है, किन्तु जब सुदर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शनरूपी आत्मबल आता है तो इन सभी का सम्यग् नियन्त्रण हो जाता है और आत्मा की मुक्ति हो जाती है । अर्जुन के इस आख्यान से एक सहज जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि अर्जुन ने इतना बडा हिसाकाण्ड यक्ष के सहयोग से किया तो इसमे पाप अर्जुन को लगा या यक्ष को ?

इस जिज्ञासा का समाधान भी सहज है, आप इसे एक उदाहरण द्वारा समझे। एक व्यक्ति ने किसी की हत्या करने को कोई तलवारादि शस्त्र मागा और दूसरे व्यक्ति ने उसे शस्त्र दे दिया। उस तलवार से होने वाली हिसा का पाप किसको लगेगा ? उत्तर सीधा है—पाप दोनो व्यक्तियों को लगेगा किन्तु उसमे अन्तर अवश्य होगा। मारने वाले को स्पष्टतया अधिक पाप लगेगा, तलवार देने वाले को कम। ठीक इसी प्रकार अर्जुन को अधिक एवं यक्ष को कुछ कम पाप लगेगा। अर्जुन में अत्यन्त विवशता के साथ अत्यन्त क्रूरता प्रवेश कर गई थी अत. उसे अधिक पाप लगना स्वाभाविक है। आप अपने जीवन व्यवहार के विषय मे भी इसी आधार पर कुछ चिन्तन करें। आप दुकान पर बैठे व्यापार कर रहे है और महिलाएँ घर मे भोजनादि की व्यवस्था करती है। अब इसमे पाप किसको कम-ज्यादा लगेगा ?

अन्तगड सूत्र में जीवन व्यवहार के ऐसे अनेक दृष्टिकोण सन्निहित है जिन्हें हम केवल सुनकर ही नही रहे उन्हे, अपने जीवन व्यवहार मे ढालने का प्रयास करे तो सहज ही हम दुःख एव सघर्षो से बच सकते है।

एवन्ता कुमार का आकर्षण :

आज जो विषय आपने आगम के मूल पाठ एव उसके अर्थ मे सुना वह भी बहुत मार्मिक प्रसग है। एक नन्हा-सा बालक किस प्रकार आत्म-साधना के पथ पर बढ चलता है। पोलासपुर के महाराजा विजय सेन एव महारानी श्रीदेवी का आत्मज एवन्ता कुमार अपने हमजोली बाल-साथियो के साथ खेल रहा था। उम्र होगी कोई ८-९ वर्ष। खेलते-खेलते उसकी दृष्टि राजमार्ग की ओर गई तो उसने देखा एक दिव्य तेजो-पुन्ज महात्मा श्वेत वस्त्र धारी एव मुख पर वस्त्रिका लगाए चले जा रहे है। बालक के पूर्वजन्म के तथा माता-पिता द्वारा प्रदत्त सस्कारो का जागरण हुआ। अपनी भिक्षाचर्यारत महामुनिगणधर गौतम के प्रति उस बालक के मन में आकर्षण जागृत हुआ—वह बाल्यस्वभाव-प्रिय अपना खेल छोडकर दौडा आया गौतम के पास और बड़े जिज्ञासा भरे स्वरों मे पूछने लगा—"आप कौन है ? कहाँ से आए है और अब कहाँ जा रहे है ?"

उस नन्हे बालक की आन्तरिक जिज्ञासा को देखकर प्रभु गौतम ने सहज-सा उत्तर दिया—"मै प्रभु महावीर का शिष्य हूँ। प्रभु महावीर नगरी के बाहर उद्यान मे विराज रहे है। मै वही से उनकी अनुमति लेकर भिक्षार्थ शहर में जा रहा हूँ। वहाँ विभिन्न घरो मे भ्रमण कर मै भिक्षा ग्रहण करूँगा।"

"ओहो ! आप जैसे तेजस्वी महात्मा को भी भिक्षा के लिये घर-घर घूमना पडता है। नही, यह उचित नहीं है, चलिये आप मेरे घर पर, मेरी माँ आपको बहुत भिक्षा देगी" कहते हुए अतिमुक्तक कुमार (एवन्ता) ने गौतम प्रभु की अगुली पकड ली।

गौतम स्वामी बच्चे के भावुक मन को तोड़ नही सके। उन्होने अपनी अंगुली छुडाने की चेष्टा नही की और चल पडे उसके साथ। एवन्ता कुमार अगुली पकडे-पकडे ही उन्हे अपने महलो मे ले गया। उस वालक मे कितना आत्म-विश्वास था कि मेरी माँ इन्हे अवश्य भोजन देगी। उसमे वैसे ही उदात्त एव उदार सस्कार पड़े हुए थे।

मातृ-पितृ दायित्व :

आज के माता-पिता सस्कारों के प्रति कहाँ सजग है। अपने वालको मे कैसे सस्कारो का आरोपण करना चाहिए, इसका विचार आज पालक कहाँ करते है? वैसे बहुत से बच्चों मे ये संस्कार होते है कि वे मुनिराजो को आहारादि देने के लिए जिद्द करते है कि हम भी देगे। यदि उन्हे नही दिया जाने दे तो वे रो पड़ते है। वे सस्कार उन्हे माता-पिता की उदार वृत्ति से प्राप्त होते है। माता-पिता का मन विशाल हो—उदार हो तो वालको मे सहज ही उदारता के सस्कार आ जाएँगे। बालको में किस प्रकार के सस्कार आएँ? इसके लिए माता-पिताओ की सजगता नितान्त आवश्यक है। मै कई वार कहा करता हूँ कि आज अन्य किसी क्रान्ति की जितनी आवश्यकता नही है उतनी "संस्कार क्रान्ति" की आवश्यकता है। इस क्रान्ति की आज प्रत्येक ग्राम-नगर एव घर-घर मे आवश्यकता है।

बालक की प्रवृत्ति माँ के प्रति समर्पित :

बालक एवन्ता कुमार जब गौतम स्वामी को अपने राजमहलो मे ले गया और उसकी माँ महारानी श्रीदेवी ने दूर से देखा कि आज मेरा लाल एक बहुत बडी जहाज लेकर आ रहा है, तो वह हर्ष से गद्गद् हो गई। प्रफुल्लितमना वह आसन से उठकर मुनिराज के सामने गई—वन्दन किया और उन्हे रसोई घर मे ले गई। वह अपने लाल से कहने लगी—"राजा बेटे! आज तू यह तिरण-तारण की जहाज कहाँ से ले आया? बेटा! तू बहुत भाग्यशाली है जो ऐसे महा-अणगार को अपने घर ले आया है। बेटा, मै तुझे इसके बदले मे क्या दूँ? तीन लोक की सम्पदा भी इस महालाभ के सामने तुच्छ है।" गीत की पक्तियाँ है—जो आपकी चिर-परिचित है किन्तु है बडी भावपूर्ण—

एवन्ता मुनिवर नाव तिराई बहता नीर मे
अहो वालडा महापुनवन्ता, भली जहाज घर लायो!
उलट भाव से हर्षित होने, अन्नपाणी वहरायो जी........एवन्ता........

वताइये, उस वालक का मन कितना आनन्द विभोर हो रहा होगा? जिस वालक के माता-पिता अपने वालक की किसी भी प्रवृत्ति से खुश होते है, वालक की उसमे सहज ही रुचि वढ जाती है। अपनी माँ को अपने किसी भी

कार्य में खुश हुआ देखकर बालक आनन्दित हो उठता है। आप देखते है—बहुत से बच्चे वन्दन तो मुनियो को करते है किन्तु देखते अपनी माँ की ओर कि माँ खुश हो रही है या नही ?

बालक अतिमुक्त कुमार अपनी माँ को प्रसन्न देखकर आनन्द-विभोर हो उठा। वह भी माँ के पीछे-पीछे रसोई घर मे गया। वहाँ माँ ने प्रभु गौतम को बडे उदात्त एवं हर्षित भावो से भिक्षा दी। बालक अतिमुक्त ने भी भावुकतापूर्वक दान दिया।

जब भिक्षा लेकर गौतम पुनः लौटने लगे तो एवन्ता कुमार ने पूछा—"भगवन् ! अब आप कहाँ जा रहे है ?"

"मै मेरे धर्मगुरु प्रभु महावीर के चरणो मे जा रहा हूँ। वहाँ उन्हे भिक्षा बताकर फिर पारणा करूँगा।" गौतम स्वामी ने मधुर शब्दों मे छोटा-सा उत्तर दिया।

"क्या आपके भगवान् की सेवा मे मै भी चल सकता हूँ ?" जिज्ञासा भरे स्वर मे एवन्ता ने पूछा। गौतम ने सहज वात्सल्य से कहा—"क्यों नही, भगवान् की सेवा–पर्युपासना मे कोई भी आ सकता है। वहाँ सभी को समान उपदेश मिलता है।

अतिमुक्त प्रभु चरणों में :

अतिमुक्त कुमार जिज्ञासाभरी आँखो से माँ की ओर देखने लगा, बोला—"माँ ! मै भी जाऊँ भगवान् के दर्शनो के लिये ?" माँ श्रीदेवी ने देखा–मेरे लाल के अन्तर्मन मे धर्म के प्रति एक गहरी जिज्ञासा ही नही, अभिरुचि भी जागृत हो रही है। इस समय इसकी अभिरुचि को रोकना उचित नही होगा—और उसने सहज स्वीकृति दे दी—"हाँ लाल, जाओ—प्रभु के दर्शन करके अपने तन-मन को पवित्र बनाओ।"

श्रीदेवी के स्थान पर आज की कोई माँ होती तो क्या करती ? या तो वह कहती—बेटा अभी नही, जब हम जाएँगे तभी तुम्हे भी साथ मे ले जाएँगे—या कहती, बेटा अभी तो तू भूखा है, कुछ खा-पी ले फिर जाना—दर्शनो को भगवान् तो अभी उद्यान मे बिराजेंगे ही। कोई माता उसे गेन्द का प्रलोभन दे देती कि जाओ यह गेंद खेलो।

किन्तु श्रीदेवी अपने मातृकर्तव्यो एवं अध्यात्म कर्तव्यो को अच्छी तरह समझती थी। वह यह जानती थी कि ऐसे ही अवसर आते है जिनमे बच्चो मे धर्म के सस्कार आ सकते है। आज आप भी जरा इस विषय पर चिन्तन करे। आप अपने बच्चों को कितना लाते है सत्समागम मे ? अभी तो पर्वाधिराज के दिन चल रहे है। इन दिनो तो यह प्रयास हो कि घर का प्रत्येक सदस्य

सत्समागम एवं प्रवचन श्रवण का लाभ ले । कोई भी इस अमूल्य अवसर से वंचित न रहे । अभी इसी ओसवाल भवन (धर्म स्थानक) मे कोई भोज दिया जाय, टी पार्टी दी जाए और सभी को आमन्त्रण मिले तो कितने व्यक्ति घर पर या दुकान पर रहेगे ? शायद ओसवाल भवन मे जगह ही न मिले ।

बन्धुओ ! आप अपने कर्तव्यों को समझे । धर्म कर्तव्यो के साथ सस्कार आरोपण के पारिवारिक कर्तव्यो को भी समझे । अन्तगड सूत्र का एक-एक ऐतिहासिक उल्लेख हमारे सामने जीवन की दृष्टियाँ खोलकर रख रहा है ।

एवन्ता कुमार—वह आठ-नौ वर्ष का बालक गौतम स्वामी के साथ हो गया प्रभु के चरणो मे पहुँचने के लिए । उन्ही चिरपरिचित पक्तियो मे कहा है—

लारे लारे चाल्या कवर जी, भेट्या भागसुभाग
भगवन्ता री वाणी सुणने, आयो मन वैराग जी ।।एवता।।

मातृ ममता एव खाने-खेलने आदि के समस्त विचारों को छोडकर वह भगवान् महावीर के चरणो मे पहुँच गया । प्रभु ने अवश्यम्भावी भाव के आधार पर उस नन्हे बालक को भी अपने सरल-सरस उपदेश मे संसार की असारता एव जीवन की क्षण-भगुरता का सन्देश दिया । प्रभु के ज्ञान मे यह स्पष्ट था कि यह बालक चरम शरीरी आत्मा है । अत उसे प्रबोधिक करने के लिए जन्म जीवन-मृत्यु का सुन्दर चित्रण करने के साथ ही यह भी स्पष्ट किया कि यह मानव जीवन का ही एक अवसर है जिसके द्वारा हम मुक्ति की साधना करके ससार के दु खो से मुक्त होकर परम आनन्द-शाश्वत शान्ति प्राप्त कर सकते है साथ ही जीवन के एक श्वास का भी विश्वास नही किया जा सकता है—किस क्षण मृत्यु घेर ले, इसका कोई भरोसा नही, अत· आत्म-कल्याण के कार्य मे विलम्ब करना अपने आप के प्रति अन्याय करना है ।

विरक्ति की वीणा झंकृत हो उठी :

वीर प्रभु की वाणी का एक-एक शब्द एवन्ता कुमार के अन्तरंग मे बैठता चला गया । उसकी चेतना के तार झंकृत हो उठे । उसका हृदय गद्गद् हो गया वह एकटक प्रभु-वचनो को सुनता गया—अपने अतरग मे पीता गया । उसकी आत्मा मे विरक्ति की वाणी के स्वर गू ज उठे । प्रवचनामृत पान के बाद वह उठा और प्रभु के उपपात-निकट उपस्थित होकर निवेदन करने लगा—"भगवन् मुझे आपकी वाणी अमृत से बढकर लगी है । मुझे इस पर प्रतीति है । मै आपके चरणो मे समर्पित होना चाहता हूँ—आत्मकल्याण के लिये आपकी शरण चाहता हूँ ।"

प्रभु ने अपनी सहज गम्भीर मुद्रा मे कहा—"अहा सुह देवाणुप्पिया मा पडिबंध करेह—तुम्हे जैसा सुख हो वैसा करो किन्तु ऐसे शुभ कार्य मे विलम्ब मत करो ।"

बन्धुओ ! प्रभु के उपदेश मे कितनी निस्पृहता झलकती है । उनका हर व्यक्ति के प्रति यही उत्तर होता था कि जैसा तुम्हे उचित लगे, करो । किन्तु उनका मुख्य सकेत होता था कि आत्मसाधना जैसे पुनीत कार्य में विलम्ब नही होना चाहिए । प्रभु ने उसे आठ-नौ वर्ष के बालक को भी यही सन्देश दिया ।

एवन्ता कुमार प्रभु को विधिवत् भावपूर्ण वन्दन करके अपने महलो मे लौट आया और माँ से निवेदन करने लगा । उन्ही भावो का सवाद है गीतिका मे—

माँ-पुत्र का संवाद :

एवन्ता-माता एक सुनाता हूँ, दीक्षा लेने जाता हूँ
आज्ञा दो मैया ।

श्रीदेवी—अहो बेटा लालजी,
एवन्ता कुमार जी, ईसो काई बोल्या इस्सी काई बोल्या........

एवन्ता—गौतम प्रभु की अंगुली पकडी गया वीर के पास—
गया वीर के पास

श्रीदेवी—पावन हो गए चरण रे तेरे धन्य-धन्य शाबास
धन्य-धन्य शाबास

(पूरा गीत परिशिष्ट न १ मे देखे)

एवन्ता कुमार अपनी माँ से कहने लगा—"माँ, आज मै प्रभु महावीर के चरणो मे गया ।" माँ कहती है—"लाल, तेरे चरण पवित्र हो गये ।"
"माँ, मैने प्रभु के दर्शन किये ।" "लाल, तेरे नेत्र पवित्र हो गये ।"
"माँ, मैने प्रभु की वाणी सुनी ।" "लाल, तेरे कान पवित्र हो गये ।"
"माँ, मैने उस वाणी को हृदय मे उतार लिया है ।"
"लाल, तेरा हृदय पवित्र हो गया ।" "माँ, मै अब उस वाणी को जीवन के कण-कण मे, प्रत्येक श्वास मे रमाना चाहता हूँ—मै अब प्रभु के चरणो मे दीक्षित होना चाहता हूँ ।"

अपने दुधमुहे लाल की अन्तिम बात सुनते ही तो माँ की ममता जाग उठी—श्रीदेवी हठात्-मूर्छित होकर गिर पडी । नौकर-चाकर दौड़े आए, पवन-पखा करने लगे । जब महारानी श्रीदेवी को होश आया तो उसने देखा—उसकी आँखो का तारा-निस्पृह भाव से अनासक्त योगी-सा खडा है, वह बोली—"बेटा, जाओ, यह अच्छी गेन्द ले जाओ, अभी तो खेलो, फिर बडे हो जाओ तब दीक्षा ले लेना । अभी तुम क्या समझते हो दीक्षा क्या होती है ?"

एक अबूझ पहेली .

आपको आश्चर्य होगा यह जानकार कि उस छोटे से बालक ने अपनी माँ को क्या सुन्दर उत्तर दिया—वह कहता है—

जं चेव जाणामि त चेव न जाणामि
ज चेव ण जाणामि त चेव जाणामि

उसी बात को हिन्दी गीतिका मे कहा है—

जाणू सो नही जाणू माता, नही जाणू सो जाणू
जाणू जरूर मरूँगा माता—कब मरूँ नही जाणू
कहाँ जाऊँगा यह नही जाणू, यथा कर्म पहीचानू
माता एक सुनाता हूँ..........

(पूरा गीत परिशिष्ट १ में देखें)

"मातेश्वरी, आप कहती है कि मै दीक्षा मे क्या समझता हूँ किन्तु माँ, मै आज ही अभी-अभी प्रभु की अमृत देशना सुनकर आया हूँ। अब तो मेरी मन:स्थिति ऐसी है कि मै जिसे जानता हूँ उसे नही जानता और जिसे नही जानता हूँ उसे जानता हूँ।"

अपने आँखो के तारे की यह पहेली भरी वाणी सुनकर माँ स्तब्ध रह गई। वह पूछने लगी—"बेटा ! तू यह क्या पहेली बुझा रहा है तेरी बात मेरे समझ मे नही आई ?"

"माँ—मै आज ही प्रभु से जीवन-जन्म-मरण की व्याख्या एव उसके स्वरूप को समझकर आया हूँ। माँ, मै यह जानता हूँ कि मै अवश्य मरूँगा। क्योकि ससार मे जो जन्म लेता है वह अवश्य मरता है। मुझे भी मरना है, किन्तु मैं यह नही जानता कि मुझे कब मरना है—मै कब मरूँगा ? जीवन का एक पल का भी भरोसा नही कि कब मौत आकर दबोच ले। अत: जीवन को जितना शीघ्र हो सके, साधना मे लगा देना चाहिये। दूसरी बात मै यह नही जानता कि मै मरकर कहाँ जाऊँगा, किन्तु यह तो जानता हूँ कि मै जैसे कर्म करूँगा वही जाऊँगा। अच्छे कर्म करूँगा तो अच्छी गति मिलेगी। अत जब मुझे समझ मे आ गया कि यह जीवन अच्छे कर्म करने को मिला है, तो फिर ससार के राग-द्वेषात्मक कर्म क्यो करूँ ! अत: हे मातेश्वरी, अब आप इस ममता-मोह बन्धन को छोडो और मुझे स्वय चलकर अनन्त उपकारी प्रभु महावीर के चरणो में समर्पित करो। अब मुझे यह कपडे की अथवा रबर की गेन्द नही चाहिये, जो कि कर्म बन्धन मे डालती है। मुझे तो ओघा, पात्रा चाहिए।

मरणो जाणणो :

बन्धुओ ! हम जरा विचार करें। उस बालक ने प्रभु का केवल एक ही उपदेश सुना और उसने जीवन और मरण को आन्तरिकतापूर्वक समझ लिया, और हम है कि ५०—६० वर्षो से प्रवचन सुन रहे है, प्रतिदिन अपनी आँखो के सामने मरते हुए एवं खाली हाथ जाते हुए लोगो को देखते रहे है, किन्तु क्या हमारी चेतना मे जागरण आता है ? हम मरण के स्वरूप को समझते है ?

उदयपुर महाराणा के काका अध्यात्म कवि श्री चतरसिहजी महाराज ने मेवाड़ी भाषा मे कहा है—

मरणो जाणणो या मिनखां मोटी बात.......मरणो
मरणो-मरणो सारा केवे, मरे सभी नर-नारी रे,
मरवा पैली जो मर जावे, तो बलिहारी रे क मरणो जाणणो ।

बन्धुओ ! मरण को समझ लेना भी सरल नही है । जैन दर्शन मे मृत्यु को आत्मा का अलकरण कहा है—यह इसी दृष्टि से कि हम सथारा-संलेखना करके मृत्यु का आह्वान करते है कि तुम्हे आना है तो आओ हम तैयार है ।

उस बच्चे ने मृत्यु के स्वरूप को एक बार सुना—समझा और विरक्ति के भाव जागृत हो गए । जब श्रीदेवी ने अपने लाडले के मुँह से ये दार्शनिक विचार जीवन-मरण से सम्बन्धित सुने तो समझ गई कि अब यह ससार मे रहने वाला नही है । यह जीवन की क्षणभगुरता एव बहुमूल्यता को समझ गया है । महारानी ने तुरन्त महाराजा को सूचना भिजवाई कि आपका लाल अब आपका अकेले का नही रहा, वह ससार के समस्त प्राणियो का आत्मीय बनने जा रहा है । आप शीघ्र महलो मे पधारे । समाचार सुनते ही महाराजा दौड़े आये ।

अब महाराजा की अतिमुक्त कुमार से क्या चर्चा होती है और वे उसे कैसे समझाने का प्रयास करते है । यह तो समय पर ही ज्ञात हो सकेगा । अभी समय अधिक हो गया है । अभी तो आप इतना ही समझे कि हम भी अन्तगड सूत्र मे वर्णित विषय के अनुसार अपनी आत्मा को जगाएँ—बन्धनात्मक प्रवृत्ति से ऊपर उठकर निवृत्ति की ओर बढे और पर्युषण पर्व के दिनो को सार्थक करे । अब तो एक कल का दिन और बचा है चिन्तन के लिए । परसों तो महापर्व सवत्सरी आ रहा है । ये सात दिन तो अन्दर की धुलाई-सफाई के लिए है । परसो का आठवाँ दिन साधना-आलोचना—प्रायश्चित्त आदि से आत्मा सजाने का है ।

आप कुछ प्रयास करे तो आत्मा निर्मल पवित्र बन सकती है ।

आज इतना ही................



७

ध्यान बनाम अन्तर्दर्शन

[पर्युषण पर्व—सप्तम दिवस]

(तर्ज . आओ, आओ ए शान्तिप्रभुजी....)

आया आया है पर्व हमारा जन-मन मगलकारी,
पुलक उठे है हृदय सभी के खुशियां छायी भारी ।
आत्मशुद्धि का अवसर पाकर हर्षित है नर-नारी....आया
(पूरा गीत परिशिष्ट न.....१....में देखे)

आत्मदर्शन-अनुभूतिगम्य :

प्राय: प्रतिदिन हम किसी न किसी प्रार्थना-गीतिका का सगायन करते ही है । इन दिनो पर्युषण पर्व से अनुबन्धित गीतिकाओं का उच्चारण चल रहा है। ये पक्तिया तो माध्यम है हृत्तन्त्री के तारों को झकृत करने के लिए । वास्तव मे प्रार्थना की स्वर लहरी के साथ हमारी आत्मा की स्वर लहरी जुड जाए तो हमारी प्रार्थना सार्थक हो जाए ।

किन्तु हम जिस प्रार्थना का संगायन अभी कर गए है वह केवल भक्ति का प्रदर्शन ही नही है, उसमे आत्म-उद्बोधन के स्वर भी मुखरित हुए है । आत्म-उद्बोधन का हमारा यह क्रम निरन्तर चल रहा है । हमारे इस क्रम का उद्देश्य है—आत्म दर्शन, आत्म शोधन एव तद् द्वारा हमे परमात्म दर्शन की उपलब्धि हो । आत्म दर्शन अथवा परमात्म दर्शन शब्दो का नही, अनुभूति का विषय है। वह इन्द्रिय ग्राह्य-शब्द बद्ध या रूपवद्ध हो सके, ऐसा नही है । आगमो मे स्पष्ट निर्देश है—

नो इन्द्रिय गेज्झ अमुत्त भावा —उत्त० सूत्र
सव्वे सरानियटन्ति अपयस्स पयणत्थि —आचाराग सूत्र

उस परमात्म स्वरूप को इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण नही किया जा सकता है। उस स्वरूप के वर्णन में सभी स्वर असमर्थ है । कोई भी पद-वाक्य उसकी महिमा का गान नही कर सकते । जो अभिव्यक्ति की सीमा से परे है, उसे भौतिक शब्दो की सीमा मे बाधना उतना ही हास्यास्पद है जितना कि सूर्य की किरणो को किसी अटेची मे बाधना या हवा को मुट्ठी मे बाधना ।

एक बालक प्रात.काल हल्की-हल्की धूप मे खेल रहा था। सहसा उसका ध्यान प्रकृति की रमणीयता पर गया। उसे उस समय का मौसम बहुत सुहावना लगा। वह सोचने लगा, आज का भोर कितना सुहावना है, कितना शान्त और सुनहरा प्रकाश फैल रहा है—चारो तरफ! आज की रवि किरणे एवं उनका प्रकाश कितना शान्त एव रमणीय है....

सहसा उसके दिमाग में एक बात सूझी। मां तो घर के अन्दर बैठी है। वह प्रकृति के इस सौन्दर्य को नही देख पा रही है। मै ही उन्हे ये मनभावन किरणे बता सकता हूँ और वह घर से एक सन्दूक उठा लाया। धूप मे जाकर उसने उस अटेची को खोला। उसमें सूर्य किरणें प्रवेश कर गई और उसने उस अटेची को अच्छी तरह से बन्द कर दिया। वह बड़ा खुश होता हुआ अटेची लेकर घर के अन्दर गया कि मा को दिखाऊं—मै कितनी अच्छी सुनहरी किरणें भरकर लाया हूँ—अपनी अटेची मे। मां प्रसन्न हो जाएगी कि कितना होशियार बेटा है, प्रकाश की किरणे पेटी में भर कर ले आया। किन्तु ज्योही उसने अटेची खोली कि उसका चेहरा फक-सा रह गया। वह उदास हो गया और मां से कहने लगा—"मा मै एक बहुत सुन्दर चीज लाया था—सूर्य की किरणें अटेची मे भरकर लाया था, किन्तु यहा आया तब तक किसी ने निकाल ली।"

उस भावुक बालक को मां ने समझाया—"बेटा, किरणें कभी पेटी में बन्द नही होती।"

इस रूपक पर आप जरा चिन्तन करे, कही हमारी साधना का प्रयास भी ऐसा ही तो नही है?

आज के अधिसख्य भक्ति-साधको की स्थिति प्रायः इसी प्रकार की चल रही है। वे परमात्मा की अपार शक्ति को अपनी प्रार्थना की शब्दावली के सीमित घेरे मे बाध देना चाहते है। अनन्त स्वरूप को सीमित शब्दो के दायरे मे बाधने का प्रयास हास्यास्पद नही तो और क्या होगा?

वेदान्त के ऋषियो ने उस परमात्म स्वरूप को अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है—

> अपाणिपादो ह्यमनो गृहीता, पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्णः।
> सर्वैत्तिविश्वं नहि तस्य वेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषमहान्तम्॥

जिसे इन्द्रिय-मन आदि किसी भी भौतिक साधन से नही जाना जा सकता है। जिसके हाथ-पांव नही है, जो बिना आंख के देखता है और बिना कान के सुनता है। जो विश्व को देखता है किन्तु उसे कोई नही देखता, वही महानतम स्वरूप परमात्मा है।

इस प्रकार परमात्म स्वरूप को विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न सज्ञाए प्रदान की है, किन्तु उस सबकी चरमपरिणति नेति....नेति के रूप मे ही हुई है। वास्तव में उस स्वरूप को प्राप्त करने का बाहरी कोई साधन है ही नही। इसी-लिये प्रभु महावीर ने कहा है—

"अज्झत्यमेव पस्स" —आचाराग सूत्र

अर्थात् अपने भीतर ही झांको। वही अनन्त आनन्द स्वरूप सच्चिदानन्द परमात्मा विराजमान है। अन्तर मे झांकने का यहा सीधा-सा अर्थ है—ध्यान साधना के द्वारा अतरग शक्तियो का परिचय प्राप्त करो। आज के परिवेश मे अपने अतरंग मे झाकने की प्रवृत्ति बहुत कम रह गई है। हम ध्यान की बडी लम्बी-चौडी चर्चा कर लेते है किन्तु उसकी साधना पद्धति के प्रति समर्पित नहीं होते।

सामायिक अर्थात् आत्मस्थता .

ध्यान का सीधा सा अर्थ है—ध्येय के प्रति तन्मय-एकाग्र बनना। वाचक मुख्य श्री उमास्वाति ने कहा है—

"उत्तम सहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्"

अर्थात् चित्त की समस्त वृत्तियो का किसी एक दिशा मे केन्द्रित हो जाना ध्यान है। जब साधक ध्यान साधना की गहराई मे प्रवेश करता है तब ध्याता ध्यान और ध्येय सब एकाकार हो जाते है। एक प्रकार की अद्वैत स्थिति का निर्माण हो जाता है।

हमारी सामायिक की साधना भी एक प्रकार का ध्यान ही है, बशर्ते इसे हम हृदयगमपूर्वक अच्छी तरह समझ कर करे। आप वर्षो से सामायिक साधना कर रहे है, किन्तु क्या इसके स्वरूप को ठीक से समझने का प्रयास किया? क्या कभी आपके मन मे यह जिज्ञासा भी हुई कि सामायिक क्या है? सामायिक का अर्थ क्या है?—सामायिक क्यो की जाती है? आमतौर पर या तो अडतालीस (४८) मिनिट के कालखण्ड को सामायिक मान लिया जाता है—जिसमे सावद्य योग का त्याग कर समता की साधना की जाती है, या एक क्रिया विशेष को सामायिक समझ लिया गया है जबकि सामायिक शब्द का इससे बहुत गहरा अर्थ है। गणधर गौतम ने प्रभु के समक्ष जिज्ञासा व्यक्त की—

के भते : सामाइए ? के सामाइयस्स अट्ठे ?

भगवन्! सामायिक क्या है और सामायिक का अर्थ क्या है? प्रभु महावीर ने समाधान के स्वरों मे कहा—

आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे

आत्मा सामायिक है और आत्मा सामायिक का अर्थ है। कितनी गम्भीर अभिव्यक्ति दी है प्रभु महावीर ने सामायिक शब्द को। आज हम प्राय. उसकी उथली-स्थूल व्याख्या पकडकर बैठ गए है। पानी के ऊपर-ऊपर तैरने जैसा कार्य है हमारा। सागर मे पानी के ऊपर-ऊपर तैरने से क्या मिलता है? शैवाल-काई। यदि बहुमूल्य मुक्ता-मणि आदि चाहिये तो समुद्र की गहराई मे डुबकी लगानी होगी।

सामायिक—वस्तुपरक व्याख्या :

प्रभु ने सामायिक शब्द आत्मार्थपरक बताया है। समय शब्द से सामायिक शब्द वना है। समय शब्द के अनेक अर्थ है, उनमे एक अर्थ है आत्मा। समय अर्थात् आत्मा और आय अर्थात् प्राप्ति, तो सामायिक शब्द का अर्थ हुआ—आत्मा की प्राप्ति। आत्मा की प्राप्ति का अर्थ है समस्त वाह्य प्रवृत्तियो से अलग हटकर आत्मस्थ हो जाना। हम कहते है कि हमने सामायिक की है या हम सामायिक करते है, जवकि वास्तव मे सामायिक की नही जाती, होती है। वह प्रवृत्तिपरक नही निवृत्तिपरक साधना है। कर्तृत्व भाव से ऊपर उठकर अकर्तृत्व मे स्थिर होना है। चूकि हमारा कर्तृत्वभाव समाप्त नही हुआ है अतः हम निवृत्तपरक साधना को भो कर्तृत्वभाव से जोड देते है।

यह विपय आपको कुछ अटपटा लग रहा होगा। आप सोचते होगे—महाराज यह क्या चर्चा करने लगे है—कर्तृत्व भाव—अकर्तृत्व भाव की। वास्तव मे यह चर्चा कुछ अटपटी ही है। क्योंकि अभी आप अशुभयोग की प्रवृत्ति से ऊपर उठकर शुभयोग मे भी गति नही कर पा रहे है तो अकर्तृत्वभाव मे कैसे प्रवेश करेगे। आज अधिकांश सामायिक करने वाले प्रायः सामायिक साधना में भी अशुभ की चर्चा करते देखे जाते है। विरले भाई-वहिन होगे जो सामायिक की अवधि मे स्वाध्याय, ध्यान, अध्ययन, चिन्तन-मनन अथवा थोकड़ो आदि का ज्ञान करते हो अन्यथा अधिकाश व्यक्ति सामायिक की घड़ियो मे भी घर-गृहस्थी की, भाव-ताव की अथवा व्यर्थ की तेरी-मेरी चर्चा मे लगे रहते है। उनकी सामायिक केवल 'टाइम पास' की सामायिक बनकर रह जाती है।

आज की श्रमण साधना :

आपको क्या कहे, आज अधिकांश हम श्रमणों की भी यही स्थिति वनती जा रही है। भगवान महावीर ने ध्यान साधना का इतना महत्त्व बताया, श्रमण चर्या मे दिन-रात के आठ प्रहर मे चार प्रहर स्वाध्याय के और दो प्रहर ध्यान के लिये नियुक्त किये, किन्तु आज आप देखते होगे कि कितने साधु-साध्वी ध्यान

साधना के प्रति जागरूक दिखाई देते है। प्रातःकाल से लेकर रात्रि नौ-दस बजे तक हम प्रायः सामाजिक परिवेश की चर्चाओ मे व्यस्त रहते है। जबकि हमारी साधना का उद्देश्य है पर भाव—पर चर्चा से ऊपर उठकर आत्म केन्द्रित होने का अभ्यास करना।

आज हम बाहर के विषय-व्यवहारो में इतने खो गए है कि अतरग शून्य-रिक्त होता जा रहा है। क्रोधादिक वैभाविक वृत्तियां हम पर इतनी हावी हो गई है कि आत्मा के क्षमा, विनम्रता आदि स्वाभाविक गुण दबते चले जा रहे है। आगमकार कहते है—

कोही पीइ पणासेइ, माणो विणय णासणो।
माया मित्ताणिणासेइ, लोहो सव्वविणासणो।।

—दशवैकालिक ८-३०

क्रोध, मान, माया और लोभ इन वैभाविक वृत्तियों ने प्रीति-प्रेम, विनय, मैत्रीभाव एव सर्वस्व को नष्ट कर दिया है। यह समझने का विषय है कि विभाव और स्वभाव दोनो एक साथ नही रह सकते। कबीरदासजी ने एक जगह कहा है—

प्रेम गली अति साकरी, तामे दो न समाय।

प्रेम गली का अर्थ यहा परमात्म-प्रीति से है। परमात्म-प्राप्ति का मार्ग अथवा मुक्ति का मार्ग इतना संकड़ा है कि उसमे दो एक साथ नही रह सकते। वहा स्वभाव ही रह सकता है विभाव नही। वहा वीतरागता ही रह सकती है—राग-द्वेष नही। वहां आत्मा-स्वरूपस्थ होकर ही पहुँच सकती है। वहां केवल एकाकी भाव ही शेष रह जाता है। आचारांग सूत्र के अनुसार—

एगोऽहं नत्थि मे कोवि

मैं अकेला हूँ यहा मेरा कोई नही है। यह एकत्व भाव का चिन्तन स्वभाव का चिन्तन है और यही हमे परमात्म द्वार तक पहुँचाता है। हम कुछ द्वद्वात्मकता से ऊपर उठकर एकाकी होने का प्रयास-अभ्यास करे।

एक बोध कथा :

एक सूफी बोध कथा है—एक प्रेमी ने अपनी प्रेयसी के द्वार पर दस्तक दी। अन्दर से प्रेयसी ने पूछा—कौन ?, प्रेमी ने उत्तर दिया—मै हूँ। प्रेयसी ने कहा—यहां मैं और तू नही रह सकते, चले जाओ यहां से। यहा या तो तू रहेगा या मै। प्रेमी जंगल मे चला गया। वहां उसने बहुत चिन्तन किया—मुझे

मैं का भाव समाप्त करना होगा....और एक दिन उसने पुनः दस्तक दी, प्रेयसी के द्वार पर और प्रेयसी के वही प्रश्न पूछने पर कहा—तू ही है।

बन्धुओ ! यह तो एक रूपक कथा है। इसमें तो फिर भी तू का भाव बचा है, किन्तु जैन साधना तो कहती है—जहां तू और मैं के सब भेद मिट जाते है—केवल स्वभाव की स्थिरता बच रहती है, वही परमात्म स्थिति है। इसी को साधना की सफलता कहा जा सकता है। किन्तु इस स्थिति को प्राप्त करना सरल नही है। और फिर इस वर्तमान परिवेश मे तो अत्यन्त कठिन हैं। आज के भक्ति साधको की स्थिति कैसी है वह आपसे किसी से छिपी नही है। आज हमे वर्षो हो गए उपदेश सुनते, सामायिकादि साधना करते, किन्तु हम परभाव की तन्मयता से ऊपर उठकर स्वभाव मे स्थिर नही हो सके—साधना की गहराई मे प्रवेश नही कर सके। आज का आम दृष्टिकोण ही विपरीत हो गया है—लक्ष्य ही बदल गया है। आज की दुनिया ने किसे परमात्मा मान रक्खा है और किसे गुरु का स्थान प्रदान कर रक्खा है—इस विषय में आचार्य भगवन् कई बार राजस्थानी की दो पक्तिया फरमाया करते है—

पइसो मारो परमेश्वर, लुगाई मारी गुरु।
छोरा-छोरी शालिग्राम, सेवा यारी करू ।।

कितना उथला मानदण्ड हो गया है आज के इन्सान का। उसने अर्थ-व्यवस्था या पैसे को ही परमात्मा का स्थान दे रक्खा है। यही कारण है कि आज दो-दो पैसे के लिए वह शपथ के रूप में परमात्मा को भी दाव पर चढा देता है। आज आत्मा, परमात्मा एव धर्म चर्चा-विचर्चा का ही विषय रह गया है। आज हम चर्चा तो धर्म साधना की करते है किन्तु उस पर अमल करने मे कतराते है। एक गीतिका मे कहा है—

[1]अय प्रभो, सुनो दुनिया वाले, किस ज्ञान की बाते करते है ?
अपना न इन्हे कुछ पता अभी, भगवान की बाते करते है।
कुछ कहते ना कुछ सुनते ना, दो भाई भी मिल रहते ना,
बन पूर्व पश्चिम, पर देखो, निर्माण की बाते करते है ।।

आज इन्सान को स्वय का भी कुछ पता नहीं है और वह आत्मा और परमात्मा की चर्चा कर रहा है। प्रेम का ढिढोरा पीट रहा है और दो भाई प्रेम से नही रह सकते। आज की सामाजिक एव पारिवारिक स्थिति कितनी संघर्ष एव तनावपूर्ण बनती जा रही है। ऐसी स्थिति मे आत्मा और परमात्मा के बीच

१—तर्ज दिल लूटने वाले जादूगर....

की भेद रेखा को तोड़कर एकाकी भाव-स्वभाव मे पहुँच पाना कैसे हो सकता है ?

इन पर्युषणो के दिनों में हमें अपने अंतरग को टटोलना होगा। हमारी चित्तवृत्तिया कुछ तो स्वाभिमुख बनें। आज पर्व का सातवां दिन आ गया है। कल सवत्सरी महापर्व का दिन आ रहा है। अतः आज के दिन ही हम अपनी अतरंग शुद्धि करलें ताकि कल की धर्म साधना समुज्ज्वल रूप से हो सके। प्रतिवर्ष के समान ये दिन भी न चले जाएं। आज हम आत्मावलोकन करे कि हमारे भीतर कही क्रोध का दावानल तो नही धधक रहा है ईर्ष्या की चिनगारिया तो नही उठ रही है, अहकार के शोले तो नही उठ रहे है। यदि हमें आनन्द चाहिये, यदि हमारी शान्ति की कामना है तो हमे अतरग शत्रुओ को परास्त करना होगा और इसके लिये कापायिक वृत्तियो की आग को शमित करना होगा। किन्तु यह स्मरण रहे कि आग से आग कभी शान्त नही होगी। जैसे गर्म लोहे को काटने के लिये ठंडा लोहा चाहिये, जैसे उभनते हुए गर्म दूध को पानी की दो बूंदे शान्त कर देती हैं ठीक इसी प्रकार कपाय भाव को नष्ट करने के लिये उपशान्त भाव आवश्यक है। क्रोध के सामने क्रोध करने का अर्थ है अग्नि मे ईंधन डाल कर उसे और अधिक प्रज्वलित करना। सामने वाले के क्रोध को जीतने के लिये क्षमा की आवश्यकता होगी।

क्रोध का पराभव अक्रोध से :

एक बार त्रिखण्डाधिपति श्रीकृष्ण वासुदेव बलदेव, दारुक एवं सत्यकी के साथ वन भ्रमण को गए। वन मे ही रात्रि हो जाने से चारो उसी जगल मे एक वृक्ष तले विश्राम करने लगे। वन प्रान्तर की सघनता एव भयकरता को देखकर चारो ने यह तय किया कि एक-एक प्रहर चारो पहरा देगे—जागृत रहेगे। प्रथम प्रहर मे दारुक पहरे पर रहा है—शेष तीनो सो गए। रात्रि का कुछ काल व्यतीत हुआ कि एक विकराल राक्षस आकर खडा हुआ और अट्टहास करता हुआ कहने लगा—"आज चारों का भोजन करके मेरी भूख शान्त होगी मै कई दिनो से भूखा हूँ।"

दारुक ने जोश भरे शब्दो मे कहा—"भोजन की बात फिर करना, मै तु ही मौत का ग्रास बना देता हूँ" और दोनो में युद्ध छिड गया। दो-ढाई घण्टे त दोनो में तुमुल संघर्ष होता रहा। दोनो लहू-लुहान हो गए। दारुक थककर चू चूर हो गया कि सत्यकी का पहरा आ गया। सत्यकी को जगा देखकर दारु चुपचाप सो गया। अब राक्षक का सत्यकी से सघर्ष होने लगा। तीन घण्टे त सत्यकी लडता रहा, उसकी भी दारुक जैसी ही स्थिति बनी, वह भी थकक बेहोश होने लगा कि बलदेव जाग उठे—अपने पहरे पर। किन्तु राक्षस के सा सघर्ष मे बलदेव की भी वैसी ही दशा हो गई। तीनो राक्षस को परास्त नही क

सके क्योकि ज्यो-ज्यों इनका क्रोधावेश बढता त्यों-त्यों राक्षस की शक्ति बढती जाती, और राक्षस ने तीनो को परास्त कर दिया। चतुर्थ प्रहर में श्रीकृष्ण उठे और देखा कि तीनो अचेत-मूर्च्छित पडे है। वे कुछ सोचते तभी राक्षस का अट्टहास सुनाई दिया। क्षण भर मे वे पूरी परिस्थिति समझ गए और बड़े मधुर शब्दो में राक्षस को सम्बोधित करते हुए हँसने लगे। राक्षस का क्रोध बढने लगा—वह चिल्लाया, "हँस क्या रहा है, देखा नही तेरे तीन साथियो की क्या दशा हो गई है ? वही दशा अभी तेरी भी होगी।" श्रीकृष्ण ने मुस्कराते हुए कहा—"वास्तव मे तुम शक्तिशाली हो तभी तो तुमने तीन पराक्रमी योद्धाओ को गिरा दिया।" उस राक्षस को जोश आया और वह श्रीकृष्ण से भिडने लगा। श्रीकृष्ण उसकी प्रशसा करते रहे वाह-वाह, क्या गजब की शक्ति है तुम में.... श्रीकृष्ण उसके प्रहारो को अपने ढग से झेलते रहे और उसकी प्रशंसा के पुल बाधते रहे। आखिर राक्षस की शक्ति चुक गई। श्रीकृष्ण की क्षमा के समक्ष राक्षस का क्रोध पिशाच टिक नही सका, वह भाग गया और कुछ ही समय में राक्षस श्रीकृष्ण के चरणो मे गिर पडा। श्रीकृष्ण आराम से बैठ गए।

प्रात काल सब उठे तो तीनो ने श्रीकृष्ण से पूछा—"क्या आपकी रात में राक्षस से भिडन्त नही हुई ? हम तीनो तो लहू-लुहान हो गए थे ?" श्रीकृष्ण ने मुस्कराते हुए कहा—"भिडन्त तो हुई किन्तु मेरे पास प्रशसा एव क्षमा के अस्त्र-शस्त्र थे, राक्षस की शक्ति तब बढती है जब उसे क्रोध दिलाया जाता है। यदि उसकी प्रशसा की जाए तो उसकी शक्ति क्षीण होती जाती है।"

बन्धुओ ! यही स्थिति क्रोधादि वृत्तियो की है। उन्हे जितनी उत्तेजना दी जाती है, वे उतनी ही अधिक शक्तिशाली बनती जाती है। अतः इन वृत्तियों को शान्त करने के लिये आत्मा के स्वाभाविक गुणो को जागृत करने का प्रयास करे।

अन्तगड-जीवन संशोधक औषधि .

आप इन दिनो अन्तगड सूत्र का विवेचन सुन रहे है। उन चरित्र चित्रणों मे भी बडे गम्भीर दृष्टिकोण भरे पडे है। हम उन पर थोड़ा भी चिन्तन करे तो हमारे जीवन व्यवहार मे गहरे परिवर्तन-संशोधन हो सकते है। अन्तगड मे आपने सुना द्वारिका नगरी का नाश द्वैपायन ऋषि की क्रोधाग्नि से ही हुआ। रामायण बताती है कि रावण की कामाग्नि ने स्वर्ण नगरी को राख का ढेर बना दिया। दोनो इतिहास प्रसिद्ध स्वर्ण नगरियां थी, किन्तु आज दोनो नाम शेष रह गई है। उनका सारा सौन्दर्य राख बन गया। कहावत है—

इक लख पूत सवा लख नाती।
उस रावण घर दिया न बाती॥

जिस रावण का इतना विशाल परिवार था, उसके वंश का आज कोई निशान नही मिलता। किस कारण से ? उसकी एक दूषित वृत्ति ने स्वर्ण लका को भस्म कर दिया।

यही स्थिति आपकी-हमारी भी हो रही है। क्रोध रूपी द्वैपायन और मोहरूपी मदिरा हमारी आत्मारूपी द्वारिका को जला रहे है—नष्ट कर रहे है।

सुदर्शन एवं अर्जुन के सवाद में बताया जा चुका है कि पाच इन्द्रिया और मन ये छ: गोठिल्ले (ललित मण्डिली) सुबुद्धि रूपी बन्धुमति का हरण करना चाहते है। हम इन आख्यानो के ऊपरी कथा-कलेवर को ही नही पकडे, इनकी गहराई में पैठने का प्रयास करे। ये सब आख्यान केवल घटनाक्रम ही नही है अपितु इनमे आध्यात्मिक रूपकबद्धता है। अत: इनके द्वारा आत्मसाधना के रहस्यात्मक गहन संकेत प्राप्त होते है।

आदर्श विरक्ति—एवन्ताकुमार की :

कल आपके समक्ष अतिमुक्त कुमार किंवा एवन्ताकुमार का वर्णन चल रहा था। अपनी मां श्रीदेवी के समक्ष उसने जो अध्यात्म की पहेली प्रस्तुत की वह जीवन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण विचार है। मा अपने लाल के मुंह से ऐसी जटिल पहेली सुनकर हतप्रभ रह गई और उसने तुरन्त महाराजा को सन्देश भिजवाया।

महाराजा विजयसेन शीघ्र राजमहलों के अन्तपुर में उपस्थित हुए। उन्होने भी उसे समझाने का बहुत प्रयास किया किन्तु एवन्ताकुमार के वैराग्य का रंग मजीठा था—पक्का था, वह योंही उतरने वाला नही था। जब महाराजा ने देखा कि इसने इस अल्प वय मे ही आत्मज्ञान एव साधना के महत्त्व को समझ लिया है और अब ये ससार के बाह्य आकर्षणो, भौतिक बन्धनो मे उलझने वाला नही है, तो उन्होने उसके समक्ष एक प्रलोभन फेका—"बेटा, तुम दीक्षा लेना चाहते हो यह बहुत अच्छी बात है, किन्तु हमारे बुढापे का सहारा तू ही है अत. कुछ दिन राज्य व्यवस्था को सम्भाल कर फिर दीक्षा ले लेना।"

एवन्ताकुमार ने कहा—"पिताश्री, क्या इसका कोई विश्वास है कि आप पहले जाएंगे या मै ? अभी ही तो मै प्रभु के उपदेश की बात मा के सामने कर गया हूँ कि मरना तो निश्चित है किन्तु कब मरना कोई निश्चय नही है। अत. यह कहना गलत होगा कि मै वृद्ध होकर ही मरूंगा और इस बीच आपकी सेवा कर लूंगा। दूसरी बात पिता-पुत्र का यह सम्बन्ध एक बार नही अनेक बार बन चुका है और केवल आपकी आत्मा से ही नही ससार की समस्त आत्माओ से

वन चुका है। इस आत्मा को अनन्त काल हो गया है संसार में जन्म-मरण-परिभ्रमण करते हुए। ऐसी स्थिति मे ससार की समस्त आत्माएं मेरे माता-पिता के तुल्य है, अत: मुझे उन सवकी रक्षा रूप सेवा करना है।"

न हि तेजोवय समीक्ष्यते

आप सव विचार कर रहे होगे कि वह छोटा-सा बालक इतना ज्ञान कहां से ले आया? यह कोई असम्भव बात नही है। बहुत वार जन्म से ही प्रतिभा-सम्पन्न वालक उत्पन्न होते है। आज के मनोविज्ञान के अनुसार कुछ बालक ऐसे हो सकते है जो उम्र से ८ वर्ष के हो और उनकी वौद्धिक क्षमता ६० वर्ष की है। इसके विपरीत कई ६० वर्ष के व्यक्तियो मे १० वर्ष के वालक जितनी वुद्धि नही होती है। इसीलिये नीतिकारो ने कहा है—

'न हि तेजोवय समीक्ष्यते'

अर्थात् तेजस्विता मे वय की अपेक्षा नही रहती। अग्नि की एक छोटी-सी चिनगारी वहुत बडे वन को राख वना सकती है। विशालकाय मदोन्मत्त हाथी को एक चीटी परेशान कर सकती है। ठीक इसी प्रकार अल्पवयी बालक भी महान् क्षमता का सवाहक हो सकता है।

वालक अतिमुक्तकुमार ऐसी ही ऊर्जा का सवाहक था। उसमें जन्मजात प्रतिभा थी और फिर उसे आत्म जागरण का महानतम निमित्त मिल चुका था। ऐसी स्थिति मे वह जीवन दर्शन की पहेलियां बुझाने लगे अथवा जन्म-मरण की व्याख्या प्रस्तुत करने लगे तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है।

प्रसग चल रहा था एवन्ताकुमार ने अपने पिताश्री के समक्ष अपने स्पष्ट विचार रख दिये। महाराजा विजयसेन अपने दुलारे के मु ह से जीवन-मरण की गम्भीर विवेचना सुनकर समझ गए कि अब इसकी आत्मा जाग चुकी है। अब इसे आत्मदर्शन हो गया है अतः यह रुकने वाला नहीं है। फिर भी महाराजा ने कहा—"वेटा! तुम्हारी यही इच्छा है तो तुम प्रसन्नतापूर्वक दीक्षा लो किन्तु हमारी एक अन्तिम इच्छा पूरी कर दो—बस केवल एक दिन के लिये राजा बन जाओ।"

अतिमुक्त कुमार ने मौन स्वीकृति दे दी। पिताश्री ने प्रसन्न होकर तत्काल राज पुरोहित, मन्त्री आदि को वुलाया और कुमार का राज्याभिषेक करवा दिया। वालक अतिमुक्त कुमार राज सिहासन पर वैठ गया। अव वह राजनपति राजा हो गया। स्वय महाराज विजयसेन कहने लगे—"अव आप राजा वन गए हैं, वताइये आपका प्रथम आदेश क्या है? किसी राज्य पर चढाई करना है या राज्य व्यवस्था में कोई परिवर्तन करना है?"

अतिमुक्त के स्थान पर अन्य कोई व्यक्ति होता अथवा खिलौनो के लिए मचल उठने वाला आज का कोई बालक होता तो फूल उठता राज सिंहासन पर बैठकर । न जाने कितनी फरमाइशे पेश कर देता । किन्तु राजा अतिमुक्त ने अपना प्रथम आदेश दिया—"भण्डार से तीन लाख स्वर्ण मुद्राए निकाली जाएं और ओघा पात्रा मंगवाकर मेरी दीक्षा करवाई जाए।"

बाल दीक्षा :

देखिये, उस वीर बालक की उत्कृष्ट त्याग भावना को · आप कहेंगे अभी उसने क्या ससार देखा ? किन्तु बन्धुओ, संसार तो हम अनन्त बार देख चुके है। कथा भाग आप अनेक बार सुन चुके है । मैं सक्षेप करने का प्रयास कर रहा हूँ। आखिर बडे उत्साह के साथ अपने लाल को विराट शोभा यात्रा के साथ महाराजा-महारानी प्रभु के चरणो में ले गए और प्रभु से निवेदन किया—"भगवन् ! हम अपने कलेजे के टुकड़े को आपश्री के चरणों मे समर्पित कर रहे है । इसे हम शिष्य रूप मे आप को भिक्षा में दे रहे है ।"

देखिये उन माता-पिताओं को जो अपनी सन्तान को प्रभु के चरणो मे समर्पित करते हुए हर्षित हो रहे है । उन्होने समझाने का पूरा प्रयास किया किन्तु अन्तराय देना उचित नही समझा । आगमो मे मृगापुत्र का भी ऐसा ही वर्णन है—उसे भी माता-पिता ने नरक के दु.ख बताए, संयमी जीवन की कठोरताए बताई किन्तु जब उसके वैराग्य को परख लिया तो सहर्ष अनुमति दे दी । आज के माता-पिताओ की क्या स्थिति है, इसे आप सब जानते है । किन्तु बंधुओ, जिसके अन्तरग मे वैराग्य उठ गया । वह कभी नही रुक सकता, आप लाख अन्तराय दे ।

और, प्रभु ने उस दूध मुहे बालक को—जिसके अभी दूध के दात भी नहीं गिरे है, दीक्षा दे दी । आज के व्यक्ति हंगामा खडा कर देगे यदि ऐसे बालको को दीक्षा दी जाये तो । किन्तु यह स्मरण रहना चाहिये कि जिस बालक की आत्मा मे जागरण के स्वर उठ गए है, जिसने आत्मा के उत्थान के संकल्प बना लिये है जिसमे साधना के असिपथ पर चलने का साहस हिलोरें ले रहा है, वह अल्प वयस्क बालक भी उन सब चर्चा करने वाले व्यक्तियो से अधिक ज्ञानवान समझदार है, जो अभी जीवन और उसकी आध्यात्मिक उपयोगिता को समझ ही नही पाए है ।

अपनी बात :

लोग मुझे पूछते है आपको छोटी उम्र में वैराग्य कैसे आया ? बन्धुओ मैं तो छोटा-सा उत्तर दे देता हूँ कि बचपन के कुछ ऐसे संस्कार थे । सन्त

महात्माओ का योग मिलता रहता था, अतः वे सस्कार जागृत हो गए। किन्तु एक वात स्पष्ट है कि जिस समय मुझमे वैराग्य उत्पन्न हुआ और मैने दीक्षा ली, मै एक भावुकतापूर्ण स्थिति मे था। मै दीक्षा आदि के महत्त्व को नही समझता था। मेरा केवल रटा-रटाया सा उद्देश्य था—"आत्मकल्याण करने के लिये दीक्षा ले रहा हूँ" किन्तु दीक्षा का महत्त्व तो दूर मै छः काया के जीवो को भी नही समझता था। वैराग्यावस्था मे भी तालाब मे कूदता था। किन्तु अब, जब मै अपनी पूर्व स्थिति पर विचार करता हूँ तो मुझे अपनी स्थिति उस बालक जैसी लगती है, जो प्रारम्भ मे पाठशाला नही जाना चाहता तो उसे जबरन चाकलेट आदि का प्रलोभन देकर भेजा जाता है, किन्तु जब वह अध्ययन के महत्त्व को समझ लेता है तो अपने अभिभावकों को मन-ही-मन धन्यवाद देता है कि उन्होने बहुत अच्छा किया कि मुझे अध्ययन की प्रेरणा दी अन्यथा आज मै अनपढ-गवार रह जाता....... ठीक यही मै सोचता हूँ—अच्छा हुआ कि बाल्य-काल मे ही आचार्य भगवन् ने संसार की ज्वालाओ से निकाल दिया....कभी-कभी तो यह चिन्तन भी चलता है कि क्या ही अच्छा होता और पहले साधना मे प्रवेश कर जाता तो आज कुछ अधिक अध्ययन कर लेता।

आत्म-जागरण में उम्र बाधक नहीं :

हा तो मैं बता रहा था—आत्म जागरण के पश्चात् बालक-युवा या वृद्ध कोई भी क्यो न हो, साधना के द्वार सबके लिए खुले रहते है। वैसे दार्शनिक दृष्टि से चिन्तन करे तो वैदिक दर्शनो में यह सामान्य मान्यता है कि जीवन की चार अवस्थाए है—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम एव सन्यासाश्रम। इनमे चतुर्थ अवस्था अर्थात् पचहत्तर वर्ष की उम्र मे संन्यास-दीक्षा लेना चाहिये। किन्तु यहा हम यह भूल जाते है कि यह विश्वास है कि हम १०० वर्ष तक जीयेंगे ही! नही तो यह वर्गीकरण क्या अर्थ रखता है? इन अर्थो में यह निर्विवाद रूप से माना जायगा कि भगवान महावीर ने अपने श्रमण संघ मे युवा एवं वालको को प्रवेश देकर वहुत बड़ी क्रान्ति की है। तत्कालीन परिस्थितियो मे, जहा वैदिक क्रिया काण्डो का जोर था, युवको एव अल्पवयस्क वालकों को दीक्षा देना वहुत बड़े साहस का परिचय देना है। आज के कई दार्शनिक-विचारक भी भगवान् महावीर के इस साहस को दाद देते है।

हमारा मूल विषय चल रहा था—प्रभु महावीर ने आठ-नौ वर्ष के लघु-वयी राजकुमार को दीक्षित कर अपने श्रमण सघ मे स्थान दिया। एवन्ताकुमार अब एवन्ता मुनिवर बन गये। दीक्षा का प्रथम दिन, अभी उन्होंने जीवन और मरण की व्याख्या ही समझी थी, साधुचर्या की आचार संहिता से वे सर्वथा अपरिचित थे, अत. प्रभु ने उन्हे स्थविरो के समक्ष अंग शास्त्रों के अध्ययन का प्रेरणापूर्ण सकेत दिया।

नाव तिर गयी :

सन्ध्या के समय एवन्ता मुनिवर अन्य स्थविरमुनियो के साथ शौच निवृत्ति हेतु जगल मे गए । लघुवयी होने से वे पहाड़ी के निकट ही बैठ गए । अन्य स्थविर मुनिवर दूर पहाडी पर चले गए । इधर बरसात का पानी पहाडी से बहकर आ रहा था तो बालक चापल्यवश उन्होंने शौच से निवृत्त हो खेलना प्रारम्भ कर दिया । मिट्टी की पाल बांधकर पानी रोक लिया और अपने हाथवाला काष्ठ पात्र उसमे रखकर अपनी नाव तिराने लगे । आप प्राय: गाया करते है ये प्रीतिकर प्राचीन पंक्तियां—

नाव तिरे मेरी नाव तिरे यों मुख से शब्द उचारे ।
साधो के मन शका अपनी किरिया लागे थांरे ॥
ओ एवन्ता मुनिवर, नाव तिराई.......

ज्यो-ज्यो वह काष्ठ पात्र पानी मे तैरता है त्यो-त्यो मुनिवर मस्ती मे झूमते हुए कहने लगे—मेरी नाव तिर रही है—मेरी नाव तिर रही है........

मुनिराज का नौका तिराने का खेल चल ही रहा था कि अन्य स्थविर मुनिवर शौचक्रिया से निवृत्त हो आ गए । ज्योही उन्होने पानी में पात्र को तैरते हुए देखा—उपालम्भ के स्वर में कहने लगे—"मुनिवर, यह पात्र पानी मे क्यो डाला ? हमें कच्चा पानी छूना नही कल्पता है ।"

नए मुनिजी ने सहज भाव से कहा—"देखिये ना, मेरी नाव कैसे तिर रही है ?"

स्थविरो ने कहा—"मुनिवर, अब तुम मुनि बन गए हो....अब तुम्हे कच्चा पानी छूना और इस प्रकार खेलना नही कल्पता है । चलो शीघ्र पात्र सम्भालो, भगवान के समीप चलकर आलोचना करना ।"

नए मुनिजी ने शीघ्र पात्र उठाया, उनका मन अपने बालचापल्य के सयम विरोधी कार्य से पश्चात्ताप से भर गया । वे स्थविर मुनिराजो के साथ चल दिये। मार्ग मे चलते हुए स्थविर मुनियो के मन मे अनेक सकल्प-विकल्प उठने लगे— "कैसा चचल बालक है ? अभी जीवाजीव का भी ज्ञान नही है । भगवान ने भी इस छोटे से छोकरे को कैसे दीक्षा दे दी ?" सभी प्रभु के चरणो में पहुँचे । नए मुनिवर पश्चात्ताप एव क्षमायाचना की मुद्रा मे प्रभु को वन्दन कर खडे हो गए और स्थविर मुनि प्रभु से कुछ शिकायत करना ही चाहते थे कि घट-घट के ज्ञाता सर्वज्ञ-सर्वद्रष्टा प्रभु ने विषय को स्पष्ट करते हुए कहा—"मुनिवरो, आप इस बालमुनि की छोटी-सी त्रुटि को न देखे । यह आपसे भी पहले इसी जन्म मे अपनी नाव तिरा लेने वाली चरम शरीरी आत्मा है । आप इसकी हीलना-निन्दा नही करे....इसे आगमो का अध्ययन करावे एव साधना मे सहयोग दे ।"

स्थविर मुनिवरो ने प्रभु से एव नये मुनिजी से क्षमा याचना की ।

साधु चाहिये, दीक्षा नहीं :

बन्धुओ ! अन्तगड सूत्र के इन आख्यानो पर आप कुछ चिन्तन करे । कैसे-कैसे साहसी महापुरुष हुए है प्रभु महावीर के शासन मे और कैसे-कैसे माता-पिता हुए जिन्होने अपने कलेजे के टुकडो को—आखो के तारो को शासन सेवा मे आत्मकल्याण हेतु समर्पित कर दिये । आज आप सब चाहते है कि हमे अधिक से अधिक सन्त समागम प्राप्त हो, हमारे क्षेत्रों में खूब साधु-साध्वियो का विचरण हो । किन्तु आपकी कोई सन्तान साधु-साध्वी बनना चाहे—दीक्षा लेना चाहे तो आप अन्तराय-बाधा तो नही देगे ? आपको साधु चाहिये, लेकिन हमारा प्रिय व्यक्ति कोई साधु न बने । यह कैसी विचित्र धारणा है आप लोगो की ?

बन्धुओ ! एक बात आप अच्छी तरह से समझ ले कि जो व्यक्ति दृढ सकल्पी है, जिसकी आत्मा मे वैराग्य सागर लहरा उठा हो, वह किसी के रोके रुक नही सकता है । आप उसे रोकने के प्रयास मे निरर्थक अन्तराय कर्मो का बन्ध कर लेते है । किसी की दीक्षा में बाधक बनना—अन्तराय देना चिकने महामोहनीय कर्मबन्धन का कारण होता है । जो ऐसे कर्मबन्धन करते है वे केवल क्षणिक मोह के कारण ही करते है । बहुत बार तो यह भी देखने-सुनने को मिलता है कि जो कोई रिश्ते मे नही लगते, जिसने कभी सुख-दु ख मे आकर दो आश्वासन भरे शब्द भी नही कहे, वे व्यक्ति रिश्तेदार बनकर अन्तराय कर्म बाधने को आ खडे होते है । वस्तुत. वे जीवन की उपयोगिता एव वीतराग वाणी के महत्त्व को नही समझते है । एक प्रकार का अज्ञान ही उनसे ऐसा करवाता है । यह मेरे स्वय का अनुभव है । जब मुझे वैराग्य आया तो न जाने कितने व्यक्ति आ गए मुझे समझाने के लिये । हमारी स्कूल के अनेक अध्यापक रात को दुकान पर आकर मेरे ससार पक्षीय भाई साहब को समझाते कि इसे मत जाने दो । यहा तक कि हमारे विद्यालय के प्रधानाध्यापकजी ने तो मुझे ग्यारहवी कक्षा मे बुलवाकर चपरासी के द्वारा मेरे वस्त्र तक खुलवा लिये ।

आप इसी अन्तगड सूत्र मे श्रवण कर गए है कि श्रीकृष्ण ने जब यह जान लिया कि यह द्वारिका नष्ट होने वाली है तो उन्होने आम घोषणा करवाई कि जो कोई दीक्षा लेना चाहे उसकी जिम्मेदारी मै लू गा । उन्होने केवल घोषणा ही नही करवाई, अपितु अपनी रानियो एव अपने राजकुमारो को सहर्ष प्रभु के चरणो मे समर्पित किया और इस महान् दलाली से उन्होने तीर्थकर नाम कर्म का उपार्जन किया, जो सर्वश्रेष्ठ पुण्य प्रकृति है । आज आप सभी जो इस प्रवचन स्थल पर उपस्थित है........कम-से-कम यह सकल्प-प्रत्याख्यान करे कि कोई दीक्षा लेगा तो हम उसे अन्तराय नही देगे ।

(अधिकाश श्रोताओ ने हाथ ऊपर कर प्रत्याख्यान लिये)

फैशन बनाम प्रदर्शन :

बन्धुओ ! इन आत्मशोधन के पर्व दिवसों में आप जितना अधिक त्याग मार्ग की ओर बढ सकें बढने का प्रयास करें। मेरा केवल यही कहना नही है कि आप सभी अभी ही दीक्षा ले ले—ले लें तो बहुत अच्छा है। किन्तु दीक्षा न ले सकें तो अपनी आवश्यकताओ को सीमित कर अधिक आरम्भ-समारम्भ से तो बचें। यदि आपको अपनी आवश्यकता से अधिक कुछ प्राप्त हुआ है तो उसका भी परोपकारार्थ त्याग करें—सद्विनिमय करें। सग्रह वृत्ति से बचें।

आज सामाजिक स्थिति बडी विचित्र बनती जा रही है। एक तरफ गरीबों को सोने के लिए झोंपड़ी भी नसीब नही है और दूसरी ओर भव्य भवनो मे अनेको आलमारियां निरर्थक खिलौनों से भरी है, जो कि बच्चो के खेलने के काम के भी नही है। जिनका उद्देश्य केवल शो, दिखावा-प्रदर्शनभर है। आज का अधिकाश जीवन व्यवहार दिखावा या प्रदर्शन बन कर रह गया है। खाने-पीने, पहनने-ओढने, रहने-सहने सब मे प्रदर्शन का भाव परिलक्षित होता है। आज के प्रदर्शनीय कृत्रिम प्रसाधनो ने तो हमारी मौलिक सुन्दरता को नष्ट-भ्रष्ट करके छोड दिया है। कोई भी नई फैशन का कपड़ा निकला नही कि अमीरों का ध्यान सीधा उसी ओर जाएगा। आलमारियो एव ट्रंकों मे सौ साड़िया पडी है पर नई फैशन की नई डिजाइन की साड़ी लेना आवश्यक है। क्योकि हमे अपने आपको अपनी पड़ोसिन से सुपिरियर बताना है।

ठीक है, आपको नयी साड़ी चाहिये तो पुरानी साड़ियो का सग्रह क्यो करते है ? उनका तो किन्ही जरूरतमन्दों मे उपयोग हो सकता है। वैसे ही सन्दूको मे पडे-पडे पुराने कपड़े, सड जाते है किन्तु कृपण व्यक्ति उनका सदुपयोग नही कर पाते। कुछ उपयोग करते भी है तो दान मे नही, नये बर्तन खरीदने मे। बन्धुओ, जितना आपके हाथ से दिया जाएगा वही आपका होगा। सग्रह-सचय किया हुआ आपका नही है, उसके तो मालिक अभी ही दूसरे बने बनाए बैठे है। अतः जितना अधिक परमार्थ का कार्य कर सके, करले।

आप जैन है तो कुछ तो जैनत्व का गौरव रक्खे। आज की इस फैशन-परस्ती मे प्रदर्शन के साथ-साथ निशाचरी वृत्ति बढती जा रही है। हजारो नही, लाखो रुपये विवाह-शादियो मे आतिशबाजी और डेकोरेशन मे पूरे हो जाते हैं। रात्रि भोजन की परम्पराए प्रारम्भ होती है। रात्रि को चरने वाले को निशाचर कहते है और आज कल यह फैशन हो गया कि रात्रि मे ग्यारह-बारह बजे खाना खाया जाये। इसका स्वास्थ्य पर भी कितना बुरा प्रभाव पडता है। इसका कौन विचार करे। आयुर्विज्ञान की दृष्टि से सूर्य के प्रकाश मे खाया हुआ भोजन सुपाच्य होता है।

इस रात्रि भोजन ने विवाह शादियो मे एक दुर्व्यसन को और मौका दिया है—जूआ खेलना। यह दुष्प्रवृत्ति आज बहुत जोर पकड़ती जा रही है और इसमे

आपके छोटे-छोटे बालक एव युवा लोग बहुत रस लेने लगे है। यह दुर्व्यसन आपको, आपके परिवार को एव आपके समाज को कहा ले जाकर गिराएगा, कुछ कहा नही जा सकता। आप समय रहते सावधान हो जाए। प्रदर्शन से उत्पन्न होने वाली समस्त बुराइयो, दुष्प्रवृत्तियो को अभी से ही निकाल फेके। बाह्य दिखावे से ऊपर उठेगे तभी अध्यात्म साधना मे गति हो सकेगी और आप पर्युषण पर्व की भव्य आराधना कर सकेगे। एवन्ता मुनिवर के जीवन से कुछ तो आत्मशोधन की शिक्षा ले। उस नन्हे से बालक ने कितना कठोर त्याग का मार्ग अपनाया—राज्य वैभव की समस्त सम्पदा को नाक के श्लेष्म की तरह फेक दिया।

भक्त बालक ध्रुवकुमार:

वैदिक ग्रथो मे इसी से मिलता-जुलता आख्यान मिलता है—ध्रुवकुमार का। ध्रुवकुमार अपने पिता उत्तानपाद महाराज की गोद में बैठने लगा तो उसकी सौतेली माँ सुरुचि ने कहा—"इस गोद मे बैठना था तो मेरी कुक्षि से जन्म लेना था।" बालक ध्रुव रोता-रोता अपनी मा सुनीति के पास गया। मा को कितना दु ख हुआ होगा, इसे एक मातृ हृदय ही समझ सकता है। फिर भी मा अपने दु ख को अन्दर ही पी गई और अपने लाल को कहा—"बेटा, तुमको परम पिता परमात्मा की गोद मे बैठना है।" और बालक तत्क्षण निकल पड़ा परमपिता को खोजने—जगल की ओर। मार्ग मे नारदजी ने उसे समझाने का प्रयास किया तो उसने नारदजी को भी यह कह कर शान्त कर दिया कि आपको तो भक्ति साधना मे सहयोग करना चाहिये। इससे विपरीत आप मुझे ससार मे उलझाने का कार्य कर रहे है।

ऐसे एक नही, अनेक आख्यान-उपाख्यान हमारे आगमो मे भरे पड़े है, किन्तु हम उन्हे समझ नही पा रहे है। इन पर्व दिवसों मे हम इन्हें समझकर जीवन को एक प्रशस्त मार्ग प्रदान करे।

कल सवत्सरी महापर्व आ रहा है, अत. कल अधिक से अधिक अष्ट प्रहर के पौषध करे। पौषध न बन सके तो अपनी-अपनी क्षमतानुसार साधना मे प्रवृत्त हो और क्षमा का अपूर्व आदर्श प्रस्तुत करे।

आज इतना ही....



८ आत्म-निरीक्षण के पावन क्षण

(पर्युषण पर्व–संवत्सरी महापर्व)

(तर्ज—प्यासे पंछी नील गगन में·······)

पर्व सवत्सरी आया है हम गीत क्षमा के गाएँ,
हम क्षमाशील बन जाए ।
विषम भाव की कलुष कालिमा मन से दूर भगाए,
हम पर्व सवत्सरी मनाए।
पर्व हमारा प्यारा–प्यारा वर्ष एक में आता,
आत्म जागरण का सन्देशा हमको देता जाता ।
लोकोत्तर यह पर्व मनाकर लोकोत्तर पद पाएं ।। हम.
(पूरा गीत परिशिष्ट न० १ मे देखे)

जागरण का सन्देश :

आज चिर प्रतीक्षित आत्मशुद्धि के महापर्व संवत्सरी का दिवस उपस्थित हो गया है । यह पावनतम पर्व आत्म जागरण एव तद् द्वारा परमानन्द–परम-शान्ति का सन्देश लेकर उपस्थित हुआ है ।

पर्युषण पर्व के प्रारम्भ के दिन बताया जा चुका है कि पर्व दो प्रकार के होते है—लौकिक एव लोकोत्तर । सवत्सरी महापर्व लोकोत्तर ही नही लोकोत्तर पर्वो मे भी अनुत्तर लोकोत्तर पर्व है, क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध आत्म जागरण से ही है । यों तो प्रभु महावीर का समस्त उपदेश जागरण का उपदेश है । अपनी प्रथम एव अन्तिम देशना मे प्रभु ने जागृत चेतना को ही साधक सज्ञा प्रदान की है । अपने प्रथम अमृतोपदेश आचाराग सूत्र मे प्रभु ने कहा है—

"सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरन्ति ।"

जो सोया हुआ है वह ससारी है और जिसकी चेतना जागृत हो गई, जो प्रति पल जागृति मे जी रहा है वह साधु-साधक है । साधक की सही पहिचान है—जागृति मे जीने वाला व्यक्तित्व ।

अपनी प्रथम देशना के समान ही अन्तिम घडियो मे दी गई देशना मे भी

प्रभु ने इसी सन्देश पर अत्यधिक बल दिया है। विद्वान् साधक का लक्षण बताते हुए प्रभु ने कहा है—

"सुत्तेसु यावि पडिबुद्ध जीवी, न वीससे पण्डिय आसुपन्ने ।
घोरा मुहुत्ता अबल सरीर, भारण्ड पक्खी व चरेऽपमत्तो ।।
(उत्तराध्ययन ४-६)

यह अनन्त द्रष्टा प्रभु महावीर की वाणी है। इसके बडे स्पष्ट सकेत है—जो सोये हुए भी जागृत है, प्रतिबद्ध है। प्रतिक्षण जागृत है वही आसु प्रज्ञ विद्वान् अथवा पण्डित है। इसमे साधक व्यक्तियो को सकेत दिया गया है कि यह शरीर निर्वल है एव काल बडा विकराल है अत. भारण्ड पक्षी के समान प्रतिपल जागृत रहो। भारण्ड पक्षी के दो चोच (मुँह) होते है। वह एक से अपनी खुराक ग्रहण करता है एव दूसरे से सजगता पूर्वक इधर-उधर देखता रहता है कि कोई शत्रु तो नही आ गया है।

ठीक यही स्थिति साधक चित्त की रहती है। वह भी प्रतिफल साधना के प्रति जागृत रहता है कि कही विकारो (कषाय) के शत्रु मेरी आत्मा मे प्रवेश नही कर जाए। साधक का प्रत्येक कार्य जागृति मे होता है, किन्तु उसका वह जागरण देह के प्रति नही, आत्मा के प्रति होता है। शरीर की क्रियाओ का तो वह द्रष्टा मात्र होता है, भोक्ता नही। उदाहरण के लिए—साधक देह-सुरक्षा हेतु भोजन करता है, किन्तु उसका भोजन द्रष्टा भाव से होता है। आसक्ति या घृणा का भाव उसके मन मे उत्पन्न नही होता है। उसकी साधना भी द्रष्टा भाव की साधना होती है। उसकी तप.साधना मे उसका ध्यान देह के प्रति या क्षुधा के प्रति नही रहता है। वह देह एवं आत्मा की भिन्नता का चिन्तन करता हुआ यह विचार करता है कि भूख-प्यास तो शरीर के धर्म है, आत्मा पर इनका कोई प्रभाव नही हो सकता है। इस देहातीत अवस्था की उपलब्धि को ही आचार्यो ने जागरण की सज्ञा प्रदान की है, चूकि देहासक्ति ही समस्त दु.खो, तनावो एव सघर्षो का मूल है, अत दु ख-तनाव मुक्ति एव परम शान्ति की उपलब्धि के लिए देहासक्ति का परित्याग आवश्यक है। यही सन्देश दे रहा है यह महापर्व।

पर्युषण पर्व क्यों मनाएं ?

एक प्रश्न वहुत वार उठता है, जो स्वाभाविक भी है कि पर्युषण पर्व क्यो मनाए जाते है ? क्या उद्देश्य है इस पर्वाराधन का ?

इस प्रश्न का वैसे तो वड़ा सीधा सपाट-सा उत्तर है कि आत्म-साधना के लिए पर्व पर्युषण मनाएं जाते है किन्तु इस पर थोड़ा चिन्तन भी आवश्यक है और आज, चूकि वहुत से ऐसे अजनवी श्रोता भी उपस्थित है जिनका धर्म साधना से सम्वन्ध पर्युषणो तक ही सीमित रहता है, अतः इस विपय का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति में पलने वाले व्यक्ति बहुत से त्यौहार-पर्व मनाते है, जिनमें कुछ तो राष्ट्रीय स्तर के पर्व होते है। उन सब पर्वो के पीछे कुछ न कुछ उद्देश्य छिपे होते है। उदाहरण के लिए रक्षावधन का पर्व भाई के बहिन के प्रति कर्तव्य का सम्बन्ध होता है तो दीपमालिका अन्तर्वाह्य स्वच्छता का प्रतीक पर्व माना गया है। साथ ही दीपमालिका को बहुत से क्षेत्रो मे आय-व्यय के वर्ष भर के लेखे-जोखे का निमित्तिक भी माना जाता है।

ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक पर्व पर्युपण भी अन्तर्विशुद्धि का पर्व है। जैसे वर्ष भर में घर-दुकान में इकट्ठे हुए कचरे को दीपमालिका के पूर्व बाहर फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार वर्ष भर मे आत्मा मे जो राग द्वेष, विकार-वासना का कचरा इकट्ठा हो जाता है, उसे पर्व के इन आठ दिनो मे बाहर निकाला जाता है–आत्मा की सफाई की जाती है। जैसे वर्ष भर का आर्थिक आय-व्यय का हिसाब लगाया जाता है, वैसे ही पर्युपणो के इन आठ दिनो मे यह चिन्तन आवश्यक माना गया है कि हम अपने वर्ष भर का लेखा-जोखा करे कि हमारे मे कितने दुर्गुणो का प्रवेश हुआ है। हमने कितने व्यक्तियो के साथ सघर्ष किया है। हम कितने राग-द्वेप से आवद्ध हुए और कितने इन विकारो से मुक्त होने का प्रयास हुआ है। इन आठ दिनो में हमारा मूल चिन्तन होता है—

कितने कदम बढे है आगे कितने पीछे अटक गए है ?
राग-द्वेष की अंधी गलियों मे, कितने डग भटक गए है ?
अपने अन्तर मे कितना यों डूब सका मै इस अवधि मे ?
कितने हृदयो को कुचला और कितने मुझसे छिटक गए है ?

मै इस वर्ष भर मे अपने अन्तरग मे कितना उतर पाया हूँ। मैंने कितने कदम साधना की ऊंचाइयों का स्पर्श करने में बढाए और कितने क्षण तेरी-मेरी निन्दा-विकथा मे खो दिये है। मेरी मनोवृत्तियो का कितना उदात्तिकरण या अवनतिकरण हुआ। इस बात का चिन्तन और उसके द्वारा आत्मशोधन का पावन लक्ष्यपूर्ण करने आत्मशान्ति के चरमान्त का स्पर्श करने हेतु ये पर्युषण पर्व मनाए जाते है।

भाद्रपद शुक्ला पंचमी ही क्यों ? :

इस समाधान के साथ ही एक जिज्ञासा और उत्पन्न होती है कि यदि पर्व का उद्देश्य आत्मशुद्धि ही है तो इसे कभी भी मनाया जा सकता है। जब चाहे तभी आत्मशुद्धि की जा सकती है। फिर इस पर्व की आराधना भाद्रपद शुक्ला पचमी को ही क्यो की जाती है ? इस जिज्ञासा का एक सामान्य किन्तु तर्क पुष्ट समाधान तो यह है कि अन्य किसी तिथि को मनाने पर भी यह प्रश्न तो बना ही रहेगा कि इसी तिथि को क्यो ? तो इस दृष्टि से कोई भी एक

दिवस तो निश्चित करना ही होता है तथापि इन्हीं दिनो पर्वाराधन को औचित्य प्रदान करने वाले व्यावहारिक एव आगमिक अनेक आधारभूत दृष्टिकोण उपलब्ध होते है। व्यावहारिक दृष्टिकोण यह है कि अधिसख्य क्षेत्रो मे इन दिनो किसानो की फसले खडी रहती है अत· उनका विशेष कोई कार्य नही रहता है। फसलो के कटने मे समय होने से व्यापारियों को भी प्राय: अवकाश मिलता है। वर्षा ऋतु की प्रबलता के कारण जीवोत्पत्ति की अधिकता होने पर उनकी हिसा के पाप से बचने के लिए अधिक से अधिक धार्मिक प्रवृत्तियां बढे।

आगमिक दृष्टि से यह दिवस अनन्त तीर्थकरो की दृष्टि मे महत्त्वपूर्ण माना गया है। जैन दर्शन मानता है कि जब युग परिवर्तन होता है तो खण्ड प्रलय होता है। युग परिवर्तन को जैनागमो मे आरा परिवर्तन कहा जाता है। एक निश्चित अवध्यात्मक काल खण्ड को आरा कहा गया है। जैसे बैलगाडी के चक्को (पहियो) मे धुरी से एव रिग से जुड़ी हुई लकड़िया लगी रहती है जिन्हे "आरा" कहा जाता है। उसी प्रकार की काल खण्ड दूरिया होती है। एक काल चक्र मे १२ (वारह) आरे होते है। आरा का अर्थ है—भिन्न-भिन्न रूप से निर्धारित कालखण्ड। ६ आरो का एक उत्सर्पिणी काल एव ६ आरो का एक अवसर्पिणी काल होता है और ये दोनो काल खण्ड मिलाकर एक कालचक्र कहलाता है। आगमिक दृष्टि से सभी आरे आषाढ शुक्ला पूर्णिमा को ही बदलते है। उत्सर्पिणी एव अवसर्पिणी का कालचक्र इसी दिन बदलता है। प्रथम आरक (आरा) से द्वितीय आरक भी इसी पूर्णिमा को बदलता है। अभी पचम आरक चल रहा है। यह २१ हजार वर्ष का है। अभी इसके लगभग २५०० वर्ष व्यतीत हुए है। अब लगभग १८॥ (साढे अठारह) हजार वर्ष पश्चात् छठा आरा लगेगा वह भी आषाढी पूर्णिमा से ही। इस आषाढी पूर्णिमा के पश्चात् आने वाली श्रावण कृष्णा १ (एकम) से ४९ दिन पश्चात् सवत्सरी महापर्व आता है। यह इस समय अर्थात् ४९ दिन वाद ही क्यो आता है इसके पीछे भी शास्त्रीय दृष्टिकोण है। इसे समझने से पूर्व हम छठे आरे का थोड़ा स्वरूप समझले।

षष्ठ आरक का स्वरूप :

लगभग साढे अठारह हजार वर्ष वाद जब छठा आरा लगेगा, विकराल प्रलयकारी तूफान उठेगे। उन तूफानो मे धूल, अग्नि, पानी आदि की सात-सात दिन की वृष्टिया होगी। वर्तमानकालीन सारी व्यवस्थाए समाप्त हो जाएगी। अधिकाश मनुष्य तो मर जाएगे एवं वचे हुए मानव भी एक हाथ भर की ऊँचाई वाले होगे जो विल वासी जन्तुओ सा जीवन जीएगे। उनका जीवन सभ्यता एव सस्कृति से कोसो दूर होगा, नग्न रहेगे तथा ६ वर्ष की वालिका गर्भ धारण कर लेगी एव कुत्तियो की तरह एकसाथ सात-आठ सन्तानो को जन्म देगी। उस समय वाद रतेउ काय अर्थात् दिखाई देने वाली अग्नि का विच्छेद हो जाएगा।

तत्कालीन मानव मच्छ-कच्छ का भोजन करेगे जो रात्रि की शीत से एवं दिन की गर्मी से रेती मे पक जाएगे । तात्पर्य यह है कि रात्रि की अतीव शीत एव दिवस की अत्यन्त ऊष्णता के कारण लोग गुफाओं मे ही बैठे रहेगे । रात्रि की समाप्ति पर तथा दिवस की समाप्ति पर थोडे समय के लिये अपने बिलो (गुफाओ) से बाहर आएगे एव नदी के गंदले पानी मे से मच्छ-कच्छ पकड कर रेती मे दबा देगे । वे जब सीझे तो प्रात. दबाए हुए को सध्या को एव सध्या को दुबाए हुए को प्रात खा लेगे । वहा धर्माचरण नाम की कोई प्रवृत्ति नही होगी ।

कितनी दर्दनाक स्थिति होगी छठे आरे मे ? आप जरा चिन्तन करे । आज के इस पचम काल मे भी कौन सर्वथा सुखी है ? आज भी तो चारो तरफ प्राय दु.ख, सघर्ष, तनाव, दोर्मनस्य एव दरिद्रता के ही दर्शन हो रहे है । इतना अवश्य है कि आज आप धर्म साधना कर सकते है, वह छठे आरे मे नही होगी । इस धर्माराधन के स्वर्णिम अवसर पर भी जो धर्म साधना या किसी प्रकार के त्याग प्रत्याख्यान नही करेगे वे व्यक्ति जन्ममरण की शृ खला मे आबद्ध होकर छठे आरे मे उत्पन्न होगे । आज विश्व किस दिशा मे जा रहा है यह एक विचारणीय विषय है । शास्त्रकारो ने तो छठे आरे मे प्रलय की बात कही है, किन्तु आज का विज्ञान तो वह तैयारी कर रहा है कि सौ-पचास वर्षो मे ही इस दुनिया को नष्ट कर दिया जाय । दो विश्वयुद्धों के भयकर परिणाम तो सामने आ चुके है । सम्भवत प्रथम युद्ध मे ३॥ (साढे तीन) करोड एव दूसरे मे ७॥ (साढे सात) करोड लोग मारे गए । तीसरे विश्वयुद्ध के विषय मे प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० अल्बर्ट आईस्टीन से पूछा गया कि वह युद्ध कैसा होगा तो उन्होने कहा– "तीसरे के लिए मै कुछ नही कह सकता किन्तु यदि चौथा युद्ध हुआ तो वह ढेलो एव पत्थरो से लडा जाएगा ।" क्योकि तीसरे विश्वयुद्ध के बाद बचेगा ही क्या ? आज इतने अणु आयुधो का ढेर लग गया है कि इस पृथ्वी को एक बार नही सौ बार नष्ट किया जा सके । कल्पना करिये अणु स्टोरेज के गेट कीपर का दिमाग पागल हो जाए और वह एक काडी जलाकर उसमे फेक दे तो क्या हो दुनिया का ?

२१००० वर्ष के छठे आरे के समाप्त होने पर पुन इक्कीस हजार वर्ष का छठा आरा होगा । उसकी समाप्ति पर पाचवा आरा प्रारम्भ होगा । यह पूरा विपरीत क्रम चलेगा । अर्थात् छठा, पाचवा, चौथा, तीसरा, दूसरा एव फिर पहला आरा आएगा । यह अनुलोम विलोम का क्रम अनादि काल से चला आ रहा है–जिसे उत्सर्पिणी एव अवसर्पिणी की सज्ञा दी गई है । यद्यपि विलोम से चलने वाले मे भी प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि सज्ञा ही प्राप्त होगी, परन्तु उनका स्वरूप पष्ठ, पचम, चतुर्थ आदि के समान होता है, अत उन्हे छठा, पाचवा आदि नामो से पुकारा जाता है ।

पचासवे दिन का तालमेल :

इस काल चक्र के विवेचन का तात्पर्य यह है कि इसके आधार पर सवत्सरी के आषाढी पूर्णिमा से पचासवे दिन का योग बिठाया गया है । जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के आधार पर यह धारणा प्रचलित है कि जब पाचवा आरा लगता है तो सात-सात दिन तक पाच प्रकार की वर्षा होती है और बीच के दो सप्तक खुले रहते है । यथा—प्रथम सात दिन तक पुष्कलावर्त मेघ वर्षेगा अर्थात् मूसलाधार पानी गिरेगा, जिससे पृथ्वी साफ हो जाएगी । फिर सात दिन तक क्षीर-दूध की वृष्टि होगी । फिर सात दिन खुला रहेगा । उसके बाद पुन. सात दिन घृत वृष्टि के पश्चात् पुन. सात दिन खुला रहेगा । फिर सात दिन अमृत एव सात दिन रस की वृष्टि होगी, जिससे पृथ्वी पर सरसब्जता छा जाएगी । चारो तरफ हरियाली हो जायेगी । अनेक प्रकार की वनस्पति एव धान्यादि की उत्पत्ति होगी । तब वे विल (गुफा) वासी लोग बाहर निकलेंगे एव आपस मे मिलकर यह प्रस्ताव पारित करेगे कि अब हमारे खाने के लिए वनस्पति आहार पर्याप्त मात्रा मे मिल सकता है अत· आज के पश्चात् कोई मच्छ-कच्छादि नही खाएगे । कोई व्यभिचारादि बुरे कार्य नही करेगे । जो ऐसा करेगा वह समाज से बहिष्कृत माना जाएगा ।

चूंकि यह सब परिवर्तन, सामाजिक उत्क्रान्ति एव अहिसक भावना का प्रादुर्भाव इसी पचमी के दिन होता है, अत इसे शान्ति स्थापना का दिवस मानकर तीर्थंकर प्रभु ने महत्त्व प्रदान किया है । अनन्त तीर्थंकरो ने इस पर्व की आराधना की है । समवायांग सूत्र मे भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है कि स्वय प्रभु महावीर ने आषाढी पूर्णिमा के बाद ५०वे दिन पिछले ७० दिन शेष रहने पर पर्व की आराधना की थी । आज इस विषय मे बहुत अधिक मतभेद चल रहे है । इसका मूल कारण है जैन ज्योतिष ज्ञान का अभाव । जैनागमो की दृष्टि से पौष एव आषाढ ये दो ही मास बढते है । वर्षावास मे कोई भी मास नही बढता है । आज लौकिक पंचांगो का आधार लिया जा रहा है । अतः ये दुविधाएँ खडी हो रही है और समाज विघटन की ओर बढता जा रहा है । यदि इसका कोई सर्वमान्य हल निकाला जा सके तो सरकार से इस दिन की छुट्टी की माग की जा सकती है, कसाईखाने बन्द रखवाकर लाखो जीवो को अभयदान दिलाया जा सकता है किन्तु जब तक एक तिथि निश्चित नही हो, सरकार किस दिन छुट्टी करे ? वर्तमान आचार्यप्रवर श्री नानेश ने तो अपने उदार दृष्टिकोण के आधार पर यह सार्वजनिक घोषणा करदी है कि हमे किसी भी एक दिन आत्म शुद्धि करना है अत मैं बिना किसी पूर्वाग्रह के उस दिन सवत्सरी मनाने को तैयार हूँ जिस दिन पूरी जैन समाज एक दिन निश्चित कर देती हो । तिथि के बदल जाने मे हमारे किसी महाव्रत मे कोई दोष नही आता है ।

इस प्रकार इस पर्व की आराधना के ऐतिहासिक तथ्य कुछ भी रहे हो। यह निर्विवाद है कि यह परम शान्ति का सन्देशवाहक पर्व है, जिसकी आराधना जाति, वर्ग एव ऊँच-नीच के सभी भेदो को ओझल करके प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। चू कि यह पर्व प्राणिमात्र को अभय देने वाला है, आत्मदर्शन की ओर गति देने वाला है, अत. इसकी उपासना-आराधना मे किसी का भी वैमत्य नही हो सकता है।

बच्चो में भी तप की प्रतिस्पर्धा :

आज का दिवस हर्ष, पुलकन एव आनन्द का दिवस है। आज प्राय' बच्चे-बच्चे मे साधना-उपासना के प्रति उत्साह दिखाई देगा। जहा अन्य पर्व प्रसंगों पर बालक खिलौने, मिठाई, अच्छे नये कपडे, पटाखे व राखी आदि के लिये जिद्द करते है, मचलते है वहा आज बालको को वैसी कोई भौतिक वस्तु की चाह नही होती है। आज वे जिद्द करेगे एकासना, उपवास आदि करने की।

इन पर्वो की कैसी आनुवसिक सस्कारगत विशेषता है कि छोटे-छोटे बच्चे भी तप की होड लगाते हैं। आज वे अपनी माताओ से झगडते है कि हम उपवास करेंगे। यही नही, बच्चो के अतिरिक्त भी बहुत से व्यक्ति जो धर्म के प्रति कम रुचि रखते है, ऐसे युवा बन्धु भी आज प्रवचन सुनने एव उपवास आदि करने का प्रयास करते है। इसी दृष्टिकोण के आधार पर तीन प्रकार के उपासक बताए गए है—

१. सदैया—जो हमेशा कुछ-न-कुछ धर्मसाधना करते है। धर्म को अपने दैनिक कार्यक्रम मे प्रमुख स्थान देते है।

२. कदैया—जो यदा-कदा मित्र, रिश्तेदार एव मुनियो की प्रेरणा पाकर धार्मिक क्रियाएँ कर लेते है। उनमे साधना की नियमितता नही होती है।

३. पर्वैया—जो पर्वादि प्रसगो पर ही धर्म स्थानो मे प्रवेश करते है। वास्तव मे उनकी रुचि अपनी एक परम्परा का पोषण करने तक सीमित रहती है। फिर भी कई व्यक्ति पर्व प्रसगो पर आकर भी—एकाध प्रवचन सुनकर भी जीवन को रूपान्तरित कर साधना के प्रति रुचिवान बन जाते है। वे पर्वैया से सदैया बन जाते है।

उपवास—एकादशी नही :

आज अधिकाश व्यक्ति उपवास करेंगे। ८-८ वर्ष के बच्चे भी उपवास करने का प्रयास करेंगे, किन्तु यह स्मरण रहे कि जैन धर्म मे तपस्या अनूठी है और उसका प्रभाव भी अनूठा है। जैन साधना का उपवास उस एकादशी जैसा नही है जिसमे दिनभर अन्न को छोडकर बाकी सब कुछ खाते रहे। एकादशी

के सन्दर्भ मे एक पद है—

गिरी हो छुहारे खाय, किसमिस बादाम चाय,
साठे और सिघाडों से होत दिल स्वादी है।
गोद गिरि कलाकन्द, अरबी और शकरकन्द,
कुन्दन के पेडे खाय, लोटे बड़ी गादी है।
खरबूजे, तरबूजे, आम, निम्बू जबू जोर,
सिघाडे के सीरे से, भूख को भगादी है।
कहता है नारायण, करत है दूनी हान।
कहन की एकादशी, द्वादशी की दादी है।

इस प्रकार की एकादशी की तपस्या, तपस्या नही, तपस्या की मजाक है, किन्तु यह एकादशी का रूप बाद के कुछ स्वाद लोलुप लोगों ने बना लिया है। वास्तव मे एकादशी के शुद्ध स्वरूप का वर्णन एकादशी माहात्म्य मे इस प्रकार प्रस्तुत हुआ है—

अन्न कन्द फल त्याग, निद्रां शय्या च मैथुनम् ।
व्यापार विक्रय क्षोर न स्नानं दन्त धावनम् ।।

एकादशी का व्रत करने वालो को इन ग्यारह कार्यो का परित्याग करना चाहिये। १. अन्न, २. कन्द, ३. फल, ४. निद्रा, ५. शय्या, ६. मैथुन, ७. व्यापार ८ विक्रय, ९. क्षौर, १०. स्नान, ११. दन्तधावन। इन ग्यारह प्रवृत्तियो का त्याग हो तो ही विशुद्ध रूप से एकादशी का व्रत हो सकता है।

उपवास एक व्याख्या :

जैन साधना पद्धति मे जो उपवास का विधान है वह इसी प्रकार का विशुद्ध उपवास होता है। आज सवत्सरी के दिन को साधु-साध्वियों के लिए चौविहार-निर्जल उपवास का विधान है। यदि श्रावक मे क्षमता हो तो वह भी चौविहार उपवास करके प्रतिपूर्ण पौषध करे। आज अधिकाशतया शुद्ध रूप से उपवास भी कहा हो रहे है ? आज केवल भोजन को त्याग दिया कि उपवास मान लिया गया। प्रभु महावीर ने श्रावक के उपवास को पौषधोपवास व्रत कहा है। जहा समस्त विषय कषाय छूट जाते है। नीतिकारो ने उपवास की व्याख्या करते हुए कहा है—

विषय-कषायाहारस्त्यागो यत्र विधीयते,
सः उपवासः विज्ञेय शेष तु लघन विदु. ।।

जहा विषय कषाय एव अन्न-पान सभी का त्याग हो वही सही अर्थो मे

उपवास होता है। शेष को तो अर्थात् केवल आहार त्याग को तो लघन ही कहा गया है। आज आप उपवास तो पचक्ख लेते है और दिनभर व्यवसाय आदि सभी आरम्भो में रचे-पचे रहते है। उसे पूर्ण उपवास नही माना जा सकता है।

उपवास : शाब्दिक व्याख्या :

उपवास शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है—आत्मा के समीप वसना। उप· समीपे, वस· रहना-वसना। समस्त कापायिकादि वैभाविक भावो से अलग हटकर आत्मा के निकट रहना—स्वभाव मे स्थिर होना। और ऐसा उपवास तभी हो सकता है जवकि उपवास के दिवस समस्त वाह्य प्रवृत्तियो का परित्याग किया जाता है, केवल आत्म समाधि मे स्थिर होने का प्रयास किया जाता है।

अन्तःशोधन का पर्व :

आज संवत्सरी महापर्व का दिवस आत्मा के समीप वसने का दिवस है। समस्त विपय-कपायो से अलग हटकर आत्मदर्शन मे तन्मय होने का दिवस है। आज के दिन हम अपने अन्तरग मे झाके और यह देखने का प्रयास करे कि इस विगत वर्प में मेरी आत्मा कहा-कहा विपय-कपाय एव राग-द्वेष मे भटकी है। कितने व्यक्तियो के साथ क्रोध किया और कितनो के प्रति शत्रुता के सस्कार इस आत्मा मे वैठ गए है। कितने व्यक्तियो के साथ मानसिक, वाचिक अथवा कायिक प्रवृत्तियो से अनवन मुन-मुटाव का भाव वन गया है।

क्षमा है वीर का भूषण :

इन सभी दूषित वृत्तियो को खोज-खोजकर आज निकाल फेंकना है वैसे इस चिन्तन के लिए पर्युषण पर्व के प्रथम सात दिन आपको मिले है। उन यदि वृत्तियो का परिमार्जन नही हुआ हो तो आज का यह मौलिक अमूल्य अवसर आपके हाथ मे है। आज समस्त वैरभाव को धो डाले। मन के समस्त कालुष्य को साफ कर दें। किन्तु एक बात का अवश्य ध्यान रखेगे—जिन किन से वैर विरोध हुआ है, उन्ही से पहले क्षमायाचना करे और वह भी अन्तर से। केवल दिखावटी क्षमा "खमाऊ सा" "खमाऊ सा" से कोई अर्थ सिद्ध हो वाला नही है। एक गीतिका की पक्तियो मे कहा है कि—

"क्षमा है वीर का भूषण, क्षमा करना, क्षमा करना।
खमाने द्वार पर आए क्षमा, करना, क्षमा करना॥"

क्षमा करना वीरों का कार्य है, कायरो का नही। वीर ही नही, महा वी पुरुष ही क्षमा कर सकता है। क्षमा की परिभाषा करते हुए कहा गया है—

"सत्यपि सामर्थ्ये अपकार सहन क्षमा।"

विरोधी अथवा शत्रु से बदला लेने की क्षमता होने पर भी उदार दृष्टि-कोण से उसे क्षमा करना ही वास्तव मे क्षमा है। हममे विरोध का सामर्थ्य नही है। सामने वाला व्यक्ति शक्तिशाली है और हम उसका प्रतिकार नही कर सकने की स्थिति में कहे कि हमने उसे क्षमा कर दिया है तो वह क्षमा नही कायरता है। कहा है—

क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो।
उसको क्या, जो दन्त हीन, विष रहित विनीत सरल हो ॥

क्षमादान वही व्यक्ति कर सकता है जिसमे सामर्थ्य हो। पराक्रम हो। सामर्थ्य के अभाव मे विवशता वस किया जाने वाला क्षमादान कायरता की कोटि मे आता है।

क्षत्रियाणी की आदर्श क्षमा :

स्वर्गीय आचार्य देव श्री मज्जवाहरलालजी म. सा. आदर्श क्षमा दान का एक घटना-प्रसग फरमाया करते थे—

एक व्यक्ति ने किसी ईर्ष्या एवं विद्वेष के कारण एक क्षत्रिय की हत्या करदी। जो क्षत्रिय मारा गया वह अपने पीछे एक छोटा बालक एव युवा पत्नी छोड गया। पत्नी असहाय हो गई। बालक के सिर से पिता का साया उठ गया। फिर भी उस क्षत्रियाणी ने साहस के साथ अपने पुत्र मे वीरता के सस्कार भरे। अपनी वीरता के पुरुषार्थ के बल पर वह बालक एक दिन तत्कालीन सम्राट का प्रिय पात्र वन गया। एक प्रसग पर वह क्षत्रिय कुमार एक बार सम्राट के प्रवल शत्रु पर चढाई करके विजयश्री के साथ शत्रु को जीवित बन्दी बनाकर ले आया। फलत. सम्राट ने प्रसन्न होकर उस क्षत्रिय कुमार को पदोन्नति एव पारितोषिक के सम्मान से विभूषित किया।

कुमार विजयश्री की प्रसन्नता के साथ अपनी मा को प्रणाम करने गया। उसका चिन्तन था कि मेरी मा आज मुझ पर मेरी तरक्की पर वहुत प्रसन्न होगी, किन्तु जव उसने मां को प्रणाम किया तो मां ने मुँह फिरा लिया। क्षत्रिय कुमार विनीत एव मातृभक्त था। उसने मां को अप्रसन्न देखा तो वडे विनम्र शव्दो मे कहा—"मातेश्वरी, आज इस प्रसन्नता की घड़ी मे आप मुझे आशीर्वाद प्रदान नही कर रही है, देखिये मैं कितना पराक्रम करके विजयश्री लेकर आया हूँ।"

मा ने व्यथित मन से कहा—"वेटा, यद्यपि यह मेरे हर्ष का विषय है कि मेरा लाल परमवीर है, किन्तु मै तव तक तुम्हे कैसे वीर मानू जव तक कि तुम्हारे पिताजी की हत्या करने वाला जीवित है।" यह सुनते ही क्षत्रिय कुमार का खून खोल उठा—उसने जोशीले शव्दों मे कहा—"मां! आज तक तुमने मुझे

यह नही बताया कि मेरे पिता का हत्यारा जीवित है····बताओ मां, वह कौन है, मै अभी उसके टुकड़े-टुकड़े किये देता हूँ····बताओ····बताओ····शीघ्र बताओ···· वह दुष्ट पुरुष कौन है ?"

मा ने कहा—"बेटा ! इतने समय तक मैने तेरे शौर्य को नही जाना था इसीलिये उसका नाम नही बताया किन्तु अब मुझे विश्वास हो गया है कि तू अपने पितृघातक का बदला ले सकता है ।" और मा ने उस व्यक्ति का नाम पता बता दिया ।

क्षत्रिय कुमार तलवार लिये निकल पड़ा अपने घर से एव शत्रु को जीवित पकड कर उसके दोनो हाथ पीछे बाधकर मा के सामने लाकर खडा कर दिया और सिह गर्जना के साथ बोला—"बोलो मा ! अब इसे क्या दण्ड दिया जाय, किस तरह मारा जाय ?"

मा बोली—"बेटा ! इसे ही पूछ, इसे क्या सजा दी जाय" और क्षत्रिय कुमार बड़ी तीखी दृष्टि से उस बन्दी व्यक्ति की ओर देखने लगा ।

बन्दी ने आजिजी भरे शब्दो मे अपने प्राणो की भीख मागते हुए उस क्षत्रियाणी से कहा—"बहिन ! एक शरणागत के साथ जो व्यवहार होता है, मुझे वही दण्ड दिया जाय ।"

उस क्षत्रियाणी मा ने, जो क्षात्र धर्म को अच्छी तरह समझती थी, अपने वीर बेटे से कहा—"बेटा ! अब इसे क्षमा करदो····मै भोजन बनाती हूँ, तुम दोनो एक साथ भोजन करो ।"

क्षत्रिय कुमार चिल्लाया—"मा,····यह क्या कह रही हो, मेरी उठी हुई तलवार का वार खाली नही जा सकता··· मा मै अपने पितृ घातक के साथ भोजन करू····नही मा, यह नही होगा ।"

क्षत्रियाणी ने बडे मधुर शब्दों मे शान्त भाव से कहा—"बेटा ! तेरा वार खाली नही जाएगा । इसी तलवार से इसके बन्धन काट दो····बेटा, अब यह हत्यारा नही, एक शरणागत है । तुम्हे मालूम होना चाहिये कि शरणागत की रक्षा के लिए क्षत्रियो ने अपने जीवन अर्पण किये है····"

और उस मा ने क्षात्रत्व का परिचय दिया आदर्श क्षमा के द्वारा । दोनो को एक साथ अपने हाथो से भोजन कराया ।

क्षमा का एक और रूप :

इसे कहते है आदर्श क्षमा । शत्रु सामने है, उसको इच्छित दण्ड देने की क्षमता भी है फिर भी उसे क्षमादान देकर एक थाली मे भोजन करवाया जा रहा है । बन्धुओ ! उसकी हत्या कर देने से तो उसमे और वैर के सस्कार बैठ जाते,

किन्तु उस क्षमादान ने उसके पूरे जीवन क्रम को ही बदल दिया। कितना पश्चात्ताप हुग्रा होगा उसे ग्रपने ग्रपराध पर। क्षमादान के द्वारा क्रूरतम व्यक्ति के हृदय को भी बदला जा सकता है।

यूनान के महान् दार्शनिक सुकरात के जीवन का भी एक ऐसा ही घटना-प्रसग है—वे ग्रपने मित्रो के साथ बात करते हुए सडक पर चले जा रहे थे कि एक व्यक्ति उन्हे दो लात मारकर भाग गया। सुकरात जरा उधर देखकर पुन: उसी शान्त भाव से बात के उसी पॉइन्ट पर ग्रा गये। मित्रो ने कहा—"ग्राप को क्रोध नही ग्राया। ग्राप तो एकदम इतने ग्रविचलित रहे कि जैसे कुछ हुग्रा ही नही। हमे तो इतना गुस्सा ग्राया कि ग्रभी उसे पकडे एव····" सुकरात ने कहा—"यह तो उसके विचारने का है कि उसने क्यो लात मारी। उसकी कोई समस्या होगी' ''उसका वह विचार करे, मै क्यो विचार करूँ····यदि मुझे कोई गधा लात मारे तो क्या मै भी उसे लात मारूँ।"

यद्यपि सुकरात की क्षमा उतनी ऊँचाई का स्पर्श तो नही कर पाई कि वे शत्रु को "गधे" शब्द से सम्बोधित नही करते, किन्तु प्रसग के उपस्थित होने पर एकदम ग्रविचलित बने रहना भी सामान्य बात नही है।

जो खमाता है वह ग्राराधक है :

हमारे चिन्तन का मूल विषय है कि इस पर्व प्रसग पर हम राग द्वेष की ग्रथि को शिथिल करे एव क्षमा के ग्रपूर्व ग्रादर्श उपस्थित करे। हमारी क्षमा-याचना हार्दिकतापूर्वक हो, ऊपर से नही। बहुत व्यक्ति कहते है कि हमने तो खमालिया किन्तु सामने वाला नही खमाता है। ऐसे व्यक्तियो के लिये प्रभु महावीर ने स्पष्ट सकेत दिया है—

"जो उव-समइ तस्स ग्रत्थि ग्राराहणा ।
जो न उव-समइ तस्स णथि ग्राराहणा ।।"

जो कषायो का उपशमन कर लेता है ग्रर्थात् क्षमा याचना कर लेता है ग्रथवा क्षमा दान दे देता है वह ग्राराधक हो जाता है। उसकी ग्रात्मा विशुद्ध नि शल्य हो जाती है। जो क्षमा याचना ग्रथवा क्षमादान नही करता है उसकी ग्राराधना नही होती है—वह वीतराग वाणी का ग्राराधक नही होता।

ग्रत सामने वाला क्षमा याचना ग्रथवा क्षमादान करे या न करे, हमे यदि ग्रात्म-विशुद्धि करना है तो हमे ग्रवश्य कर लेना चाहिये। किन्तु वह क्षमा ग्रौपचारिक न हो। वह क्षमा उदायन महाराज जैसी ग्रादर्शवादिता से ग्रनुप्राणित हो। उदायन महाराजा का वह ऐतिहासिक घटना प्रसग ग्राचार्य भगवन् ग्राज के दिन प्राय. फरमाया करते है।

उदायन महाराजा की आदर्श क्षमा :

कौशाम्बी नरेश उदायन के यहाँ एक कुब्जा दासी थी। चूंकि वह आतिथ्य सत्कार के कार्य में अति निपुण थी अतः उसे वही कार्य दिया गया था। वह प्रत्येक अतिथि की इस हार्दिकता से सेवा करती कि प्रत्येक अतिथि, चाहे वह भिक्षुक हो या संन्यासी, उसे बहुत आशीर्वाद देकर जाता। एक बार एक संन्यासी कुब्जा की सेवा से प्रसन्न होकर उसे स्वर्ण गुटिका दे गया, जिसके सेवन से उसका न केवल कुब्जापन दूर हुआ अपितु उसका सम्पूर्ण शरीर स्वर्ण कान्ति के समान सौन्दर्य से चमक उठा। उस सौन्दर्य के कारण उसका नाम भी स्वर्ण गुटिका हो गया।

उसके सौन्दर्य की चर्चा चारो दिशाओ मे फैल गई। तत्कालीन उज्जैनी नरेश चन्द्रप्रद्योतन महाराजा ने उसके सौन्दर्य की प्रशंसा सुनी तो वे अपने मन पर नियन्त्रण नही रख सके। उन्होने स्वर्ण गुटिका को गुप्त सन्देश भिजवाया कि वहाँ कहाँ दासी का जीवन जी रही हो, यहाँ मै तुम्हे महारानी के पद से सुशोभित कर दूँगा।

स्वर्ण गुटिका ने सन्देश के उत्तर में सक्षिप्त उत्तर दे दिया कि यदि उदायन महाराजा से युद्ध करने की क्षमता हो और विजय प्राप्त कर सके तो ही मै उज्जैनी आ सकती हूँ।

चन्द्रप्रद्योतन मे इतनी क्षमता नही थी कि वह कौशाम्बी नरेश जैं शक्तिशाली सम्राट् से युद्ध कर सके और स्वर्ण गुटिका को एक वीर नरेश क तरह प्राप्त कर सके। किन्तु अब स्वर्ण गुटिका के बिना उसे चैन नही पड रह था। विवश हो उसने वासना के आवेग मे क्षात्रत्व को भुलाकर तस्करी क विचार किया और एक रोज रात्रि मे स्वर्ण गुटिका को चुरा कर ले आया।

जब उदायन नरेश को ज्ञात हुआ कि उज्जैनी जैसे विशाल साम्राज्य स्वामी ने दासी को चुराने जैसा निकृष्ट कार्य किया है तो उनसे यह अन्य सहन नही हुआ। उन्होंने सोचा कि यदि उज्जैनी नरेश मुझसे मागते तो मै स स्वर्ण गुटिका उन्हे भेंट कर देता किन्तु उन्होने एक अच्छे शासक होकर चौर्य क किया, यह सर्वथा अनुचित है...."जब बाड ही उठकर खेत को खाने लगे उसकी रक्षा कौन कर सकता है ?" जब राजा ही चोरी जैसा नीच कार्य क लगे तो प्रजा का क्या होगा ? उदायन नरेश ने चन्द्रप्रद्योतन को दूत के स सन्देश भिजवाया कि यह आपने अनैतिक आचरण किया है, जो आपके क्षात्र को लाछित करता है। आप स्वर्ण गुटिका को तुरन्त लौटा दे या युद्ध के ि तैयार हो जाएँ। हम आपकी अनीति को सहन नही करेंगे। जब चन्द्रप्रद्योतन दासी को लौटाने से इन्कार कर दिया, तो उदायन महाराजा ने इस अनीति

विरोध का सकल्प कर लिया और विशाल सेना के साथ उन्होने उज्जैनी पर चढाई कर दी ।

यहाँ यह स्मरणीय है कि उदयन महाराज बारह व्रतधारी श्रावक थे । उनको सकल्प पूर्वक एक चीटी मारने का भी त्याग था । किन्तु उनके द्वारा छेड़े गए युद्ध मे हजारो व्यक्ति मारे गए, और शास्त्रकार कहते है कि इतनी हिसा के उपरान्त भी उदायन महाराजा का कोई भी व्रत भग नही हुआ ।

क्या धर्म कायरता सिखाता है ?

जैन तत्त्वज्ञान की सूक्ष्मता की अनभिज्ञता के कारण बहुत से लोग, तथा कथित जैन भी, जैन धर्म पर यह आक्षेप लगाते है कि जैन धर्म कायरता सिखाता है जब कि वास्तविकता यह है कि जैन धर्म वीरता ही नही, महा वीरता सिखाता है । एक श्रावक जब अहिसा व्रत स्वीकार करता है तो वह यह सकल्प करता है कि मै निरपराध निरपेक्ष त्रस (चलते फिरते) प्राणियो को सकल्पपूर्वक नही मारूगा । सापराधी की हिसा की वह छूट रखता है । श्रावक के बारह व्रतो की आराधना एक सामान्य मजदूर से लेकर एक सम्राट् भी कर सकता है । अनीति का विरोध करना श्रावक-सम्राट् का कर्तव्य होता है । यह अलग बात है कि वह पहले सभी अहिसक उपायो का प्रयोग करता है, किन्तु जब अनीतिकर्ता आतताई किसी भी स्थिति मे मानने को तैयार नही होता है तो उसे शस्त्र उठाना पडता है, युद्ध करना पडता है, किन्तु चूँकि उसने सापराधी की हिसा का त्याग नही किया है, अत उसका व्रत खण्डित नही होता है ।

अन्याय के सामने झुक जाने को जैन धर्म ने वीरता नही, कायरता कहा है । ऐसी कायरता जैन धर्म नही सिखाता है । जैन धर्म वीरो का ही नही, महावीरो का धर्म है । इसे कायरता सिखाने वाला धर्म कहना अज्ञानता है । नासमझी है ।

यह ठीक है कि जैन धर्म हिसा मे धर्म नही मानता । वह हिसा को हिसा मानता है । किन्तु आरम्भ जनित हिसा एव सकल्प जनित हिसा की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करता है । श्रावक की अहिसा एव श्रमण की अहिसा के भेद को स्पष्ट करता है ।

उदायन महाराज ने युद्ध किया, हजारो व्यक्ति मारे गये, इसका कोई पाप नही हुआ यह जैन धर्म नही कहता । जैन धर्म पाप को पाप मानता है किन्तु उस हिसा से उदायन महाराज का कोई व्रत खण्डित नही हुआ, क्योकि उन्होने व्रत उसी रूप मे ले रखा था । अन्याय-अत्याचार के प्रतिकार की तथा आक्रामक आतताई के विरोध की उन्होने अपने व्रतो मे छूट रखी थी ।

यदि जैन तत्त्वज्ञान का सूक्ष्मता पूर्वक अध्ययन किया जाए तो इसका प्रत्येक सिद्धान्त वैज्ञानिक होने के साथ दार्शनिक एव व्यावहारिक भी है। जो हमे स्वस्थ जीवन जीने की प्रेरणा देता है। यह अहिसा के नाम पर प्राणिमात्र के साथ मैत्री भाव-अनुकम्पा सिखाता है। वह कायरता अथवा पलायनवाद की शिक्षा कभी नही देता।

उदायन नरेश का सांवत्सरिक पौषध :

मै आपके समक्ष उदायन महाराजा की आदर्श क्षमा का विषय रख रहा था। उदायन नरेश ने उज्जैनी राज्य पर चढाई कर दी। चन्द्रप्रद्योतन को पराजित ही नही किया, उसे जीवित वन्दी बनाकर उसके दोनो हाथ पीछे की ओर बाध दिये और उसके ललाट पर लिख दिया—"मम दासी पति।" उज्जैनी पर अपनी शासन व्यवस्था स्थापित कर जब वे कौशाम्वी की ओर लौट रहे थे, चन्द्रप्रद्योतन साथ ही था। सयोग से जव वे दशार्णपुर नगर (आज का मन्दसौर) पहुँचे तो आज का यही सवत्सरी का दिन आ गया। उन्होने वही तम्बू तनवा दिये और सवत्सरी के पूर्व दिवस ही पौषध की तैयारी करने लगे। चूँकि अब भी वे चन्द्रप्रद्योतन को पूरा सम्मान देते थे, अत. उसे अपने साथ ही भोजन करवाते थे। उस रोज उसे कहा कि मै तो कल पौषधोपवास करूँगा। आप कल रसोइये से कहकर अपनी अनुकूलतानुसार भोज्य सामग्री बनवा लीजिये।

चन्द्रप्रद्योतन के मन मे षडयत्र की गध आने लगी—वह सोचने लगा—क्या पता कल भोजन मे विष मिला दे और मुझे मार दे। अत उसने कहा—"राजन्! आपका यह महान् पर्व है, तो इस दिन मै भी आप ही के समान पौषध की साधना करूँगा। यद्यपि मै इसके विधि विधान नही जानता हूँ फिर भी आप जैसे करेंगे, मै भी वैसे करता रहूँगा।"

उदायन नरेश ने कहा—"आपको अभ्यास नही है अत आप भोजन करले। आप विश्वास रखे आपके साथ कोई धोखा नही होगा।"

कुछ लजाती सी आवाज मे चन्द्रप्रद्योतन ने कहा—"नही, अविश्वास की कोई बात नही है... आज मै भी आपके इस महापर्व की आराधना करना चाहता हूँ। मै उपवास कर लूँगा। मुझे भोजन नही करना है।"

आखिर उदायन राजा ने पौषध किया और चन्द्रप्रद्योतन ने उनका अनुकरण। इस वीच चन्द्रप्रद्योतन को यह ज्ञात हो गया था कि इस पर्व के दिन उदायन महाराज सायकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् सभी जीवो से खमतखामना (क्षमायाचना) करेंगे, अत उसे अवसर का पूरा लाभ उठा लेना चाहिये।

क्षमायाचना अपराधी से :

उदायन महाराजा ने दिन भर आत्म-साधना मे व्यतीत किया। अपने वर्ष भर के दोषो, अपराधो एव अतिचारो का चिन्तन किया। अपने समस्त चिन्तन, मन-वचन-काया के योग को समस्त सासारिक प्रवृत्तियो से अलग हटा-कर केवल आत्म-परमात्मा स्वरूप के अन्वेषण में लगा दिया....सन्ध्या प्रति-क्रमण करके उन्होने ८४ (चौरासी) लाख योनि से क्षमायाचना की। निकटवर्ती सभी लोगो से क्षमायाचना के पूर्व चन्द्रप्रद्योतन के पास पहुँचे और क्षमायाचना करते हुए कहने लगे—"प्रिय आत्म वन्धु, मै आपसे हार्दिकता पूर्वक क्षमायाचना करता हूँ। आपसे किसी भी प्रकार का वैर—विरोध नही है, आप मुझे क्षमा करे।"

वन्धुओ ! कितनी उज्ज्वल एवं आदर्श क्षमायाचना है उदायन महाराज की। उन्होने कोई गलती नही की न उनका कोई भी अपराध था और न उन्होने किसी को सक्लेश पहुँचाने की पहल की थी, फिर भी स्वय आगे होकर क्षमा-याचना कर रहे है। आज वहुत से वन्धु कहते है—"हम पहले क्षमायाचना क्यो करे, गलती हमने नही, सामने वाले ने की है। वह आएगा हमसे क्षमा मांगने।" किन्तु आप देखिये उदायन महाराजा स्वय अपने वन्दी से क्षमा माग रहे है। वास्तव मे क्षमायाचना अथवा क्षमादान से हम छोटे नही हो जाते है, उसमे हमारा वडप्पन ही झलकता है। कहा भी है—

"क्षमा वडन को चाहिये, छोटन को उत्पात।
कहा विष्णु को घटि गयो जो भृगु मारी लात ॥"

महान् व्यक्ति ही क्षमायाचना का ऐसा आदर्श उपस्थित कर सकते है। आज आप उन व्यक्तियो से घर-घर जाकर क्षमायाचना कर लेगे, जिनसे आपका कभी कोई सघर्ष नही हुआ हो, जिनका कभी आमना-सामना ही नही हुआ हो। किन्तु जिनसे सघर्ष हुआ है, उनके लिये कहेगे हम नही झुकेंगे, हमने झगडा नही किया...वन्धुओ ! जरा विचार करे इस प्रकार हमारे राग-द्वेष वढेगे या घटेगे ? क्या इस तरह हम सवत्सरी जैसे महान् पर्व की आराधना कर सकेगे ? आज के दिन भी यदि हमारे राग-द्वेष की गांठे शिथिल नही हुई, कपाय की ज्वालाएँ शमित नही हुई और वैर विद्वेष का भाव नही मिटा तो क्या स्थिति होगी इस आत्मा की ? शास्त्रकारो ने वताया है कि किसी मुनि के मन मे किसी के प्रति द्वेष आ जाय या उसका किसी से सघर्ष हो जाए तो मुनि को गोचरी जाने के पूर्व क्षमायाचना कर लेना चाहिये। कदाचित् उस समय नही हो सके तो भोजन करने के पूर्व, तव भी नही हो सके तो सन्ध्या प्रतिक्रमण मे और तव भी नही हुआ हो तो पाक्षिक प्रतिक्रमण के समय तो क्षमत क्षमायाचना हो ही जाना चाहिये। पन्द्रह दिनो मे भी यदि कपाय शिथिल नही हो तो वह साधक भावात्मक दृष्टि

से साधुता की स्टेज से नीचे गिर जाता है और आज संवत्सरी के दिन भी जो राग-द्वेष की गांठे नही खोली गई तो आपकी श्रावकत्व की पोस्ट ही समाप्त हो सकती है। यदि इन्ही कापायिक बुरे परिणामों में आयुष्य कर्म का बंध हो गया तो न जाने किस नरक—तिर्यच योनियो में जाना पडेगा ?

आज के इस पवित्र दिवस मे हमें आत्मावलोकन करके अन्दर मे छिपी समस्त कलुपता को निकाल फेकना है। यह दिवस अत्यन्त पवित्र दिवस है। आचार्य भगवन् फरमाया करते है कि यह अवसर चूकने वाला उसी प्रकार पश्चात्ताप करता है जैसे उस ज्योतिपी–पण्डित की पत्नी को पश्चात्ताप करना पड़ा—

पल रा वाया मोती :

ऐसा हुआ। ज्योतिष ज्ञान के प्रकाण्ड विद्वान् पण्डितजी दिन-रात अपने ग्रन्थो के पन्ने उलटने मे लगे रहते थे। घर मे चारो ओर गरीवी ने अपना साम्राज्य जमा लिया। पण्डिताइन वार-वार चिल्लाती—"क्या पडा है इन पोथी पोथो मे ? कुछ कमा कर लाओ तो घर का खर्च चलेगा।"

पण्डितजी कहते—"देखा भागवान् ! इन पोथो मे ही तो सारे ब्रह्माण्ड का ज्ञान भरा हुआ है....तू देखा कर, मै एक ऐसा मुहूर्त ला रहा हूँ जो तेरे घर को धन से भर देगा।"

पण्डिताइन तेश मे आकर कहती—"रहने दो तुम्हारे मुहूर्त को. न जाने कब तुम्हारा मुहूर्त आएगा....? यहाँ तो वर्षो से खाने के लाले पड रहे है....कभी भी भरपेट दोनो वक्त भोजन नही किया है ..।"

पण्डितजी ने कहा - "भली आत्मा, थोड़ा तो धैर्य रख, बस कुछ ही दिनों मे वह मुहूर्त आने वाला है, जिस समय गरम–उबलते हुए पानी मे जवार डालने पर वह मोती बन जाएगी।"

और कुछ ही दिनों मे पण्डितजी ने पण्डिताइन से कहा—"आज वह मुहूर्त आ रहा है। तुम कही से थोडी जवार ले आओ और चूल्हे पर पानी चढाकर पास में बैठ जाओ। जब मै श्लोक पाठ करते हुए "हूँ" कहूँ कि उसी समय वह जवारी पानी मे डाल देना। देखना समय नही चूकना है।"

पहले तो पण्डिताइन थोडी गरम हुई—"मै कहाँ से माँग कर लाऊँ जवार। मुझे तो मागते-मागते ही शर्म आने लगी है।"

पण्डितजी ने कुछ आग्रह किया कि वस आज और माँग ले फिर तुझे कभी किसी के आगे हाथ नही फैलाना पड़ेगा, तो वह पडौस मे गई और सेठानी से

बोली—"सेठानीजी आज मुझे आप पाँच सेर जवारी उधार दे दे । मै आपको कल ही लौटा दूँगी ।"

सेठानी ने पूछा—"आज एक साथ पाँच सेर जवारी का क्या करोगी ? तुम तो घर मे दो ...।"

"नही, सेठानीजी आज मेरे पतिदेव ने एक ऐसा मुहूर्त निकाला है कि उनके "हूँ" करते ही यदि जवारी उबलते हुए पानी मे डाल दी जाय तो वह मोती बन जाएगी ।"

सेठानी ने शीघ्र ही उसे पाँच सेर जवारी दे दी और सोचने लगी मुहूर्त तो आकाशचारी नक्षत्रो के आधार पर आता है, वह केवल पण्डितजी के घर तक ही तो नही रहेगा । क्यो न इस अवसर का मै भी लाभ ले लूँ । सेठानी ने पण्डितजी के मकान की दिवाल के पास, जो उसके मकान से लगी हुई थी, एक वडी सी उठाऊ सिगडी जलाकर रखदी और उस पर दस-बीस सेर पानी रख दिया । अब वह दिवाल के पास कान लगाकर बैठ गई कि ज्योही पण्डितजी "हूँ" करेगे वह दस-बारह सेर जवार पानी मे डाल देगी ।

इधर पण्डिताइन भी अपनी व्यवस्था करके वैठ गई और अधीरता पूर्वक मुहूर्त का इन्तजार करने लगी । पण्डितजी अपनी लीनता पूर्वक मन्त्र पाठ करते रहे । ज्योही वह शुभ मुहूर्त का क्षण आया कि पण्डितजी ने कहा "हूँ" और पण्डिताइन पूछने लगी—"ओर दूँ अर्थात् जवार पानी मे डाल दूँ ?"

पण्डितजी ने हाँ मे सिर हिलाकर अपना सिर पीट लिया ...इस भली आत्मा को इतना समझाया कि "हूँ" कहते ही ओर देना, किन्तु यह पूछ रही है ओर दूँ । इसे यह नही मालूम कि मुहूर्त कितना सूक्ष्म होता है । "ओर दूँ" कहने से तो कितने क्षण वीत गए ।

कुछ समय पश्चात् पण्डिताइन ने ढक्कन उठाकर देखा कि मोती हुए कि नही । तो उसने देखा मोती तो नही हुए है । जवार सीजकर गूगरी (खिचडी) वन गई है । मारे गुस्से के उसने वह वर्तन लाकर पण्डितजी के सामने पटक दिया और चिल्लाने लगी—"जाये तुम्हारा मुहूर्त भाड मे, अव मै यह उधारी कहाँ से चुकाऊँगी. काम-धन्धा तो कुछ करते नही और इन झूठे पोथो मे घुसे रहते हो ..." पण्डिताइन चिल्लाए जा रही थी ।

पण्डितजी, जिन पर कुछ गरम-गरम छीटे उछल गए थे उन्हे पोछते हुए विचार मे पड गए कि अव इस नासमझ को कैसे समझाया जाय कि तू ने मुहूर्त ही चुका दिया तो इसमे मेरा क्या दोष है ? पण्डित विचार कर रहे थे कि मेरा ज्ञान झूठा नही हो सकता, इतने मे पड़ौसन सेठानी सामने आकर खड़ी हुई और

एक वडी-सी कटोरी भरकर मोती पण्डितजी के चरणो में रखते हुई बोली—"पण्डितजी, यह मेरी छोटी-सी भेंट लीजिये ।"

पण्डितजी सिर ऊपर कर आगन्तुक महिला को जिज्ञासा भरी दृष्टि से देखते हुए बोले--"आप कौन है बहिनजी और यह किस बात की भट है ?"

सेठानी ने उल्लसित स्वरो मे कहा—"पण्डितजी, आप तो देवता पुरुष है, मै आपकी पडौसन हूँ और मुझे आप पहिचानते ही नही है। यही तो चरित्र-निष्ठ महापुरुषो की विशेषता होती है कि वे अपनी दृष्टि को कितनी उज्ज्वल रखते है। पण्डितजी यह जो भेंट मे ले आई हूँ वह आप ही की कृपा दृष्टि का प्रसाद है....आपने जो मुहूर्त निकाला उसी मे ये जवार मोती बने है। उन्ही मे से थोड़े से आपको भेट देने ले आयी हूँ....।"

पण्डितजी, जो बडी प्रसन्न मुद्रा से सेठानी की बात सुन रहे थे, सहसा बोल पडे—"पर आपको मेरे मुहूर्त की बात किसने बताई ?"

"पण्डिताइनजी ने, जो मेरे से पाँच सेर जवार उधार ले आई थी। मैने सोचा मुहूर्त तो सब के लिये समान रूप से ही आता है, क्यो न मै भी इसका लाभ ले लूँ। अत: मैने भी दिवाल के पास सिगड़ी पर पानी चढा दिया और आपने ज्यो ही "हूँ" कहा कि मैने १०-१५ सेर जवार उबलते हुए पानी मे डाल दी....वे सभी मोती बन गए। मुझमे इतनी उदारता तो नही आई कि वे सभी आपको भेट कर दूँ। किन्तु पण्डिताइनजी की क्रोधित आवाज सुनी तो ये थोडे से मोती ले आई !" सेठानी ने स्पष्ट किया और चली गई।

पण्डितजी ने अब बडी गर्वीली दृष्टि से पण्डिताइन की ओर देखा और कहा—"देख, मैने कहा था कि मेरे पोथो का ज्ञान झूठ नही है। गलती तुमने ही की कि मेरे "हूँ" कहते ही तूने जवार पानी मे नही डाली। तू पूछने लगी कि "ओर दूँ" तुझे मैने कितना समझाया था कि समय बडा सूक्ष्म होता है। एक क्षण मे तो नक्षत्र कही के कही चले जाते है।

अब पण्डिताइन पश्चात्ताप करने लगी—"नाथ, अब एक बार ऐसा मुहूर्त और ले आओ, अब मै लापरवाही नही करूगी।" किन्तु पण्डितजी ने कहा—"अब वह क्षण नही आ सकता जो चला गया .इसीलिये तो कहावत बन गई है—

"वेला रा वाया मोती नीपजै।"

आज का दिवस शुभतम मुहूर्त :

बन्धुओ ! आज का यह पवित्र दिवस भी अनन्त तीर्थंकारो की दृष्टि मे

एक शुभतम मुहूर्त है। आज के दिन भी यदि हमारे आन्तरिक शल्य नही निकले तो हमे भी इस मुहूर्त के चूकने का पश्चात्ताप करना पडेगा। आज का क्षमा-याचना एव क्षमादान का कार्य "वेला रा वाया मोती नीपजै" के समान है।

मैं आप के समक्ष कौशाम्बी नरेश उदायन महाराज की क्षमायाचना की वात रख रहा था। उदायन महाराज ने क्षमा भाव का बहुत ऊँचा आदर्श उपस्थित किया। जब वे चन्द्र प्रद्योतन से क्षमायाचना कर रहे थे तो चन्द्र प्रद्योतन ने कहा - "राजन्! यह कैसे खमतखामना? आपने मेरे सिर पर तो अपमान का तिलक "मम दासी पति" लगा रखा है. मेरी आत्मा इस अपमान की अग्नि मे जली जा रही है और आप क्षमायाचना कर रहे है। जब तक यह टीका नही उतरता मै कैसे मान लूँ कि आपकी क्षमायाचना सच्चे हृदय की क्षमा-याचना है।"

उदायन नरेश कहने लगे—"मै अभी पौषध व्रत में हूँ। अभी राजकीय किसी भी प्रवृत्ति मे भाग नही ले सकता। आप जो कुछ कह रहे वह राज्य व्यवस्था की वात है। किन्तु आप यह न समझे कि मै ऊपर से क्षमायाचना कर रहा हूँ। मेरी क्षमायाचना तो विशुद्ध हृदय की आन्तरिक क्षमायाचना ही है।"

और वास्तव मे उदायन नरेश ने दूसरे ही दिन पौषध व्रत पालने के पश्चात् चन्द्र प्रद्योतन के ललाट पर लिखा हुआ वह वाक्य हटवा दिया और यही नही, कौशाम्बी पहुँच कर अपनी राजकुमारी का चन्द्रप्रद्योतन के साथ विवाह किया एव प्रीतिदान (दहेज) मे उज्जैनी का राज्य एव स्वर्ण गुटिका दासी भी दे दी।

इसे कहते है क्षमायाचना एव क्षमादान। जिसका राज्य अपने अधिकार मे आ गया, जो राजा स्वय बन्दी वना दिया गया उसे सहर्ष क्षमादान देकर पुन: इतना विशाल राज्य लौटा देना कोई सामान्य वात नही है। आज आप छोटी-छोटी वातो के लिये, नाकुछ विभाजन के मुद्दो के लिये भाई-भाई के विरुद्ध कोर्ट-कचहरियो मे दौडते फिरते है। कम-से-कम आज के दिन यह तो सकल्प करे कि अपने पारिवारिक सम्वन्धो के प्रति तो आज आदर्श क्षमा का भाव प्रस्तुत करेगे। अगर कोई कोर्ट केस चल रहे हों तो उन्हे विना किसी शर्त के उठा लेगे।

क्षमायाचना–नौकर–चाकरो से :

वन्धुओ! आज प्रतिक्रमण के पश्चात् आप आपस मे एक दूसरे मे क्षमा-याचना करेंगे। चौरासी लाख योनि के जीवो से क्षमायाचना करेंगे। कि

लोगो से करेंगे कि नही, जिनकी आप प्रतिदिन सेवा ले रहे है और बदले मे जरासा भी कार्य बिगड जाने पर उन्हें दस-बीस गालियाँ दे डालते है। न आप उन्हे समय पर वेतन देते है जिनके सहारे मौज-शौक की जिन्दगी जी रहे है। उन नौकर–चाकरों से भी क्षमायाचना करे। यही नही अपने अधीनस्थ प्रत्येक छोटे से छोटे कर्मचारी-चपरासी तक से क्षमायाचना करें। पर एक बात का ध्यान रखे, आपकी वह क्षमायाचना औपचारिक कुम्हारवाले "मिच्छामि दुक्कड" के समान न हो कि आज खमाया और कल पुनः उसके साथ वही व्यवहार करने लगे। कुम्हारवाले मिच्छामि दुक्कड का एक लघुतम उपाख्यान है।

कुम्हारवाला मिच्छामि दुक्कडं :

एक आचार्य अपने शिष्य मण्डल के साथ किसी कुम्भकार शाला मे ठहरे हुए थे। एक लघुवयी शिष्य एकान्त स्थान मे बैठकर अपना अध्ययन (स्वाध्याय) कर रहे थे। सामने कुम्भकार के कुछ मटके पडे हुए थे। बाल चापल्यवश उन छोटे मुनिजी ने एक ककर उठाया और अपनी अगुली मे दबाकर जोर से एक मटके पर मारा, मटका फूट गया। मुनिजी ने पश्चात्ताप के स्वरो मे कहा—"मिच्छामि दुक्कड" अर्थात् मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो। (सामान्यतया मिच्छामि दुक्कड का वही अर्थ होता है जो आप बात-बात मे बोला करते है—"सॉरी" जिसे उर्दू मे बोलते है "तोबा")।

कुछ समय बीता कि फिर मुनिजी ने ककर उठाया और दूसरा मटका फोड दिया। इस प्रकार ३-४ मटको के फूटने की आवाज आई तो कुम्भकार छिप कर देखने लगा कि मेरे मटके कौन फोड़ रहा है—उसने मुनिजी को मटका फोडते हुए और तुरन्त मिच्छामि दुक्कड देते हुए देखा तो उसके आश्चर्य का पार नही रहा। वह सोचने लगा यह अच्छा मिच्छामि दुक्कड है। मटके फोडते जा रहे है और मिच्छामि दुक्कड देते जा रहे है।

वह मुनिजी के निकट गया और विनय से निवेदन किया—मुनिजी आप मेरे मटके क्यो फोड रहे है? क्या आपको इसमे पाप नही लग रहा है?

मुनिजी ने सहज भाव से कहा—मैने मिच्छामि दुक्कड दे दिया है, अत. मुझे पाप नही लगता।"

कुछ समय पश्चात् मुनिजी ने फिर ककर फेकना प्रारम्भ किया। फिर घडा फूटने एव मिच्छामि दुक्कड की आवाज कुम्भकार के कानो पर गई। अब उससे नही रहा गया। उसने एक छोटा-सा ककर उठाया और मुनिजी के कान पर लगा कर दबाने–रगडने लगा। मुनिजी चिल्लाने लगे—"अरे मेरे दर्द हो रहा है" कुम्भकार ने कहा—"मिच्छामि दुक्कड।" फिर ककर दबाया तो फिर

मुनिजी चिल्लाए—"मुझे पीड़ा हो रही है" कुम्भकार ने फिर कहा—"मिच्छामि दुक्कड ।"

मुनिजी कहने लगे—"मुझे तो पीडा हो रही है और तुम मिच्छामि दुक्कडं देते जा रहे हो । यह कैसा मिच्छामि दुक्कडं है ?"

कुम्भकार ने कहा—"आप मेरे घडे फोड़ते जा रहे है और ऊपर से कहते है मिच्छामि दुक्कड । यह कैसा मिच्छामि दुक्कडं है ?"

मुनिजी अपनी भूल को समझ गए और उन्होंने अपनी शुद्धि की आलोचना की । बन्धुओ, आपका "मिच्छामि दुक्कड" या क्षमायाचना भी मुनिजी की तरह न हो । आज आप अपने समस्त पापो—दुष्कृत्यो की विशुद्धि हृदय से आलोचना करें, प्रायश्चित ले एव आगे से पुन: उन्हे नही दोहराने का सकल्प करे । आत्म शुद्धि के इस अमूल्य अवसर को आप हाथ से न जाने दे । प्रतिवर्ष की तरह यह अवसर न चला जाए ।

क्षमायाचना का क्रमिक भावात्मक रूप :

क्षमायाचना का एक भावात्मक क्रमिक रूप मै आपके समक्ष रख रहा हूँ । यद्यपि मै उसे अपनी आत्म शुद्धि के लिये उत्तम पुरुप के सम्बोधन मे रख रहा हूँ, चूँकि मुझे आज सभी से हार्दिक क्षमायाचना करना है, किन्तु इसे आप अन्य पुरुष का सम्बोधन मान कर समझे एवं वैसी ही क्रम वद्ध क्षमायाचना आन्तरिक भाव पूर्वक करे ।

हम तीर्थंकर महाप्रभु महावीर के शासन मे चल रहे है । वैसे यह जिन शासन अनादिकाल से चल रहा है और हम पर अनन्त तीर्थंकर भगवन्तो का महान् उपकार है अत: सर्व प्रथम हम तीर्थंकर प्रभु से क्षमायाचना करे । आप कहेगे हमने उनकी क्या आशातना की है जो उनसे क्षमायाचना करे । किन्तु यह बहुत गहराई से चिन्तन का विषय है—हम छद्मस्थ है, धर्म के प्रति शका—कुशका करके यदि वीतराग वाणी के किसी भी अंश के प्रति हमारी अश्रद्धा होती है या तीर्थंकरो की आज्ञा की अवहेलना करते है, उनके सिद्धान्तो के विपरीत प्ररूपणा करते है तो वह उनकी आशातना होती है और इस रूप मे हम तीर्थंकर महाप्रभु के अपराधी होते हैं । अत: हमे सर्व प्रथम आत्म साक्षी से तीर्थंकर प्रभु से क्षमायाचना करनी है कि हे प्रभो ! जानते-अजानते मेरे द्वारा आपकी अवज्ञा-आशातना हुई हो तो क्षमा करे । यद्यपि तीर्थंकर प्रभु तो वीतरागी है, उनका किन्ही पर कोई द्वेप नही है अत: उनकी ओर से तो हमे सदा सर्वदा क्षमा मिली ही हुई है, तथापि यह हम अपनी आत्मशुद्धि के लिए कर रहे है ।

इसी प्रकार हमने सिद्ध स्वरूप पर अविश्वास किया हो, उनकी सत्ता को मनसा—वाचा कर्मणा नकारा हो तो उन अनन्त सिद्ध भगवन्तो से भी हार्दिक क्षमायाचना करते हैं ।

इसी क्रम मे हम अनन्त–अनन्त उपकारी आचार्य भगवन्तो से भी क्षमा-याचना करते है। आर्य सुधर्मा स्वामी से लेकर यह आचार्य परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। इस परम्परा मे अनेक महान् श्रुतधर शास्त्र पारगत तपोनिधि आचार्य हुए है। जिनमें महान् तपोमूर्ति क्रियोद्धारक आचार्य प्रवर श्री हुकमीचन्दजी म. सा. का क्रान्तिकारी आचार्यों मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। सयम साधना एव साध्वाचार की क्रिया विधियो मे आगत शिथिलता के समय उन्होने महान् क्रान्तिकारी उद्घोष किया और स्वय कठोरतम सयमीय क्रियाओ की आराधना करने लगे। उन्होने अपनी इन्द्रियो पर इतना नियत्रण साध लिया था कि आजीवन १३ द्रव्य से ऊपर द्रव्य लगाने का सर्वथा त्याग कर दिया था। समस्त मिठाई एवं तले पदार्थों का परित्याग कर दिया। यही नही, अपनी साधना के पिछले पूरे २१ वर्ष वेले-वेले पारणा करते रहे और कड़कडाती सर्दी मे भी एक ही चादर ओढते।

उन्ही महान् विभूति द्वारा उद्घाटित क्रान्तिकारी परम्परा मे पिछले ६ आचार्यो १ आचार्य प्रवर श्री शिवलालजी म सा. २ आचार्य देव श्री उदयसागरजी म सा ३ आचार्य भगवन्त श्री चौथमलजी म सा. ४ आचार्य पाद श्री श्रीलालजी म सा. ५. आचार्य विभूति श्री जवाहरलालजी म सा ६ एव क्रान्त द्रष्टा आचार्य प्रवर श्री गणेशीलालजी म सा ने इस क्रान्ति को वेग प्रदान किया—सयम की विशुद्धि परम्परा को सुरक्षित रूप से हमारे समक्ष प्रस्तुत किया अत इन महापुरुषो का भी हम पर महान् उपकार है।

अनन्त–अनन्त उपकृति के केन्द्र वर्तमान आचार्य भगवन्त के उपकारो को तो शब्दो मे अभिव्यक्ति दी ही नही जा सकती है। उनकी महिमा एव उपकृति को शब्दो की सीमा मे नही बाधा जा सकता है। शास्त्रकारो ने आचार्य को तुला–मध्य स्थान दिया है अर्थात् वे पाँचो पदो मे मध्यवर्ती है। शासन सचालन का समस्त दायित्व आचार्यो पर होता है। चतुर्विध सघ को एक अनुशासन मे चलाने एव उन्हे मुक्ति मार्ग की ओर गति देने का कार्य है आचार्य भगवन्तो का। आचार्य देव इस सम्पूर्ण दायित्व को किस सुन्दर ढग से निबाह रहे है, इसे आप मे से बहुत से व्यक्ति जानते है। एक बात मै बडे गर्व से कहता हूँ कि आचार्य भगवान् के तपस्तेज का इतना प्रभाव है कि आज लगभग २५० साधु साध्वी उनके इशारो पर कदम बढाते है। यही कारण है कि आज वृद्ध साधु-साध्वियो की सेवा की समुचित व्यवस्था जो आचार्य भगवान् के शासन मे चलने वाले सघ मे है, वैसी अन्यत्र मिलना मुश्किल है। जहाँ भी ठाणा पति सन्त-सती होगे, वहाँ टर्न-वाई-टर्न अलग-अलग सिघाडे उनकी सेवा मे प्रस्तुत होगे ताकि वृद्ध साधु-साध्वियो को अपनी वृद्धावस्था की साधना अखरने वाली न लगे।

ऐसे प्रखरतम तेजस्वी आचार्य भगवान् के शासन मे आप और हम सभी अपनी ज्ञान दर्शन-चारित्र की आराधना कर रहे है। अत. इन महापुरुषो का हम

पर वर्णनातीत उपकार है। मै अपने लिये तो स्पष्ट कह सकता हूँ कि इस पद दलित धूलि-धूसरित ग्रामीण बालक को आचार्य भगवान् ने अपना चरणाश्रय प्रदान कर यहाँ बैठ कर कुछ बोलने के लायक बना दिया, यद्यपि मैं कई बार कह चुका हूँ कि यहाँ जो कुछ मै बोलता हूँ वह मेरा अपना कुछ भी नही है, सब आचार्य भगवान् का ही है, अत आचार्य भगवान् के इस उपकार से कई जन्मो तक उऋण नही हुआ जा सकता है।

इतने महान् उपकारकर्ता आचार्य भगवान् की भी मैं ज्ञात-अज्ञात मे अवज्ञा-आशातना करता रहता हूँ। अतः आज समस्त आचार्य भगवन्तो के साथ-साथ विशेष तौर पर वर्तमान आचार्य भगवान् से मै हार्दिकता पूर्वक परोक्ष रूप से क्षमायाचना करता हूँ। आचार्य भगवान् के दर्शन किये आज हमें लगभग (५) पाँच वर्ष हो रहे है। इस अवधि मे प्रत्यक्ष मे नही किन्तु पत्राचार आदि के माध्यम से मैने उस महान् आत्मा का बहुत दिल दुखाया है। हमे बार-बार आदेश मिलता रहा—अभी छत्तीसगढ मे ही विचरो और हम बार-बार लिखाते रहे, अब हमे श्रीचरणो मे बुला लिया जाय। किन्तु फिर भी हमने आज्ञा का उल्लघन करने का भाव नही आने दिया। आचार्य भगवान् इस युग की एक महान् विभूति है। उन्हे सघ व्यवस्था की दृष्टि से सब तरफ से चिन्तन करना पडता है। अत उनका दृष्टिकोण दीर्घ दृष्टिपूर्ण होता है।

इस प्रकार आचार्य भगवन्त से क्षमायाचना के पश्चात् साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध सघ से क्षमायाचना करता हूँ। उनमे भी निकट के उपकारी सभी गुरु भ्राताओ, गुरु भगिनियो एव मुख्य तौर पर अत्र विराजित सारे तपस्वी सेवा समर्पित महामुनियो एव महासतियोजी से विशेष रूप मे क्षमा-याचना करता हूँ। मैं अपनी आदत के अनुसार कुछ भी बोलता रहता हूँ। आप सभी महापुरुष मुझे बालक समझ कर क्षमा करे।

साथ ही समस्त श्रावक-श्राविका वर्ग से, विशेष इन वर्षो के सम्पर्क की दृष्टि से छत्तीसगढ के श्रावको एव उसमे भी मुख्य तौर पर डौण्डी लोहारा के श्रावक-श्राविकाओ का इस वर्ष अधिक सम्पर्क रहा है अतः आप सभी से भी हार्दिक क्षमायाचना करता हूँ।

क्षेत्रीय क्षमायाचना :

इस ग्राम ने—यहाँ के जैन-जैनेतर सभी भाई-बहिनों ने प्रत्यक्ष परोक्ष रूप मे हमारी सयम साधना मे सहयोग दिया है। सभी की भक्ति-निष्ठा एवं सेवा भावना अनुकरणीय है। गाँव का पवित्र वायुमण्डल—शुद्ध हवा पानी भी साधना मे मददगार होता है। इस प्रकार इस ग्राम के समस्त वायु मण्डल ने साधना मे सहयोग दिया है, फिर भी मैं आप लोगो को बार-बार टोकता रहता हूँ। यद्यपि हमारा टोकना साधना की प्रेरणा के लिये होता है फिर भी हमारे किसी भी

व्यवहार से यहाँ के किसी भी व्यक्ति के हृदय को ठेस पहुँची हो तो मै हार्दिक रूप से क्षमायाचना करता हूँ ।

इसी क्रम मे समुच्चय रूप से हम पर छ काया के जीवों के महान् उपकार है, उन सभी से भी मै क्षमायाचना कर रहा हूँ ।

उपसंहार :

अन्त मे इस पावन पर्व प्रसग पर हमारे भीतर साधना की भावनाएँ जागृत हो, हम क्षुद्रता से, साम्प्रदायिक मनोवृत्तियो से ऊपर उठें एव विराटता की ओर बढें, यही सकेत है ।

आज अंतगड सूत्र मे आपने काली, सुकाली आदि महारानियो का वर्णन सुना, जो समस्त वैभव को छोडकर महान् तप साधना मे कूद पडी । उनकी तपस्या का वर्णन आज आपने सुना । उन्होने जितनी तपस्या की उसको आज हमें पढने सुनने मे भी जोर लगता है । आप जरा बोलकर देखें—बेला कर के तेला किया, तेला करके चोला किया, चोला करके बेला किया........।"

कितना जोर लगता है, इतने से पाठ के बोलने मे....?

इन महान् आत्माओ से हम कुछ प्रेरणा ले एव साधना मार्ग मे आगे बढे । आज के क्षमायाचना पर्व पर आदर्श क्षमा धारण करके जीवन को विशुद्ध बनाये ।

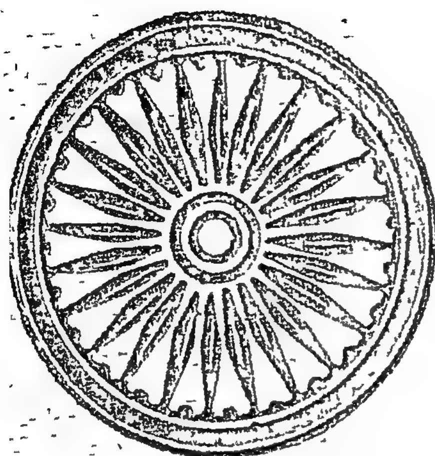
साथ ही एक सकेत और है—आज सवत्सरी पर्व हो गया है व कल प्रवचन बन्द रहेगा, किन्तु परसों से पुन धर्मध्यान की झड़ी लगा देना है । आप इस कहावत को चरितार्थ न करे कि—

"हुआ सवत्सरी का पारणा, छोडो साधाका बारणा ।"

पारणे के बाद भी पुन साधना करना है । आपको साधना का अमूल्य अवसर मिल रहा है । ऐसे उच्च कोटि की तपोमूर्तियो का आपको सान्निध्य मिल रहा है, इसका पूरा लाभ ले ।

अन्त में पुन सबसे क्षमायाचना करते हुए विषय को यही विराम दे रहा हूँ ।

□ □ □



विविध खण्ड

अहिंसा :

अहिंसा जैन धर्म का प्राणभूत सिद्धांत है। जैसे प्राण रहित शरीर का कोई मूल्य नही होता है ठीक उसी तरह अहिंसा के अभाव मे जैन धर्म की प्राणवत्ता ही समाप्त हो जाती है। जैन धर्म के सिद्धातों में से अहिसा को निकाल देने पर वह मृत प्राय: रह जायेगा। इस प्राण और दैहिक अभिन्नता के कारण ही "जैन धर्म" और "अहिंसा" पर्याय ही बन गये है। अहिसा का नाम लेते ही जैन धर्म का बोध होने लगता है और जैन धर्म का नाम आते ही अहिंसा पर दृष्टि केन्द्रित हो जाती है।

वैसे प्राय: सभी भारतीय दर्शनों-धर्मो ने अहिसा की अपने-अपने दृष्टिकोण से विवेचना की है। किन्तु जैन धर्म की सूक्ष्म एव तलस्पर्शी विवेचना अपना अलग ही महत्त्व रखती है। क्योंकि उसकी अहिसात्मक दृष्टि सूक्ष्मतम प्राणियो तक गई है। उसका कथन है कि यदि सूक्ष्म दृष्टि से छोटे-छोटे कीट पतगो एवं पशु-पक्षियो का अध्ययन करे तो हमें स्पष्ट ज्ञात होगा कि उनमें भी मनुष्य के समान ही जीवन है, चेतना शक्ति है। वे भी एक मनुष्य की तरह सुख-दु ख का सवेदन करते है। वे भी सुखपूर्वक जीना चाहते है। वे दु:ख एव दु ख के कारणो से बचना चाहते है। यह ठीक है कि उन प्राणियो मे एक मनुष्य जितना विवेक एवं ज्ञान नही है और वे अपने सुख-दु.ख को एक मनुष्य की तरह अभिव्यक्त नही कर सकते है तथापि सृष्टि के समस्त चराचर प्राणी, वनस्पति, कृमि, कीट और चीटी से लेकर हाथी तक सभी प्राणियो मे जीजिविषा-जीने की इच्छा है। इसी आत्म सत्य को चरम तीर्थकर प्रभु महावीर ने स्पष्ट किया—"सव्वे जीवावि इच्छन्ति जीविउ न मरिज्जिउ, सव्वे जीवा सुह पिया दुह पडिकूला" अर्थात् ससार के समस्त प्राणियो मे सुख पूर्वक जीने की कामना है। दु.ख और मृत्यु किसी को भी प्रिय नही है। अत: सभी को जीने का अधिकार है। उनके इस अधिकार को छीनना हिसा है। इस प्रकार जैन धर्म ने अहिसा के स्वरूप को बहुत सूक्ष्म किन्तु व्यापक रूप मे प्रस्तुत किया है, जबकि कुछ व्यक्ति अहिसा की विषय मर्यादा अथवा सीमा-रेखा मनुष्य जाति तक ही सीमित कर देते है। उनकी यह मान्यता है कि मनुष्य के अलावा ससार मे जितने भी पदार्थ एव प्राणी है, वे मनुष्य के उपभोग के लिये है। उसके सुख एव मनोरजन के साधन है। इसी सकुचित दृष्टिकोण के आधार पर वे पशु-पक्षियो पर मनमाना अत्याचार करते है। अहिसक होने का दावा करते हुए भी वे मद्य-मांस का सेवन करते है। अपने मनोरंजन एवं सामान्य सुख-सुविधाओ के लिये निर्दयतापूर्वक पशु-पक्षियो का वध कर शृंगार प्रसाधनों का निर्माण एव उपयोग करते है।

कुछ व्यक्ति इससे भी निम्न स्थिति पर उतर कर अहिसा को मानव समाज मे भी अपनी जाति एव अपने राष्ट्र तक सीमित कर देते है। वे अपनी

जाति एव राष्ट्र के लिये हजारों निरपराध मनुष्यों को मौत के घाट उतार देना भी अपना कर्तव्य मानते है। इस प्रकार अन्यान्य धर्मों ने भी अपनी-अपनी सीमित व्याख्याओं मे अहिसा को परिभाषित किया है।

जैसा कि कहा गया है, जैन धर्म एक सार्वभौम धर्म है और उसके सिद्धांत भी सार्वभौम सिद्धात है। चूँकि अहिसा सिद्धात उसका केन्द्र है। अतः उसका सार्वभौम होना अनिवार्य है। इसी आधार पर जैन तीर्थकरो एवं मनीषियो ने अपनी सर्वज्ञ दृष्टि से प्राणी जगत का सूक्ष्मावलोकन किया और तदनुरूप अहिसा की व्याख्या की। उनकी दृष्टि मे चाहे प्राणी छोटा हो अथवा बड़ा, अवश्य है। किसी भी प्राणी का वध हिसा की कोटि में ही आएगा। इतना ही नही प्राणी वध के सकल्प अर्थात् हिसामूलक मानसिक विचारों को भी वहाँ हिसा ही माना गया है।

यहाँ यह जिज्ञासा होना सहज है कि जैन धर्म अहिसा की इतनी सूक्ष्म व्याख्या अवश्य करता है, किन्तु क्या इस व्याख्या के आधार पर हमारा जीवन सुरक्षित रह सकता है ? पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा, वनस्पति एव चलते-फिरते सभी छोटे-बडे कीट-पतगो मे स्वतन्त्र आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने वाले जैन धर्मावलम्बी क्या श्वास-प्रश्वास नही लेते है ? पानी नही पीते ? कृपि कर्म आदि के द्वारा उत्पन्न अन्नादि का सेवन नही करते ? यदि करते है तो वे पूर्ण अहिसक होने का दावा कैसे कर सकते है ?

जिज्ञासा समीचीन है। इसका तर्क सगत समाधान यह है कि हमें अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु अनिवार्य हिसा का आश्रय लेना पड़ता है। एतावता हम अहिसा की परिभाषा को तो नही बदल सकते अथवा जिनमे चेतना विद्य-मान है और आज वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में जिनमे चेतना सिद्ध हो चुकी है, उन्हें तो नही नकार सकते। एक तस्कर का यह तर्क हो सकता है कि चोरी करना मेरी आजीविका है। एक कसाई का यह कथन हो सकता है कि प्राणी वध मेरा पैतृक कर्तव्य है। आज का आदमी कह सकता है कि टैक्स चोरी किये विना हमारा कार्य नही चल सकता, एतावता इन उपर्युक्त नित्य कर्मो को वैध करार नही दिया जा सकता है।

ठीक इसी प्रकार हम यह कह सकते है कि अमुक हिसा किये विना हमारा कार्य (जीवन) नही चल सकता, जीवन निर्वाह के लिये कृषि आदि कार्य अनि-वार्य है और उसमे हमे हिसा का सहारा लेना पड़ता है, किन्तु चूँकि हमे हिंसा का सहारा लेना पडता है अत. हम उस हिसा को हिंसा ही न माने अथवा अहि ही मान ले, यह कथन वैसा ही असगत होगा जैसे कि उस तस्कर और व ना है।

जैन मनीषियो ने अपनी अहिसा की सूक्ष्म व्याख्या मे इसका तथा अन्य अनेक शंकाओं का सुन्दर समाधान किया है। उसकी विस्तृत चर्चा तो यहाँ ग्रन्थ विस्तार के भय से नही की जा रही है, किन्तु इतना सा समझ लेना आवश्यक है कि जैन धर्म मे साधकों को अल्प साधक एव पूर्ण के रूप मे दो भागो मे विभक्त किया गया है। पूर्ण साधक जो अणगार-गृह त्यागी होते है, वे तो किसी भी लघु काय जीव का भी वध नही करते, किन्तु अल्प साधक श्रावक-गृहस्थ अपनी अनिवार्य कृषि आदि मे होने वाली हिसा के अतिरिक्त हिसा का त्याग कर देता है और जो हिसा उससे हो रही है उसे अपनी कमजोरी अथवा विवशता मानता है। जीवन रक्षा की तरह राष्ट्र रक्षा आदि के सन्दर्भ मे भी जैन धर्म यह समाधान देता है कि पूर्ण त्यागी मुनि के लिए सम्पूर्ण विश्व ही अपना है। किन्तु गृहस्थ मे चलने वाले व्यक्तियो को अपना राष्ट्रीय भाव होता है। उसके लिए उसे कभी आततायी का प्रतिकार भी करना पडता है, किन्तु वह अपनी हिसा के त्याग की मर्यादा मे इसकी छूट रखता है। इस प्रकार अहिसा के प्रति-पालन मे व्यक्तिश मर्यादा हो सकती है, किन्तु अहिसा का स्वरूप नही बदला जा सकता है।

अहिसा के उद्देश्य के विषय मे जैन धर्म की मान्यता है कि ससार के अशान्त व्याकुल और दु खी होने का कारण हिसा है। मानव अपने सुख-साधनो का येन-केन-प्रकारेण सयोग जुटाने का प्रयास करता है। इसके लिए उसे अन्य व्यक्तियो से सघर्ष एव विरोध की भूमिका मे खडा होना पडता है, बस यही से उसकी भावना मे हिसा का दौर प्रारम्भ होता है। यदि इन्सान अपनी सुख-सुविधाओ के लिए दूसरों को कष्ट देना छोड दे तो प्रतिरोध मे होने वाले उसके दु ख स्वत आधे रह जायेगे। साथ ही हिसा और प्रतिहिसा जन्य कर्म शृ खला के प्रवाह के अवरूद्ध हो जाने से सर्वत्र शाति व्याप्त हो सकती है। अतएव जैन धर्म कहता है यदि तुम सुख चाहते हो तो हिसा-प्रतिहिसा का त्याग कर अहिसा भगवती की आराधना करो। ससार के समस्त प्राणियो को अपनी आत्मा के तुल्य समझ कर उन्हे किसी भी प्रकार का कष्ट मत दो और यथाशक्ति उन्हे सहयोग देकर कष्ट मुक्त करने का प्रयास करो। तुम सुख चाहते हो तो दूसरो को सुख दो, यही सुख और शांति का राजमार्ग है।

जैन दर्शन की यह ध्रु व मान्यता है कि विश्व शाति का अमोघ उपाय अहिसा मूलक समता भावना ही है। आज नही तो कल, विश्व शाति का आह्वान करने वाले प्रत्येक व्यक्ति नेता को इसकी पुनीत छाया का आश्रय लेना ही पडेगा, अन्यथा उसका वह स्वप्न साकार कभी नही हो सकता है।

अनेकान्त .

अहिसा के समान ही विचार जगत मे जैन धर्म का दूसरा सिद्धान्त है—"अनेकान्त" जिसे हम स्याद्वाद, सापेक्ष-वाद अथवा वैचारिक अहिसा भी कह

सकते है । अनेकान्त सिद्धान्त का बहुत सीधा सा अर्थ है, हमारे विचारो मे किसी भी प्रकार का ऐकान्तिक आग्रह नही होना चाहिये । क्योकि जैसे भिन्न-भिन्न सम्बन्धो मे एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र, भाई, मामा हो सकता है वैसे ही विभिन्न दृष्टिकोणो से भिन्न-भिन्न सिद्धान्त सही हो सकते है । अत जैन धर्म कहता है कि यह आग्रह छोड दो कि "मै" कहता हूँ वही सही है । तुम्हारे विचारो की तरह दूसरे के विचार भी किसी दृष्टि से सही हो सकते है । अतः अपने धर्म-विचारो मे दृढ रहते हुए भी दूसरे धर्मो का तिरस्कार मत करो । उसमे जो गुण विद्यमान है, उन्हे ग्रहण कर उनका भी समादर करो ।

निष्कर्ष की भाषा मे कहे तो जैन दर्शन का यह अनेकान्त सिद्धान्त मानव मन मे वैचारिक विराटता-उदारता का सस्कार जागृत करता है । उसके अनुसार "मेरा है सो सत्य है" के आग्रह को छोड़कर "सत्य है सो मेरा है" के विचारो पर अमल करो तथा अपनी व्यवहार की भाषा मे भी "ही" की आग्रहात्मकता को छोड़ कर "भी" की उदारता पूर्ण भाषा का प्रयोग करो । उदाहरण के लिये किसी भी चार मीटर लम्बी रेखा को आप ऐसा नही कह सकते है यह "छोटी ही" है अथवा "बड़ी ही" है । वहाँ आपकी भाषा होगी यह रेखा "छोटी भी" है और "बड़ी भी" है । अपने से छोटी तीन मीटर लम्बी रेखा की अपेक्षा बड़ी है तथा अपने से बडी पाच मीटर लम्बी रेखा की अपेक्षा से वह छोटी है ।

वास्तव में सभी दार्शनिक विवादो का मूल ऐकान्तिक हठवादी आग्रह वृत्ति है । भगवान महावीर ने अथवा उनके पूर्ववर्ती सभी तीर्थकरो ने समस्त दार्शनिक विवादो का हल इसी अनेकान्त की पवित्र छाया मे देखा और तदनुरूप प्रतिपादन किया । उनका कथन है कि वस्तु को जितना हम देख रहे है अथवा समझ रहे है उसका उतना ही स्वरूप नही है । हम अपनी सामान्य दृष्टि से वस्तु के कुछ गुण धर्मो को ही देख पाते है जबकि वस्तु मे अनन्त धर्म रहे हुए है । हाथी को देखने वाले अन्धो मे जिसने पाँव पकडा हो वह हाथी को खम्भे जैसा और जिसने कान अथवा पूंछ पकड़ी हो वह पंखे एव रस्से जैसा ही समझता है । जवकि हाथी उन सभी के मिलने पर ही पूर्ण वनता है । ठीक उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ के स्वरूप के विषय मे हमारी एकागी दृष्टि अधूरी ही रहती है । अत हमको अपनी वैचारिक दृष्टि को विशाल एवं उदार वनाना चाहिए ।

जैन धर्म के मान्य इस अनेकान्त सिद्धान्त पर यदि सभी धर्मावलम्वी अमल करना प्रारम्भ कर दे, तो जगत के सभी धार्मिक मतवाद के हठाग्रह पूर्ण संघर्ष और विद्वेष समाप्त हो सकते है ।

अपरिग्रह :

जैन धर्म का तीसरा मौलिक सिद्धान्त है, अपरिग्रह-अनासक्ति-संसार के समस्त पदार्थो के प्रति ममत्व-आसक्ति का परित्याग । जैन धर्म की यह मान्यता

है कि संसार में संघर्ष का एक कारण अर्थ भी है। अर्थात् पैसे के पीछे पिता-पुत्र से सघर्ष कर बैठता है, न्यायालयों में एक-दूसरे के विरुद्ध दौड़ता रहता है। परिग्रह की भयंकरता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि परिग्रह ससार का सबसे बडा पाप है। आज संसार के समक्ष सर्वव्यापी वर्ग सघर्ष की जो दावाग्नि प्रज्वलित हो रही है, वह सब परिग्रह-मूर्च्छा की ही देन है। जब तक मनुष्य के जीवन मे अमर्यादित लोभ, लालच, तृष्णा विद्यमान है, तब तक वह शाति लाभ नही कर सकता है। अतः इस संघर्ष से उपराम पाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि सम्पत्ति के प्रति अनासक्ति भावना का प्रादुर्भाव हो। जितनी अल्पतम आवश्यकताओं में अपना निर्वाह हो सके, उतने में निर्वाह कर अधिक सम्पत्ति का गरीब, अनाथ एव अपगों के लिए उपयोग किया जावे।

जैन मनीषियो का कथन है कि अहिंसा की मूल निष्ठा अपरिग्रह मे आकर प्रतिष्ठित होती है। अपनी इन्द्रियासक्ति पूर्ण वासना की तृप्ति के लिए मनुष्य परिग्रह-सम्पत्ति जोडता है और उसी के लिये उसे हिसा का सहारा लेना पडता है। परिग्रह की मर्यादा हो जाए तो तज्जनित हिसा अपने आप समाप्त हो जाती है। इसी दृष्टि से जैन धर्म अहिसा के साथ अपरिग्रह को भी अनिवार्य मानता है। क्योंकि सम्पत्ति संग्रह की दौड़ में इन्सान हिसक एवं अनुचित साधनो का उपयोग करते हुए भी नही हिचकता। छोटे-बड़े प्राणियों का बेरहमी से वध करता है। खाद्य पदार्थो मे मिलावट के द्वारा अपनी अमानवीयता एव निर्दयता का परिचय देता है। इस प्रकार परिग्रह की भावना हिसा को बढ़ावा देती है। अतः महावीर भगवान ने अपने साधको-उपासको के लिये अहिसा के समान अपरिग्रहता को भी व्रत के रूप मे अनिवार्य रूप दिया है। जैन साधना का सर्वोच्च साधक श्रमण-मुनि तो अपरिग्रह का पूर्ण आदर्श ही होता है, किन्तु गृही साधक के लिये भी प्रभु महावीर ने परिग्रह परिमाण व्रत का प्रतिपादन करके बताया कि वह अपनी चल-अचल सभी सम्पत्ति को एक मर्यादित सीमा मे बाध ले, ताकि उसकी आकाशवत नि.सीम तृष्णा पर कुछ प्रतिबन्ध लग सके। यदि एक मकान, इतनी जोड़ी कपड़ा अथवा अमुक मर्यादित सम्पत्ति से उसका काम चल सकता है, तो हमें उसके अतिरिक्त परिग्रह संग्रह के प्रति प्रतिज्ञाबद्ध हो जाना चाहिये। जिससे उसकी विस्तृत इच्छाये एक निश्चित सीमा तक ही रहेगी और अतिरिक्त संग्रह वृत्ति के पाप से वह सहज बच जायेगा।

दुर्दान्त इच्छाओं एवं लालसाओ पर नियंत्रण कर जीवन को संयमित बनाना अपरिग्रह सिद्धात का मूल उद्देश्य है और उसका फलित है, "सादा जीवन उच्च विचार।" यदि इस सिद्धान्त का व्यापक रूप से पालन किया जाय तो भूमण्डल को स्वर्ग बनाने मे पल भर की भी देर न लगे। सर्वत्र सुख शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाए।

उपर्युक्त तीनों सिद्धान्त जैन धर्म की मौलिकता एवं सार्वभौमिकता को

सिद्ध करते है और तीनों का समुचित पालन विश्व की समस्त समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सकता है। एक जैनाचार्य ने संक्षेप मे जैन धर्म का स्वरूप बतलाते हुए कहा है—जहाँ अनेकान्त दृष्टि से तत्व की मीमासा की गई है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ का विभिन्न पहलुओ से विचार करके सम्पूर्ण सत्य की खोज की गई है। खडित सत्याशो को अखण्ड स्वरूप प्रदान किया गया है, जहाँ किसी प्रकार के पक्षपात को स्थान नही है, केवल सत्य का ही अनुसरण है, और किसी भी प्राणी को पीडा पहुँचाना पाप माना जाता है, वही जैन धर्म है। जैन शब्द का शाब्दिक अर्थ है जीतने वाला, जो अपने विकारो को जीतता है, वह जैन है।



१० महामंगल महामंत्र नवकार

[द्वितीय दिवस]

प्रत्येक धर्म, दर्शन अथवा संस्कृति का अपना वन्दना मत्र होता है, जिसमे उस धर्म अथवा दर्शन का सार सक्षेप समाया होता है। वदना मत्र, चाहे वह किसी भी सस्कृति अथवा धर्म सम्प्रदाय का हो, एक प्रतीकात्मकता लिए होता है, और उसकी अपनी महत्ता भी होती है, किन्तु जैन दर्शन का वन्दना मत्र अपनी सार्वभौमिकता के कारण अपना सर्वाधिक महत्त्व रखता है। यह मत्र व्यक्तिसत्ता पर प्रतिष्ठित न होकर गुणवत्ता पर प्रतिष्ठित है। "गुणिना सर्वत्र पूज्यन्ते" के सिद्धान्तानुसार इसमे विश्व के समस्त महापुरुषो-लोकोत्तर व्यक्तित्वो को नमस्कार किया गया है।

अन्य किसी भी धर्म अथवा संस्कृति के वन्दना मत्र को ले, उनमे किसी न किसी व्यक्ति-सत्ता को नमस्कार किया गया है, गुणात्मकता को नही, जबकि जैन दर्शन के परम मान्य इस वन्दना मंत्र मे, जिसे महामत्र भी कहते है, किसी व्यक्ति को नही, गुणो को नमस्कार किया गया है। सीधे शब्दो मे जैन दर्शन का यह आदि मत्र व्यक्ति पूजा से ऊपर उठकर गुणपूजा को प्रतिष्ठित करता है। आज हम उसकी कुछ विवेचना करने का प्रयास करेगे और साथ ही उसकी सामर्थ्य का भी ज्ञान करेगे। वह मत्र अपने मूलरूप मे इस प्रकार है—

णमो अरिहंताण
णमो सिद्धाण
णमो आयरियाण
णमो उवज्झायाण
णमो लोए सव्व साहूण
एसो पंच-णमोक्कारो, सव्व-पावप्पणासणो,
मगलाण च सव्वेसि, पढमं हवइ मगल।

भावार्थ :—

अरिहन्तों को नमस्कार हो।
सिद्धो को नमस्कार हो।
आचार्यो को नमस्कार हो।
उपाध्यायो को नमस्कार हो।
संपूर्ण लोक मे स्थित सब साधुओ को नमस्कार हो।

महामंत्र की व्यापकता

णमो अरिहंताणं :

उन सभी महान् आत्माओं को नमस्कार, जिन्होंने राग-द्वेष, काम-क्रोधादि समस्त आन्तरिक विकारो पर विजय प्राप्त कर वीतरागता प्राप्त कर ली है। जो सृष्टि के अणु-अणु के ज्ञाता सर्वज्ञ बन चुके हैं तथा संसार के सभी प्राणियों पर चाहे वह शत्रु हो अथवा मित्र, समदृष्टा बन चुके है एवं अपने अन्तिम तन मे रहते हुए सभी प्राणियो को समता का मार्ग दर्शन देते है।

इसमे शान्तिनाथ, महावीर अथवा पार्श्वनाथ किसी व्यक्ति विशेष का नामोल्लेख नही है। वह आत्मदर्शी राग-द्वेष विजेता महावीर, राम या पवन पुत्र कोई भी वीतरागी हो सकता है।

णमो सिद्धाणं :

उन सभी महान् चेतनाओ को नमस्कार, जिन्होने कर्म एव देह के बन्धनों को सम्पूर्ण रूप से सदा-सदा के लिए तोड़ दिया है, जो सब कुछ साधकर कृत-कृत्य हो चुके है अर्थात् जिन्होंने मुक्ति लाभ कर लिया है। इसमे भी किसी व्यक्ति विशेष का नाम नही है।

णमो आयरियाणं :

उन सभी महापुरुषों को नमस्कार, जो महाव्रतादि नियमो की आराधना पूर्वक विशिष्ट साधना मे स्वय निरत रहते हुए अपने नेतृत्ववर्ती साधक समुदाय को साधना के प्रति सजगता का मार्ग-दर्शन करते है तथा सघ नेता का कार्य सम्भालते हुए आचार्यत्व के पद की गौरव गरिमा बढ़ाते है। अपने धर्म संघ को सुन्दर अनुशासन मे रखकर एक सच्चे अनुशास्ता के दायित्व का निर्वाह करते है।

णमो उवज्झायाणं :

उन महापुरुषो को नमस्कार, जो साध्वाचार की मर्यादाओ का पालन पूर्वक वीतराग निर्देशित शास्त्रो के अध्ययन-अध्यापन मे लीन रहते है तथा शास्त्रो के गूढ तथ्यो को सुगम बनाकर शिष्य साधकों को उसका परिवोध कराते है।

णमो लोए सव्व साहूणं :

लोक (सम्पूर्ण संसार) मे विद्यमान उन सभी साधुओं को नमस्कार जो शुद्ध साधुत्व की भूमिका के साथ अहर्निश साधना मे संलग्न रहते हैं। स्वय संसार के ममत्व जनित बधनो को तोड़कर जन-कल्याण की पवित्र भावना से भूमण्डल पर विचरते हुए भव्य प्राणियों का पथ प्रदर्शन करते हैं। श्रमण जीवन की सयमीय मर्यादाओ का निष्ठा पूर्वक पालन-अनुशीलन करते हैं।

नमस्कार "महामंत्र" की इस संक्षिप्त विवेचना के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म व्यक्ति, जाति अथवा पार्टी का धर्म नही है। वह व्यक्ति पूजक नही, गुण पूजक धर्म है।

यह पंच परमेष्ठी रूप महान् आत्माओ को किया गया नमस्कार सब पापों का पूर्णरूपेण नाश करने वाला है तथा विश्व के समस्त मगलो मे प्रथम-प्रधान-सर्वश्रेष्ठ मंगल है।

विवेचन :

भारतीय संस्कृति मे नमस्कार को परमोच्च स्थान प्राप्त है। ज्यो ही नमस्कारणीय के प्रति सर्वतोभावेन समर्पणा होती है कि नमस्कर्ता का सर्वतो महान् दोष अहकार विगलित हो जाता है। विनय की उच्चतम स्थिति का प्रादुर्भाव होता है। हृदय मे सहजता, सरलता एव गुणज्ञता आदि गुणो की अभिव्यक्ति होती है।

नमस्कार का अर्थ :

नमस्कार विनम्रता एव गुणोत्कर्षता का विशुद्धतम प्रतीक है, इस दृष्टि से "नमस्" शब्द की निर्युक्ति करते हुए वैयाकरण कहते है—

"मत्तस्त्वमुत्कृष्टस्त्वत्तोऽहमपकृष्टः एतद्द्वय बोधनानुकूल–व्यापारो हि नमः शब्दार्थः।"

उपर्युक्त वाक्य का भावार्थ यह है कि नमस्कारकर्ता मे यह भाव उत्पन्न होता है कि मेरे से आप गुणों मे उत्कृष्ट है। मै आप से अपकृष्ट हूँ, गुणो मे न्यून हूँ, अतः आप नमस्कार्य है।

यहाँ यह विशेष चिन्तनीय है कि यह हीनोत्कृष्टता स्वामी-सेवक जैसी नही है। यहाँ हीनोत्कृष्टता से परम पवित्र गुणात्मक भाव ही अभिप्रेत है, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र एव उपास्य-उपासक जैसी पवित्र भावना ही यहाँ गुणो के उत्कर्ष एव अपकर्ष का आधार है, उपासक अपने से गुणोत्कर्ष वाले व्यक्तित्व को ही आदर्श उपास्य के रूप मे स्वीकार करता है और तद्द्वारा गुण-ग्रहण का उपक्रम करता है।

आगमिक दृष्टि से नमस्कार के द्वारा चित्त मे प्रमोद भावना का उद्भव होता है। अपने से अधिक गुण-सम्पन्न तेजस्वी, महान् आत्माओ को देखकर उनके प्रति नत-मस्तक हो जाना प्रमोद भावना का द्योतक है। जहाँ प्रमोद भावना का प्रादुर्भाव होता है वहाँ नमस्कारकर्ता का हृदय अत्यधिक विनम्र, उदार एव विशाल हो जाता है और वह विशालता उसे महानता की चरम उपलब्धि तक पहुँचा देती है, जहाँ उपासक स्वय उपास्य बन जाता है।

चूँकि जैन दर्शन अध्यात्म दर्शन है, आध्यात्मिक उत्कर्ष उसका चरम साध्य है, अत: उसने उत्कर्ष के प्रथम सोपान के रूप मे नमस्कार को स्वीकार किया है ।

इसी दृष्टि से वन्दना मंत्र के पंच--पदों के आदि मे "नमो" शब्द सयुक्त हुआ है । नमः शब्द की व्याख्या करते हुए धर्म-सग्रहकार ने कहा है—

"नम. इति नैपातिक पद पूजार्थ । पूजा च द्रव्य-भाव-सकोच । तत्र कर-शिर-पादादि-द्रव्य-सन्यासो द्रव्यसंकोचः । भाव सकोचस्तु विशुद्धस्य मनसो योग' ।"

अर्थात् नम' पद पूजार्थक है । महान् चेतनाओ के प्रति नमन ही उनकी पूजा है । नमस्कार के द्वारा नमस्करणीय पवित्र आत्मा के प्रति विशुद्ध श्रद्धा-भक्ति एव पूज्य भावना का प्रादुर्भाव होता है । यह नमन दो प्रकार का होता है—द्रव्य व भाव । द्रव्य नमस्कार का अर्थ है—हाथ, पैर, मस्तक आदि शारीरिक अगो को विनयावनत कर वन्दनीय महापुरुष के प्रति झुका देना और भाव नमस्कार का अभिप्राय है मानसिक चचलता को अवरुद्ध कर मन को समग्रतापूर्वक नमस्कार्य के प्रति समर्पित कर देना । नमस्कार की सार्थकता तभी होती है जबकि द्रव्य व भाव दोनो प्रकार से नमस्कार किया जाय ।

महत्ता—पंचपरमेष्ठी-नमस्कार सूत्र जैन परम्परा का सर्वमान्य महामन्त्र है । यह सम्पूर्ण वाङ्मय का अर्थात् चतुर्दश पूर्वो का सार है । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यह वह बीज है जिससे सारा जैन वाङ्मय अकुरित, प्रस्फुटित, पल्लवित, पुष्पित एव फलित होकर विशाल वृक्ष के रूप मे विकसित हुआ है । यह वीतराग परमात्मा द्वादशाङ्गी वाणी का निचोड़ है । सम्पूर्ण जैन साहित्य के अपार सागर इस महामत्र रूपी गागर मे सागर भरा हुआ है । अतएव इसकी महिमा अपार है, अनिवर्चनीय है, शब्दो की परिधि मे उसे नही बाँधा जा सकता । यही कारण है कि जैन धर्म की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओ मे व्यापक मतभेद होने के उपरान्त भी इस नमस्कार सूत्र के विषय मे एकरूपता है । यह वह केन्द्र है जहाँ सभी मतभेद तिरोहित हो जाते है ।

महामंत्र—इस पचपरमेष्ठी नमस्कार सूत्र को जैन परम्परा के महामत्र के सूत्र को जैन परम्परा के महामत्र के रूप मे अति वहुमानपूर्वक प्रतिष्ठा प्राप्त है । विश्व मे मंत्रो की वहुलता है, तरह-तरह के मत्र पाये जाते है, परन्तु महामत्र की सज्ञा तो इस पंचपरमेष्ठी नमस्कार सूत्र को ही प्राप्त है । मत्र शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है :—

'मत्र.परमोज्ञेय. मनन त्राणे ह्यतो नियमान्'

जो मनन करने से—चिन्तन करने से दु:खो से त्राण करता है वह मत्र है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार मत्र वही हो सकता है, जो दु:खो से बचाता है। नमस्कार सूत्र महामत्र है, क्योंकि यह समस्त आधि-व्याधि-उपाधि को दूर करने वाला है। सामान्य रूप से जन-साधारण शारीरिक, मानसिक दु:खो से छुटकारा पाने के लिए मत्रो का प्रयोग करते हुए दृष्टिगोचर होते है, उनका उद्देश्य यही तक सीमित होता है। वेद मत्रो मे अग्नि, सूर्य, चन्द्र, पर्वत, नदियाँ आदि प्राकृतिक तत्त्वो को देवरूप मानकर उनकी स्तुति की गई है और उनके द्वारा प्राकृतिक विपदाओ से बचाने की प्रार्थना की गई है। अन्य अनेक मत्रो द्वारा विविध प्रकार के भौतिक, दैहिक और दैविक दु:खो से बचने का मार्ग बताया है। ये मत्र कहा तक ऐसा करने मे सफल होते है, यह अलग बात है। परन्तु साधारण लोग इनका अवलम्बन लेते है। इन लौकिक मत्रों की सफलता आत्यन्तिक और एकान्तिक नही है। इनकी सार्थकता सदिग्ध और अनिश्चित् है। परन्तु यह नमस्कार एकान्तिक और आत्यन्तिक रूप से दु.खों से बचाने वाला है, अतएव महामंत्र है।

प्रश्न हो सकता है कि इस महामत्र मे ऐसी क्या अद्भुत विशेषता है, जिसको लेकर इसे महामत्र कहा जाता है? इस प्रश्न का समाधान पाने के लिये हमे इस महामत्र के अर्थगाम्भीर्य मे प्रवेश करना होगा। इसमे निहित समता का भाव ही इसे महामत्र का रूप देता है। जैन धर्म और जैन सस्कृति का प्रवाह समभाव को लक्ष्य मे रखकर प्रवाहित हुआ है। यही दिव्य समता का भाव इस महामत्र मे आविर्भूत हुआ है। बिना किसी साम्प्रदायिक भेदभाव के, बिना किसी देश या जातिगत विशेषता के, गुण पूजा का महत्त्व इसमे प्रतिपादित है। इसमे गुन्जित होने वाला समता का स्वर ही महामन्त्र रूप है, क्योकि वह सब दु.खो की जन्मदात्री विषमताओ और दुर्भावनाओ को नष्ट करता है। समता की आराधना से आत्मिक शक्तियो का विकास होता है और ऐसे विकास से समस्त दु खो का नाश स्वयमेव हो जाता है। अतएव यह महामन्त्र है।

महामगल यह पचपरमेष्ठी नमस्कार महामगल रूप है। इस मत्र की चूलिका महिमा रूप अन्तिम चार पदो मे स्पष्ट कहा गया है कि यह नमस्कार सब पापो को नाश करने वाला है तथा सब मगलो मे प्रधान मगल है। पहले पापो का प्रणाश बताया है और बाद मे मंगल का उल्लेख किया है। इससे यह प्रकट किया गया है कि पापों की कालिमा जब पूर्णतया साफ हो जाती है तो फिर सर्वत्र आत्मा का मगल ही मगल है, कल्याण ही कल्याण है। पहले दो पदो मे हेतु का उल्लेख है और अन्तिम दो पदो मे फल का वर्णन है। पाप के प्रणाश का फल ही मगल रूप मे प्रकट होता है।

गुणपरक दृष्टि:—नमस्कार मत्र मे किसी व्यक्ति विशेष के नाम का उल्लेख नही किया गया है। जैन धर्म की दृष्टि व्यक्तिपूजकता की नही रही है।

वह गुणपूजक रहा है। उसके सदा स्मरणीय महामंत्र मे किसी व्यक्ति विशेष के नाम का उल्लेख न होना इस बात को प्रमाणित करता है कि मानव-जीवन की उच्च भूमिकाओ को वन्दन-नमन करता है—व्यक्तियो को नही। जो व्यक्ति जीवन-विकास की ऊची सीढियो पर चढ चुका है वह वन्दनीय है—चाहे वह किसी भी जाति, वर्ग, वर्ण, देश, वेष या सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता हो। महत्त्व है आध्यात्मिक-विशेषताओ का। ये विशेषताए जिन किन्ही आत्माओ मे विद्यमान होती है, वे सब वन्दनीय मानी गई है। कितनी व्यापक और विराट् दृष्टि रही हुई है इस महामत्र मे ?

इस पद मे आये हुए "लोए सव्व साहूण" विशेष ध्यान देने योग्य है। जैन धर्म का समभाव यहाँ पूर्ण रूप से परिस्फुट हुआ है। द्रव्य साधुता के लिये साम्प्रदायिक दृष्टि से किसी नियत वेश आदि का बन्धन भले ही हो परन्तु अन्तरग की विशुद्धि के लिये किसी नियत वेश के बाह्य रूप का प्रतिबन्ध नही है। परिपूर्ण भाव साधुता अखिल संसार मे जहाँ भी, जिस किसी व्यक्ति में अभिव्यक्त हो, वह वन्दनीय है। लोए शब्द से सारे विश्व मे जिस किसी रूप मे भाव साधु हों, उन सब को नमस्कार किया गया है। यह कितना व्यापक, उदार एव दीप्तिमान आदर्श है।

उक्त नमस्कार महामंत्र के पाँच पदो मे आरम्भ के दो पद देव कोटि मे आते है और अन्तिम तीन पद गुरु कोटि मे। अरिहन्त और सिद्ध विकास की पराकाष्ठाओ पर पहुँच चुके है, उन्होने अपना साध्य सिद्ध कर लिया है अतएव वे सिद्ध है, देव है। अरिहन्त जीवन मुक्त है और सिद्ध देह मुक्त है।

नमस्कार से लाभ :—प्रश्न किया जा सकता है कि महान् आत्माओ को नमस्कार करने और उनका नाम लेने से क्या लाभ है ?

जैन परम्परा अरिहन्त आदि किसी देव विशेप को सुख-दु:ख का देने वाला या कर्त्ता-हर्त्ता के रूप मे स्वीकार नही करती तो उनकी स्तुति करने से क्या लाभ है ?

इसका समाधान यह है कि अपने से अधिक सद्गुणो और विकसित आत्माओ को नमन करने से चित्त में प्रमोद भाव का जागरण होता है। विनय का अभ्यास करने से सद्गुणो की प्राप्ति होती है। ईर्ष्या, द्वेप और मत्सर आदि दुर्गुणो का समूल विनाश होता है। फलत: साधक का हृदय विशाल, उदात्त और उदार वनता है। ऐसी प्रमोद भावना के वल पर भूतकाल मे हजारो आत्माओ ने अपना कल्याण किया है। अत: विकसित और महान् आत्माओ को वहुमान पूर्वक नमन करना साधक के विकास का महत्त्वपूर्ण साधन वन जाता है।

अरिहन्त आदि महान् आत्माओं का नाम लेने से पापमल उसी तरह दूर हो जाते है जैसे सूर्य के उदय होते ही अधकार दूर हो जाता है। सूर्य ने अंधकार को लाठी मार कर नही भगाया, किन्तु उसके निमित्त से अधकार चला गया। सूर्य कमल को विकसित करने के लिये उसके पास नही जाता, परन्तु सूर्य के सम्पर्क से कमल खिल उठता है। कमल के विकास मे सूर्य निमित्त मात्र है, कर्त्ता नही। इसी प्रकार अरिहन्तादि वीतराग, साधक के विकास मे निमित्त मात्र होते है, उसके साक्षात्कर्त्ता नही। इसी प्रकार साधना के पथिक के लिये महापुरुषो के नाम भी निमित्त बनते है। ऐसा करने से साधक को स्व-स्वरूप का भान हो जाता है। वह दृढ सकल्प के साथ आराध्य जैसा बनने का प्रयास करता है। इस प्रयास को बढाते-बढाते वह आराध्य और आराधक के भेद से भी ऊपर उठ जाता है और एक दिन स्वय आराध्य बन जाता है। यह है नमस्कार मत्र की चमत्कारिक महिमा।

महामंत्र–अबूझ प्रभाव :

नवकार मंत्र एव विचार–तरगो का प्रभाव बताने वाली एक साक्षात् घटना है—गुजरात मे उका भगत रहता था, जो मांत्रिक था, ज्योतिषी था और सत्यवादी था। वह भविष्य का कथन करता था इसलिए भविष्य जानने वालों की भीड उसके मकान के सामने लगी रहती थी। एक दिन रास्ते मे भी बहुत भीड़ थी। एक भाई श्रीकांत अपने मित्र दिव्यकांत की बरात में जाने को निकला। घर से वे स्टेशन पर जाने वाले थे। भीड मे से बाहर निकलने की गुंजाइश नही थी, उका भगत ने आवाज लगायी "भाइयो! दूर हट जाओ, रास्ता कर दो। वह श्रीकान्त भाई अपने मित्र दिव्यकान्त की अर्थी मे जा रहा है।"

श्रीकान्त भीड से बाहर तो आ गया किन्तु अशुभ वचनों को सुनकर क्रोध से भर उठा। मित्र के घर पहुँचा तो उसके आश्चर्य का पार न रहा। मित्र का अचानक देहान्त हो गया था। विवाह की बारात अर्थी की बारात बन गयी। श्रीकान्त के मन मे जिज्ञासा प्रबल हो गई कि वह व्यक्ति यह सब कैसे जान गया। श्रीकान्त उस उका भगत से मिलने के लिए बेताब हो गया। वह खोज करता हुआ वहा गया और उका भगत के चरणों में पडकर कहा—"आपको यह ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ ? मै भी यह विद्या सीखना चाहता हूँ।" उका भगत ने कहा—"तुम्हारे लिए साधना कठिन है। इस साधना मे तुम टिक नही पाओगे।" श्रीकान्त के अत्याग्रह और अनुनय पर उका भगत ने साधना का रहस्य बताया। "श्रीकांत, अमावस के दिन रात के ८ बजे तुम श्मशान भूमि मे जाकर ध्यानस्थ बैठो। रात के १२ बजे एक डरावनी आवाज आयेगी। डरना नही। १ बजे मनोहारिणी आवाज आयेगी। उसमे उलझना नही। रात २ बजे एक देवी-देवता की आवाज आयेगी "कुछ माग लो।" किन्तु तुम कुछ मांगना नही। देव आग्रह करे तो कह देना "पहले आप मेरे सामने प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हो जाइये,

फिर मुझे जो कुछ मागना हो, माग लूँगा ।" जब देव सामने आ जाये तो भविष्य-ज्ञान की विद्या माग लेना ।

इन बातो का पालन करना, सभव है, तुम्हे विद्या प्राप्त हो जाये ।"

नवकार मत्र और दैविक शक्ति :

श्रीकात श्मशान मे गया । ठीक उसी तरह क्रमवार घटनाये घटी । देवता की आवाज आयी । श्रीकात मौन रहा, दुबारा आवाज आयी । श्रीकात ने कहा कि मुझे प्रत्यक्ष दर्शन दो । देव मौन हो गया । बाद मे देव ने बताया । "श्रीकात तुम नवकार मत्र के उपासक हो । यदि तुम वादा करो कि नवकार मत्र की उपासना छोड दूंगा, तो तुम्हे यह विद्या प्राप्त हो सकती है । मै प्रत्यक्ष तुम्हारे सामने प्रकट नही हो सकता । क्योकि नवकार मत्र के प्रभाव से तुम्हारे इर्द-गिर्द जो आभामडल है उसमे प्रवेश करने की मेरी शक्ति नही है, तुम यह उपासना छोड दो ।"

श्रीकात विचार करता है कि यदि नवकार मंत्र मे इतनी शक्ति है कि देव भी मेरे पास आ नही सकते । दैवीशक्ति से भी इस मत्र की शक्ति ज्यादा है, तो इसे क्यो छोडूँ, उसने देव से कहा । "आप जाना चाहे तो जा सकते हो, मै महा-मत्र की उपासना नही छोड़ सकता ।" देव चला गया, सुबह हुई । उसके आस-पास की भूमि सुगन्धित सुवासित हो गई । उसकी दृढता पर देवताओ ने प्रसन्न होकर यह वर्षा की थी । यह है महामत्र की ध्वनि तरगो का प्रताप और आभा-मडल का प्रभाव ।

राम-कृष्ण आदि देवताओ की तस्वीरे हम देखते है । तस्वीरों मे हरेक देव के पीछे एक तेजस्वी वर्तुलाकार आभा मडल का वलय दिखाया जाता है । यह इसी शक्ति का द्योतक है । सिर्फ देवताओ के ही नही, अपितु हरेक व्यक्ति के आस-पास उसका आभा मडल होता है और वह वायुमडल को प्रभावित करता है । हमारी भावनाओ का विकास-फैलाव होता है । उन तरंगो से आभामडल बनता है । व्यक्ति क्रोधी होगा, अहकारी होगा, कामुक होगा, सयमी होगा, उसकी प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न रगो का आभामडल बनता है और वैसा ही परिणाम देता है । यहा मूल विषय समझाने का है कि यदि महामत्र पर आपकी आस्था हो तो दुनिया की कोई भी शक्ति इसके सामने टिक नही सकती । महा-मत्र नमस्कार मे इतनी अबूझ शक्ति है ।

□ □ □

११

सम्यग्दर्शन : साधना की आधारशिला

(तृतीय दिवस)

सम्यग्दर्शन अध्यात्म-साधना का मूल आधार एवं मुख्य केन्द्र है। वह मुक्तिमहल का प्रथम सोपान है। वह श्रुत और चारित्र धर्म की आधारशिला है। जिस प्रकार उच्च एवं भव्य प्रासाद का निर्माण दृढ आधारशिला मजबूत नीव पर ही सम्भव है, इसी तरह सम्यग्दर्शन की नीव पर ही श्रुत-चारित्र धर्म का भव्य प्रासाद खडा हो सकता है। आत्मा मे अनन्त गुण है, परन्तु सम्यग्दर्शन गुण का सर्वाधिक महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। सम्यग्दर्शन का इतना अधिक महत्त्व इसलिये है कि सम्यग्दर्शन के सद्भाव मे ही ज्ञान और चारित्र उपलब्ध होते है। सम्यग्दर्शन के सद्भाव मे ही यम-नियम-तप-जप आदि सार्थक हो सकते है। सम्यग्दर्शन के अभाव मे समस्त ज्ञान और समस्त चारित्र मिथ्या है। जैसे अक के बिना शून्य की लम्बी लकीर बना देने पर भी उसका कोई मूल्य नही होता, वैसे ही सम्यक्त्व के बिना ज्ञान और चारित्र का कोई अर्थ नही रहता। अगर सम्यक्त्व रूपी अक हो और उसके बाद ज्ञान और चारित्र हो तो प्रत्येक शून्य से दस गुनी कीमत हो जाती है। सम्यग्दर्शन से ही ज्ञान और चारित्र मे सम्यक्त्व आता है। इसीलिये दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनो ही भाव सम्यक्त्व होते हुए भी सम्यक्त्व शब्द सम्यग्दर्शन के अर्थ मे रूढ हो गया है। यह सम्यग्दर्शन की प्रधानता सूचित करता है। सम्यग्दर्शन की महिमा और गरिमा का शास्त्रकारो और समर्थ आचार्यो ने स्थान-स्थान पर विविध रूप से वर्णन किया है।

नादसणिस्स नाण नाणेण विणा न हुति चरण गुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण ॥

—उत्तरा. २८ अ ३० गा

अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नही होती, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के बिना चारित्र की प्राप्ति नही होती। चारित्र के बिना मोक्ष की प्राप्ति नही होती और मोक्ष प्राप्ति के बिना कर्मजन्य दु.खों से छुटकारा नही मिलता। तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व से ज्ञान की प्राप्ति होती है, ज्ञान से चारित्र और चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार क्रम से सर्वगुणों की प्राप्ति होने से जीव समस्त दु खों से मुक्त हो जाता है। अतएव समस्त गुणो के मूलभूत सम्यक्त्व को सर्वप्रथम प्राप्त करने का प्रयास अपेक्षित है।

सम्यग्दर्शन की महिमा को प्रकट करने के लिये उत्तराध्ययन मे सूत्रकार कहते है —

मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेणं तु भु जए ।
न सो सुक्खायधम्मस्स, कल अग्घइ सोलसि ।।

—उत्तराध्ययन अ. ९ गाथा ४४

जो जीव बाल है, मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है, वह प्रत्येक मास मे कुश के अग्रभाग पर जितना आहार ठहरता है, उतना ही खाकर रह जाए तब भी वह जिनोक्त धर्म का आचरण करने वाले पुरुष के सोलहवे अश के बराबर भी नही होता।

शास्त्रो मे स्थान-स्थान पर सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन किया गया है--

"सद्धा परम दुल्लहा ।"

—उत्तरा. अ. ३ गाथा ९.

महामूल्यवान श्रद्धारूपी रत्न बहुत दुर्लभ है। जो वस्तु दुर्लभ होती है वह अनमोल और महत्त्वपूर्ण होती है। सम्यग्दर्शन रूपी चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है।

नवतत्त्व प्रकरण की निम्न गाथाओं मे सम्यक्त्व का स्वरूप बताकर उसका अपूर्व लाभ बताया गया है--

जीवाइ नवपयत्थे जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्त ।
भावेण सद्दहन्ते अयाणमाणे वि सम्मत्त ।।
सव्वाइ जिनेसर भासिआइ वयणाइं नन्नहा हुंति ।
इअ बुद्धि जस्स मणे सम्मत्त निच्चल तस्स ।।
अतो मुहुत्तामित्तंपि, फासिय हुज्ज जेहि सम्मत्तं ।
तेसि अवड्ढ पुग्गल परियट्टो चेव ससारो ।।

—नवतत्त्व प्रकरण

अर्थात् जो जीवादि नव तत्त्वों का ज्ञाता है उसे सम्यक्त्व होता है। कदाचित् क्षयोपशम की तरतमता से कोई यथार्थ रूप से तत्त्वो को नही जानता है, किन्तु "त चेव सच्चं ज जिणेहि पवेइयं"—जो जिनेश्वर देव ने कहा है वह सत्य है, ऐसी श्रद्धा करता है, तो उसे सम्यक्त्व है। जिनेश्वर भगवतो के वचन अन्यथा कदापि नही होते, ऐसी दृढ़ श्रद्धा जिसको प्राप्त है, उसका सम्यक्त्व निश्चल होता है।

जिस आत्मा ने अन्तर्मुहूर्त मात्र के लिये भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया उसका अनन्त संसार भ्रमण परिमित हो गया। अपार्ध पुद्‌गल परावर्त काल से अधिक वह ससार में परिभ्रमण नही करता है। इसकी मुक्ति सुनिश्चित हो जाती है। कितनी अपूर्व महिमा है सम्यक्त्वरत्न की।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप :

जिस मंगलमय और महामहिमामय सम्यग्दर्शन को मुक्तिमहल का प्रथम सोपान कहा गया है, उसका स्वरूप क्या है, उसकी परिभाषा क्या है, यह अध्यात्म शास्त्र का महत्त्वपूर्ण विपय है। सम्यग्दर्शन क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है—

तहियाण तु भावाण, सब्भावे उवएसण ।
भावेण सद्‌दहंतस्स, सम्मत्त त वियाहियं ।।
—उत्तराध्ययन २८, १५.

जीवाजीवादि तथ्य रूप भावो-तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप पर अन्त करण के दृढ सकल्प के साथ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, वध और मोक्ष इन नव तत्त्वो का सम्यक् श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। नव तत्त्व और षड् द्रव्यों के यथार्थ स्वरूप पर श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है। तत्त्वार्थ सूत्र मे आचार्य उमा स्वाति ने सम्यग्दर्शन की परिभाषा इस प्रकार की है—

तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग् दर्शनम् ।
तत्त्वार्थ सूत्र अ. १, सू २.

जीवादि तत्त्वो पर श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन वह प्रारम्भिक द्वार है, जहाँ से मुक्ति के महल मे प्रवेश होता है। मोक्षमार्ग का आरम्भ सम्यग्दर्शन से ही होता है। यह वह प्राथमिक भूमिका है जिस पर आध्यात्मिक विकास का भव्य और रम्य प्रासाद खडा होता है। यही वह रसायन है जो अनादि मिथ्यात्व के विष को मार देता है और आत्मा को उस विष से मुक्त कर वह स्वास्थ्य और आरोग्य प्रदान करता है, जो उसका वास्तविक स्वरूप है। मिथ्यात्व का विष हट जाने पर ही अज्ञान की मूर्छा एव प्रगाढ मोह निद्रा का भग होता है और आत्मा ज्ञान और आध्यात्मिक विकास के सुनहरे प्रभात का आनन्द अनुभव करता है।

जैन सिद्धान्तानुसार सम्यग्दर्शन का ही यह चमत्कार है कि वह अज्ञान को सुज्ञान मे और अचारित्र को सुचारित्र मे तथा अतप (अज्ञान तप) को सुतप

मे परिवर्तित कर देता है। परिवर्तन की इतनी बड़ी शक्ति सम्यग्दर्शन मे ही है। इसीलिये साधना के इस मंगलमय मार्ग की महामहिमा बताई गई है और इसके होने पर ही साधना की प्रक्रिया का आरम्भ माना गया है। सम्यग्दर्शन के अभाव मे जो भी क्रियाएँ की जाती है, मोक्षमार्ग से बाहर होने के कारण आत्मा के लिये कल्याणकारी नही होती। सम्यग्दर्शन के प्रादुर्भाव के पहले मिथ्यात्व दशा होती है। यह मिथ्यात्व मोक्ष का अवरोधक है।

सम्यग्दर्शन के भेद .

तत्वार्थ श्रद्धान् रूप सम्यग्दर्शन है, यह पूर्व मे प्रतिपादित किया गया है। जहाँ विशुद्ध तत्त्व श्रद्धा प्रकट हो जाती है वहाँ मिथ्यात्वमूलक अन्धकार कभी ठहर ही नही सकता। यह बताया जा चुका है कि ज्ञान, चारित्र और तप—ये तीनो जब सम्यक्त्व सहित होते है तभी उनमे मोक्षफल प्रदान करने की शक्ति होती है, क्योकि सम्यक्त्व रहित ज्ञान, ज्ञान नही, अज्ञान है, सम्यक्त्व रहित चारित्र, चारित्र नही कुचारित्र है और सम्यक्त्व रहित तप, तप नही, केवल एक प्रकार का कायक्लेश रूप कुतप है। पूर्व वर्णन से यह तो स्पष्ट हो गया कि सम्यग्दर्शन, मोक्ष की साधना का परमावश्यक सर्व प्रथम अग है। अब यह जानना आवश्यक है कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति कैसे होती है। वाचक मुख्य उमास्वाति ने अपने मौलिक-ग्रन्थ-तत्त्वार्थ-सूत्र मे प्रतिपादित किया है—

"तन्निसर्गादधिगमाद्वा।"

—तत्त्वार्थ सूत्र अ. १।सू. ३

अर्थात् सम्यग्दर्शन का आविर्भाव दो प्रकार से होता है—एक निसर्ग अर्थात् स्वभाव से तथा दूसरा अधिगम अर्थात् अध्ययन-श्रवण, आदि पर निमित्त से।

स्थानांग सूत्र मे सम्यग्दर्शन के भेद बताते हुए कहा है—

"सम्मदसणे दुविहे पण्णत्ते,
तजहा–णिसग्गसम्मदंसणे चेव अभिगम सम्मदंसणे चेव।"

—स्थानाग स्थान २ उद्दे. १ सूत्र ७०

सम्यग्दर्शन के ये दो भेद उत्पत्ति की भिन्नता को लेकर किये गये है। जो सम्यग्दर्शन बाह्य निमित्तो की अपेक्षा नही रखता हुआ स्वयमेव प्रकट होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है। जिस सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मे बाह्य निमित्तों की अपेक्षा रहती है अर्थात् जो वीतराग वाणी और गुरु के उपदेश आदि के निमित्त से प्रकट होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है।

निसर्ग का अर्थ है—स्वभाव, परिणाम और अनिमित्त। जो सम्यग्दर्शन स्वभाव से अर्थात् बिना किसी दूसरे के उपदेश से स्वय आत्मा के परिणामों से

उद्भूत होता है वह निसर्ग सम्यग्दर्शन है। बिना बाह्य सयोगो और निमित्तो के स्वय आत्मा मे ही सहज रूप से जो स्वरूप-बोध की ज्योति जलती है, जिससे सत्यदृष्टित्व का प्रकाश जगमगाने लगता है, वह निसर्ग सम्यग्दर्शन है। उस ज्योति का उपादान कारण स्वय आत्मा है। जब आत्मा की गति ससार-बन्धन से उपरत हो, सहज भाव से दिशा बदल कर मोक्ष की ओर होने लगती है, तब आत्मा की इसी स्थिति को निसर्गज सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इस ज्योति को जगमगाने मे उस आत्मा को उस जीवन मे किसी गुरु या शास्त्र वाणी का अवलम्बन नही लेना पडता है। उस के अतरग से ही सहज रूप से वह ज्योति प्रज्वलित हो उठती है। इसका मतलब यह नही है कि इसके प्रकट होने मे कर्मो के क्षय, क्षयोपशम या उपशम की आवश्यकता नही होती। क्षयोपशमादि की अपेक्षा तो होती ही है। यह क्षयोपशमादि निसर्गज सम्यग्दर्शन मे बाह्य कारणो की अपेक्षा नही रखते हुए पूर्व सस्कारो के कारण से तथा कर्मो की अवधि समाप्त होने पर स्वत हो जाते है।

अधिगमज सम्यग्दर्शन मे ऐसे क्षयोपशमादि के लिये तीर्थकरो का उपदेश, गुरु की वाणी तथा श्रुत-स्वाध्याय आदि बाह्य कारण निमित्त बनते है।

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के बोधक दृष्टान्त :

तीन कारणो द्वारा सम्यग्दर्शन लाभ की स्थिति को सुगमता से समझाने के लिये आचार्यो ने आठ उदाहरण बताये है —

नदी पह जर बत्थ जहापिपलिया पुरिस कोद्दवा चेव।
सम्मदसण लभे एते अट्ठ उ उदाहरणा ॥

पर्वतीय नदी का पत्थर, पथ, ज्वर, वस्त्र, जल, पिपीलिका, पुरुष और कोद्रव—ये आठ उदाहरण सम्यग्दर्शन की प्राप्ति को समझने मे उपयोगी है।

१. **पर्वतीय नदी का पत्थर**—यथाप्रवृत्तिकरण को समझाने के लिये पर्वतीय नदी के पत्थर का उदाहरण है, जैसे पर्वतीय नदी के पत्थर चट्टानो से टकराकर तथा जल प्रवाह के वेग से आघात-प्रत्याघातो को पाते हुए गोल बन जाते है इसी प्रकार यथाप्रवृत्तिकरण के प्रभाव से जीव अनाभोग दशा मे सुदीर्घ कर्म स्थितियो का क्षय कर डालता है और ग्रन्थि देश तक पहुँच जाता है।

२. **पथ का दृष्टान्त**—जैसे कोई मार्ग भूला हुआ व्यक्ति किसी मार्ग के ज्ञाता से पूछ कर सही मार्ग पर आ जाता है और कोई स्वयमेव उहापोह करके सही मार्ग को जान लेता है। इसी प्रकार कोई जीव तो आचार्यादि के उपदेश से तथा कोई स्वत: कर्मक्षयोपशम से सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है।

३ **ज्वर का उदाहरण**—कोई ज्वर औषधि के निमित्त से दूर होता है, तो कोई ज्वर औषधि लिये विना ही स्थिति पकने पर दूर हो जाता है। इसी तरह कोई मिथ्यात्व आचार्यादि के उपदेश से दूर होता है और कोई मिथ्यात्व स्वयमेव मार्गानुसारी तत्त्व पर्यालोचन से दूर हो जाता है। यहाँ ज्वर तुल्य मिथ्या दर्शन है और आचार्यादि का उपदेश औषधि तुल्य है, यह अधिगम सम्यग्दर्शन है, जो पहले क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि बनता है, वह अपूर्वकरण के द्वारा मिथ्यात्व के दलिको के तीन पुंज कर लेता है—मिथ्यात्व अशुद्ध पुंज है, मिश्र अर्द्ध शुद्ध पुंज है सम्यक्त्व शुद्ध पुंज है। यह निसर्ग सम्यग्दर्शन है।

४. **वस्त्र दृष्टान्त**—जैसे कोई वस्त्र मलिन होता है, कोई अल्पशुद्ध होता है इसी प्रकार दर्शन मोहनीय की तीनो प्रकृतियो के विषय मे जानना चाहिये। अपूर्वकरण के कारण जो दलिक शुद्ध है वह सम्यक्त्व मोह है, जो अल्पशुद्ध है वह मिश्र मोह है और जो मलिन है वह मिथ्यात्व मोह है।

५. **जल का उदाहरण**—जैसे कोई जल मलिन होता है, कोई अल्प शुद्ध होता है और कोई शुद्ध होता है, उसी तरह दर्शन मोह की तीनो प्रकृतियो के विषय मे जानना चाहिये। शुद्ध जल की तरह सम्यक्त्व मोह, अल्प शुद्ध जल की तरह मिश्र मोह और अशुद्ध मलिन जल की तरह मिथ्यात्व मोहनीय जानना चाहिये।

६ **पिपीलिका दृष्टान्त**—अभव्य जीव किस तरह मार्ग मे ही रुक जाते है, किस तरह मार्ग से गिर पडते है और भव्य जीव कैसे ग्रन्थि भेद कर आगे बढते है, इसको समझाने के लिए पिपीलिका अर्थात् चीटियो का उदाहरण दिया गया है, जैसे कुछ चीटियाँ जैसे-तैसे दर (बिल) से निकलकर अनाभोग से इधर-उधर जाने लगी। कोई चीटिया अपूर्व यत्न कर स्थाणु पर चढ गई, उनमे से कुछ वही स्थाणु पर रुक जाती है और कुछ पख सहित होने के कारण आकाश मे उड जाती हैं। यहाँ चीटियों के अनाभोग से इधर-उधर जाने के समान यथाप्रवृत्तिकरण है। स्थाणु पर आरोहण के समान अपूर्वकरण है और उड्डयन के समान अनिवृत्तिकरण है। ग्रन्थि देश तक पहुँचना यथाप्रवृत्ति करण है। ग्रन्थि का भेदन कर देना अपूर्वकरण है और सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेना अनिवृत्तिकरण की पूर्णता है। जैसे कुछ चीटियाँ पक्ष विहीन होने से स्थाणु पर कुछ समय ठहर कर नीचे उतर जाती है उसी तरह कोई आत्मा मद अध्यवसायो के कारण तीव्र विशोधि रहित होने से अपूर्वकरण द्वारा ग्रन्थि भेद करने के लिए उद्यत होते हुए भी गाढ राग-द्वेष परिणामो के उछल पडने से वही रुक जाते है और मिथ्यात्व मे लौट आते है।

७. **पुरुष दृष्टान्त**—कल्पना कीजिये तीन मनुष्य किसी भयाक्रान्त रास्ते से गुजर रहे है। सन्ध्या का समय हो जाने से वे उस रास्ते को जल्दी से पार कर

लेना चाहते है, परन्तु इस बीच तलवार हाथ मे लिये दो चोर दोनों ओर से आकर उनको घेरते हुए ललकारते है कि "ठहरो, कहाँ जाते हो ? तुम्हारी मौत अब सामने ही है।" ऐसी स्थिति मे उन तीनो पुरुषो मे से एक तो चोरो को देखते ही भाग खडा हुआ। दूसरा व्यक्ति उन चोरो की चुनौती सुनकर और हाथ मे तलवार देखकर भयभीत होकर वही रुक गया। तीसरा व्यक्ति साहसिक था उसने उन दोनो चोरो को अपने पराक्रम से हरा दिया और उस भयकर मार्ग को पार कर लिया। आचार्य उक्त दृष्टान्त का उपनय करते हुए कहते है— उन तीन पुरुषो के समान ससारी जीव है। कर्मक्षपण रूप मार्ग है, भय के समान ग्रन्थि है, राग-द्वेष रूपी दो चोर है। जो व्यक्ति चोरो को देखते ही भाग गया, उसके समान यथाप्रवृत्तिकरण है, जो वही स्थित रहा उसके समान अपूर्वकरण है और जिसने चोरो को परास्त किया उसके समान अनिवृत्तिकरण है। जो पुरुष न तो भागा और न आगे बढकर उन चोरो का सामना किया किन्तु वही स्थित रहा, उसके समान ग्रन्थि देश मे वर्तमान भव्य या अभव्य जीव है, वे वहाँ सख्यात् या असख्यात् काल तक रहते है, वहाँ ठहरने के बाद वे वहाँ से पीछे लौट जाते है। जो साहसिक वीर आत्मा ग्रन्थि को भेद कर आगे बढ जाता है वह अनिवृत्तिकरण द्वारा सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् कुछ आत्माएँ तो वर्धमान् परिणामयुक्त होकर श्रावकत्व आदि को प्राप्त कर लेती है किन्तु कुछ आत्माएँ ऐसी भो होती है जो परिणामो मे हीनता आ जाने के कारण वहाँ से गिर पडती है।

जो आत्माएँ सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् वर्तमान परिणाम वाली होती है वे देशविरति-श्रावकत्व आदि को प्राप्त करती है।

८. **कोद्रव का उदाहरण**—कोई जीव अपूर्वकरण मे मिथ्यात्व के तीन पुंज करके अनिवृत्तिकरण द्वारा पहले क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है वह कालान्तर मे परिणामो की अशुद्धि से मिश्र या मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है। कोई जीव अपूर्वकरण को करता हुआ भी मन्द अध्यवसायो के कारण मिथ्यात्व के तीन पुज करने मे असमर्थ होता है वह अनिवृत्तिकरण मे अन्तरकरण करके तीनो प्रकार के दर्शन मोहनीय का वेदन नही करता है, उनका वेदन न करने से वह उपशमक—सम्यग्दृष्टि हो जाता है। त्रिपुज को समझाने के लिये कोद्रव का दृष्टान्त उपयोगी है।

कोद्रव तीन प्रकार के होते है— १. मदन कोद्रव, २. अर्ध शुद्ध कोद्रव, ३. शुद्ध कोद्रव। जो खाने से मादकता पैदा करते है वे मदन कोद्रव कहलाते है। जिन कोद्रव की मादकता को आशिक रूप मे कम कर दिया गया है वे ईषत् (अल्प) शुद्ध कोद्रव है। जिनकी मादकता को पूर्ण रूप से मिटा दिया गया है वे शुद्ध कोद्रव कहलाते है, इसी प्रकार मिथ्यात्व के पुद्गल मदन कोद्रव के तुल्य है,

जब इनको आंशिक रूप से शोधित कर लिया जाता है तो वे मिश्र कहलाते है और जब उन्हें पूर्ण रूप से शुद्ध कर लिया जाता है तो वे सम्यक्त्व कहलाते है ।

जैसे कोद्रव का मादक स्वभाव कभी तो अन्य गोमय (छाछ) आदि के संयोग से नष्ट होता है और कभी वे कोद्रव समयावधि बीतने पर स्वयमेव मादकता रहित हो जाते है, इसी प्रकार मिथ्यात्व के दलिक भी कभी तो आचार्यादि के उपदेश से अपने मोहक या मादक स्वभाव को छोड देते है, ऐसी स्थिति मे अधिगम सम्यग्दर्शन होता है और दूसरी स्थिति में होने वाला सम्यक्त्व निसर्ग सम्यग्दर्शन कहा जाता है ।

इस प्रकार उक्त आठ दृष्टान्तों के द्वारा सम्यक्त्व की उत्पत्ति को सरल रीति से समझा जा सकता है ।

सम्यग्दर्शन के आठ आचार :

सम्यग्दर्शन के आठ आचार कहे गये है । जिनका आचरण करने से सम्यग्दर्शन सुशोभित होता है, परिपुष्ट होता है, वे दर्शनाचार माने जाते हैं । उत्तराध्ययन सूत्र मे दर्शन के आठ आचार बताये गये हैं । जैसे :—

निस्संकिय–निक्कंखिय–निव्वित्तिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उववूह–थिरीकरणे, वच्छल्ल पभावणे अट्ठ ।।

—उत्तराध्ययन सूत्र अ. २८ गा. ३१

१ निश्शंकित २. निःकांक्षित ३. निर्विचिकित्सा ४. अमूढदृष्टि ५. उपबृंहन ६ स्थिरीकरण ७. वात्सल्य और ८ प्रभावना—ये आठ दर्शनाचार हैं ।

१. **निश्शंकित**—वीतराग देव कभी भी असत्य या न्यूनाधिक कथन नही करते है, क्योकि असत्य कथन के जो कारण होते है वे उनमे नही होते । अज्ञान से, राग-द्वेष से या भय से असत्य कथन किया जाता है । वीतराग देव इन सब दोषो से अतीत हो चुके है । वे सम्पूर्ण द्रव्य-पर्याय को विषय करने वाले निर्मल विशुद्ध केवलज्ञान से युक्त है, वे राग-द्वेष के विजेता और अनन्त शक्ति सम्पन्न होने से निर्भय है । अतएव असत्य कथन के कारणो का अभाव होने से वीतराग देव के वचन सत्य ही होते है, उनके निर्मल केवलज्ञान मे पदार्थ जिस रूप मे प्रतिभाषित हुए है, उसी प्रकार उन्होने प्ररूपित किये हैं, अतः "तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं" जिनेश्वर भगवतो ने जो कहा, वही सत्य है, निश्शंक है—ऐसी दृढ आस्था होना निश्शंकित आचार है ।

आगम का मर्म बहुत गहन है । उनमे प्रतिपादित अनेक सूक्ष्म विषय ऐसे हैं, जो छद्मस्थो या अल्पज्ञो की बुद्धि की परिधि मे बाहर होते हैं । जिस प्रकार सागर गागर मे नही समा सकता इसी प्रकार सागर के समान गहन-गम्भीर

विषय अल्पज्ञों के अल्प ज्ञान–गागर में नहीं समा सकते अतएव उनके सम्बन्ध मे शंकाएँ हो सकती है, जहाँ तक सम्भव हो उन शंकाओं का समाधान अपने से विशिष्ट ज्ञानियों से विचार-विमर्श द्वारा कर लेना चाहिये। जिज्ञासा बुद्धि से शंकाएँ करना अनुचित नही है, परन्तु उनका समाधान कर लिया जाना चाहिये। विशिष्ट ज्ञानियो से विचार-विमर्श के बाद भी जो विपय समझ मे न आए तो उसके विपय मे यही निश्चय कर लेना चाहिए कि अनन्त ज्ञानियो के वचन सत्य ही है, भले ही हम अपनी अल्प बुद्धि से उसे न समझ पाएँ।

यथार्थ तत्त्व श्रद्धान मे सबसे वडी बाधा शंका या सशय द्वारा उपस्थित होती है। साधक को जब तक अपने साध्य और साधनों के प्रति सशय बना रहता है, तब तक वह साधना के पथ पर उत्साहपूर्वक नही चल सकता। इसी बात को गीता मे इस प्रकार कहा गया है—

"संशयात्मा विनश्यति"

सशय से आत्मा का कल्याण नही हो सकता। अध्यात्म साधक को अपने लक्ष्य और उसके साधनो के प्रति अडोल और नि·शक श्रद्धा होनी चाहिये। इसीलिये कहा गया है :—

"श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।"

श्रद्धाशील ही परम ज्ञान को प्राप्त कर सकता है।

शास्त्र मे कहा गया है कि बहुत से विषय केवलीगम्य या श्रद्धागम्य होते है, उनके विषय मे तर्क नही करना चाहिये। तर्कवाद से पार के विषयों को तर्क की कसौटी पर कसने का प्रयत्न नही करना चाहिये। ऐसा करने से साधक श्रद्धागम्य विषय को बुद्धिगम्य तो न कर सकेगा वरन् बुद्धिगम्य विषय को भी छोड बैठेगा। अत· हेतुवाद में ही तर्क का प्रयोग करना चाहिये। अहेतुवाद को श्रद्धा के बल पर ही जाना जा सकता है। जिनेश्वर देव ने जो कथन किया है वह सत्य ही है, ऐसी अडोल श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन का नि शकित आचार है।

२. नि·काक्षित :—ऐहिक या पारलौकिक विषय सुखो की इच्छा करना काक्षा है। अन्य तीर्थिको की महिमा पूजा, आडम्बर तथा भोग-विलासो को देखकर उनकी ओर आकर्षित हो जाना एव उसे स्वीकार करने की अभिलाषा करना काक्षा मोहनीय है। सम्यग्दर्शन सम्पन्न व्यक्ति इस प्रकार की आकाक्षा नही करता। वह तो दृढता के साथ यह मानता है कि सब वैषयिक सुख विप के समान है। इनसे तनिक भी आत्मकल्याण नही हो सकता। वह किसी भी प्रकार के सासारिक महिमा–पूजा, ढोग, आडम्वर से प्रभावित नही होता, क्योकि वह समझता है—वह महिमा-पूजा वास्तविक दृष्टि से आत्मा के लिये रागात्मक होने से बधन रूप है, अतएव आत्मकल्याण के अभिलाषी को न स्वय की

महिमा-पूजा की आकांक्षा होनी चाहिये और न दूसरों की लौकिक महिमा-पूजा होती देखकर प्रभावित ही होना चाहिए। वीतराग देव ने जो धर्म तत्त्व प्ररूपित किया है वही यथार्थ और हितकारी है। बाह्य चमत्कारों या आडम्बरों से आत्मा का कल्याण नही होता है। इस प्रकार अरिहन्त के मार्ग के प्रति दृढ़ निष्ठा रखते हुए अन्य तीर्थिको के आडम्बरों से प्रभावित होकर उन्हें अंगीकार करने की अभिलाषा न करना नि.कांक्षित नामक सम्यक्त्व का आचार है।

३ निर्विचिकित्सा :—धर्म क्रिया के फल के प्रति सन्देह न करना निर्विचिकित्सा आचार है। "धर्माचरण करते-करते इतना समय हो गया परन्तु अभी तक कुछ भी फल दृष्टिगोचर नही हुआ। पता नहीं आगे भी होगा या नही।" इस प्रकार या अन्य रीति से धर्म क्रिया के प्रति सन्देह करना विचिकित्सा है। ऐसी विचिकित्सा करने से आत्मा शंकाशील बनता है और साधना के प्रति समुल्लास प्रकट नही हो पाता। साधक के दिल में पक्का आत्मविश्वास होना चाहिये कि मैं जो धर्म साधना कर रहा हूँ वह एकान्त हितकारी है, भले ही उसका साक्षात् फल अभी दृष्टिगोचर न हो रहा हो। क्रिया का फल अवश्य होता है। जैसे ऊर्वरा भूमि में डाला हुआ बीज पानी आदि का संयोग मिलने पर कालान्तर मे फल उत्पन्न करता है, वैसे ही आत्मारूपी खेत में बोया हुआ धर्म क्रिया रूपी बीज शुभ परिणाम रूप जल का योग पाकर के कालान्तर में यथोचित समय पर अवश्य ही फल देगा। लौकिक उक्ति है—

"निष्फल होवे भामिनी, पादप निष्फल होय।
करणी के फल जानता, कभी न निष्फल होय॥"

तथा च—"या या क्रिया सा सा फलवती"—

क्रिया का फल कदापि नष्ट नही हो सकता। उसका फल कभी अवश्य मिलता है। इस प्रकार मुमुक्षु के हृदय में अपनी साधना के प्रति, अपनी धर्मक्रिया के प्रति दृढ निष्ठा और आस्था होनी चाहिये। ऐसी आस्था होने पर ही धर्म क्रिया के प्रति समुल्लास और उत्साह बना रह सकता है अत· धर्म-क्रिया के फल के प्रति दृढ़ आस्था रखना निर्विचिकित्सा नामक दर्शन का आचार है।

४. अमूढ़दृष्टि :—अविवेकी व्यक्ति अच्छे और बुरे मे विवेक नही कर सकता। वह सोने और पीतल को एक-सा समझता है, वह कांच के टुकडे और मणि के अन्तर को नही जानता। अतएव उसकी दृष्टि मे कांच के टुकडे और मणि—दोनो तुल्य हैं। यह मूढदृष्टि है। इसी तरह जो व्यक्ति प्रचलित विविध मत-मतान्तरो को एक-सा समझता है, जो तत्त्व और अतत्त्व का भेद नही कर सकता वह मूढदृष्टि है। क्षीर-नीर का विवेक करने की बुद्धि साधक अथवा मुमुक्षु मे होनी ही चाहिये। ऐसी विवेक बुद्धि के अभाव मे साधक इधर-उधर भटक पड़ता है और असमंजस में पडकर न इधर का रहता है न उधर का

उसका चित्त अस्थिर और भ्रमित बना रहता है, अतएव साधक को अमूढ दृष्टि होना चाहिए अर्थात् उसे यह आस्था होनी चाहिये कि वीतराग परमात्मा ने जो दयामय और स्याद्वादमय धर्म प्ररूपित किया है वह अनुपम है, सर्वोत्कृष्ट है, इसकी तुलना मे अन्य कोई एकान्तवादी मत या पंथ टिक नही सकता । हंस की चोच जैसे क्षीर-नीर का विवेक करती है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि मे तत्त्वातत्त्व और सत्यासत्य की विवेक बुद्धि होनी चाहिये । ऐसी विवेक बुद्धि से सम्पन्न होना ही अमूढदृष्टि आचार है ।

५. उपबृंहन :—गुणीजनो के सद्गुणो की शुद्ध मन से प्रशसा करना और वैयावृत्य आदि के द्वारा उनके उत्साह को बढाना उपबृहन है । सम्यक्त्व की पुष्टि के लिए यह महत्त्वपूर्ण अंग है । सम्यग्दृष्टि और सार्धमिक के सद्गुण की प्रशसा करने से सद्गुणो के प्रति प्रमोदभाव और आकर्षण होता है और दूसरों मे भी सद्गुणो की प्रशसा से सद्गुणी बनने की प्रेरणा अन्य लोगो को भी मिलती है । परम्परा से यह सद्गुणों के विस्तार का कारण बनता है । जो दूसरो के गुणो को प्रमोद दृष्टि से देखता है वह स्वय भी गुणों से परिपूर्ण हो जाता है । गुण दृष्टि से देखने वाला व्यक्ति स्वय गुणों का आगार बन जाता है । यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है । अतएव गुणीजनो के गुणानुवाद द्वारा उन्हे प्रोत्साहित करना उपबृंहन नामक दर्शन का आचार है ।

६. स्थिरीकरण :—कोई व्यक्ति परिस्थितियो के कारण—सकट आ पडने पर चित्त मे विक्षोभ पैदा हो जाने के कारण सत्यधर्म से चलायमान हो रहा हो तो उसे विविध उपायो से सत्य धर्म मे स्थिर करना स्थिरीकरण नामक दर्शन का आचार है । व्यक्ति अनेक बार परिस्थितियो के चक्कर मे फस जाता है तब अथवा अन्य के ससर्ग के कारण वह शुद्ध धर्म के प्रति शकाशील बनकर डॉवाडोल हो जाता है, ऐसे समय मे सम्यग्दृष्टि जोव का कर्त्तव्य है कि अपने सार्धमिक को यथोचित सहायता देकर उसकी धर्म श्रद्धा को स्थिर बनावे, उस अस्थिर बने हुए व्यक्ति को सान्त्वना देकर, हित शिक्षा देकर या साता उपजाकर पुनः धर्म के प्रति श्रद्धाशील बनाना स्थिरीकरण नामक दर्शनाचार है ।

७. वात्सल्य :—सार्धमिक जनों के प्रति प्रीति भाव रखना वात्सल्य है । जैसे गाय अपने बछड़े पर प्रीति रखती है वैसे ही सार्धमिक भाई-बहनो के प्रति प्रीति रखना वात्सल्य नामक दर्शनाचार है, यदि कोई सार्धमिक भाई-बहिन किसी प्रकार के संकट मे पडे हो, रोगी हों, वृद्ध हो, असमर्थ हो, अपना योग क्षेम (निर्वाह) करने मे कठिनाई अनुभव करते हो, तो उन्हे अपनी शक्ति के अनुसार साता उपजाना, वात्सल्य भाव का प्रतीक है । सघ की दृष्टि से इस दर्शनाचार का बहुत ही महत्त्व है, क्योकि सार्धमिक भाई-बहिनो के आधार पर ही सघ का प्रासाद खड़ा होता है, यदि सार्धमिक भाई-बहिन दुर्बल है तो उनके आधार पर

खडा हुआ संघ का प्रासाद चरमरा जाता है, संघ कमजोर हो जाता है, अतएव संघ को मजबूत, स्थिर और सुसंगठित रखने के लिए वात्सल्य नामक दर्शनाचार का पालन अपनी मर्यादानुसार मुमुक्षु को अवश्य करना चाहिये।

८ प्रभावना :– वीतराग देव का धर्म अपने स्वयं के गुणों से ही प्रभाव पूर्ण होता है फिर भी अपने विशिष्ट गुणो से दुष्कर क्रिया, व्याख्यान, अभिग्रह, व्याख्यान शैली, कवित्व शैली और विद्वत्ता आदि से धर्म के प्रभाव में वृद्धि करना और धर्म पर लगाये जाने वाले मिथ्या आक्षेपो का प्रभावपूर्ण ढंग से खण्डन करना प्रभावना नामक दर्शनाचार है। धर्म की प्रभावना करने से दूसरे लोगों में धर्म के प्रति अनुराग पैदा होता है और वे भी उसका आचरण करने के लिए प्रेरणा प्राप्त करते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव का प्रयत्न होना चाहिए कि वह सम्यग्दर्शन का अधिक से अधिक विस्तार करे। गुणो के विस्तार से धर्म की पुष्टि होती है और संघ बलवान होता है। इस प्रकार धर्म के प्रभाव को फैलाने के लिये प्रयत्न करना प्रभावना नामक दर्शनाचार है।

उपर्युक्त आठ आचारो के द्वारा सम्यग्दर्शन पुष्ट और सुशोभित होता है, अतएव सम्यग्दृष्टि जीवो को इन आचारों का पालन करना चाहिये। इन दर्शनाचारो का पालन सम्यग्दृष्टि, देशविरित और सर्वविरित को अपनी-अपनी मर्यादाओ मे रहकर करना चाहिये। ये दर्शनाचार सम्यग्दृष्टि, श्रावक और श्रमण तीनो के लिए आचरणीय हैं।

सम्यक्त्व का ग्रहण :

शास्त्रकारो ने आवश्यक सूत्र के अन्तर्गत आने वाले सम्यक्त्व-सूत्र में प्रतिपादित किया है कि :—

> अरिहंतो महदेवो जावज्जीवाए सुसाहुणो गुरुणो।
> जिण पण्णत तत्तं इय सम्मत्तं मए गहियं॥

अर्हन्त प्रभु मेरे देव है, सम्यक् प्रकार से महाव्रतादि का पालन करने वाले साधुजन मेरे गुरु हैं और जिनेश्वर देव के द्वारा प्ररूपित तत्त्व ही मेरा धर्म है— यावज्जीवन के लिए इस सम्यक्त्व को मैं अंगीकार करता हूँ।

सम्यक्त्व, धर्मरूपी भवन की सुदृढ़ आधारशिला है। इसकी शुद्धि पर ही व्रतादि की शुद्धि अवलम्बित है। यह वह नेत्र है जो मोक्ष-मार्ग का सही-सही मार्ग दिखाता है। अतः जैन सिद्धान्त मे सबसे अधिक महत्त्व सम्यग्दर्शन को दिया गया है। सम्यग्दर्शन का अर्थ है—वस्तु के स्वरूप को देखने-परखने और समझने की दृष्टि का सम्यक् होना। तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानना अ। वैसी ही प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। मूलत. यह सम्यग्दर्शन आत्मा का . है, इसमें कोई सन्देह नही कि सम्यक्त्व आत्मा की स्वयं की ज्योति है औ

में ही प्रज्वलित होती है। निश्चय दृष्टि से वह आत्मा के तत्त्व श्रद्धान रूप अध्यवसायो का परिणाम है और वह मात्र अनुभव गम्य है। परन्तु एकान्त निश्चय दृष्टि का अवलम्बन लेने से तत्त्व लगभग अव्यवहार्य-सा बन जाता है। निश्चय की सार्थकता भी तब होती है, जब वह व्यवहार के धरातल पर उतारा जाता हो, इसी तरह व्यवहार की सार्थकता भी उसमे है जब वह निश्चय को अपने लक्ष्य-बिन्दु मे स्थिर कर चलता हो। एकान्त निश्चय दृष्टि अव्यवहार्य होने से वीतराग परमात्मा ने निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियो से तत्त्व निरूपण किया है।

निश्चय दृष्टि से आत्मा के अध्यवसायो मे प्रकट हुआ सम्यक्त्व जिस व्यवहार के रूप मे अभिव्यक्त होता है, उसका उल्लेख आवश्यक सूत्र की उपर्युक्त गाथा मे सूत्रकार ने किया है—अर्थात् निश्चय सम्यक्त्व को व्यवहार के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। इसमे कहा गया है कि मै अर्हन्त परमात्मा को देव रूप मे, सुसाधुजनो को गुरु के रूप मे और वीतराग द्वारा प्ररूपित तत्त्व को धर्म के रूप मे अगीकार करता हूँ। यह तत्त्व श्रद्धान रूप अध्यवसाय से प्रकट हुए सम्यक्त्व का व्यावहारिक स्वरूप है। निश्चय दृष्टि से तो आत्मा स्वय देव है, स्वय गुरु है, स्वय धर्म स्वरूप है। यदि एकान्त रूप से यही निश्चय दृष्टि शुद्ध होती तो शास्त्रकार "अरिहतो मह देवो" क्यो फरमाते ? इससे स्पष्ट होता है कि धर्मरथ की गति व्यवहार-निश्चय के दो चक्रो से होती है, किसी एक से कदापि नही। यह कहा जा चुका है कि व्यवहार नय को असद्भूत या मिथ्या नही समझना चाहिये। क्योकि यह भी निश्चय की तरह वीतराग देव द्वारा प्ररूपित-अनुज्ञापित है। व्यवहार नय की यदि उपेक्षा की जाती है तो तीर्थ का विच्छेद प्राप्त होता है और सारी धार्मिक और आध्यात्मिक इमारत ही ढह पडती है। अत. तीर्थंकर देवो ने व्यवहार सम्यक्त्व का स्वरूप उक्त गाथा मे प्रदर्शित किया है। उक्त गाथा मे आया हुआ "गहिय" शब्द विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। इसका अर्थ है—मैने सम्यक्त्व रत्न को ग्रहण किया। यह इस बात को ध्वनित करता है कि यह सम्यक्त्व-रत्न का ग्रहण स्वयमेव नही हुआ अपितु "पर वागरणेण अन्नेसि अन्तिए वा सोच्चा" तीर्थंकरादि से या अन्य विशिष्ट ज्ञानियो से सुनकर उनके उपदेश से आविर्भूत हुआ है। स्पष्टत. यह अधिगम सम्यग्दर्शन है, जो दूसरो के उपदेश के फलस्वरूप प्रकट हुआ है।

आधुनिकता के प्रवाह मे बहने वाले कतिपय बुद्धिवादी यह तर्क प्रस्तुत करते है कि "सम्यक्त्व लेने-देने जैसी नही है। लेन-देन बाह्य वस्तु का होता है, सम्यक्त्व तो आत्म जागृति है, भला इसे कोई व्यक्ति क्या देगा और कोई व्यक्ति कैसे लेगा ? श्रमण भगवान् महावीर ने आत्मा के स्वरूप का, तत्त्व के स्वरूप का वर्णन किया लेकिन आगम मे कही भी ऐसा उल्लेख नही है कि उन्होने किसी भी व्यक्ति को सम्यक्त्व दी या किसी व्यक्ति ने उनसे सम्यक्त्व ली। भगवान्

व्यवहार दृष्टि से श्रावक के व्रतों के तथा साधु के व्रतों के साक्षी रूप में दाता रहे हैं, परन्तु सम्यक्त्व के नहीं। क्योंकि यह तो आत्मज्योति है, अन्दर की श्रद्धा, निष्ठा एव अनुभूति है। गुरु के निमित्त से, उपदेश से एवं अन्य किसी निमित्त से वह ज्योति जग तो सकती है, परन्तु जगती है अपने अन्दर में ही।"

उक्त उद्धरण में तर्क प्रस्तोता ने निश्चय सम्यक्त्व, जो आत्मा का तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप अध्यवसायात्मक है—उसको ही लक्ष्य में रखा है और वीतराग द्वारा उपदिष्ट व्यवहार सम्यक्त्व को दृष्टि से ओझल रखा है। निस्संदेह निश्चय सम्यक्त्व आदान-प्रदान या लेन-देन की वस्तु नही है। परन्तु इस निश्चय दृष्टि से तो व्रत-प्रत्याख्यान और चारित्र भी आदान-प्रदान की और लेन-देन की वस्तु नही ठहरते। क्योंकि व्रत चारित्र भी तो आत्मा के अध्यवसायों से ही होते है। चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम से होने वाला परिणाम ही तो चारित्र है। जैसे दर्शन मोहनीय के क्षयोपशमादि से सम्यक्त्व पैदा होता है, वैसे चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम से व्रत प्रत्याख्यानादि चारित्र होता है यदि तर्क प्रस्तोता के अनुसार आत्मा के अध्यवसाय रूप सम्यक्त्व का आदान-प्रदान नही हो सकता, तो आत्मा के अध्यवसाय रूप चारित्र का भी आदान-प्रदान नहीं हो सकता।

उक्त उद्धरण मे तर्क प्रस्तोता ने स्वीकार किया है कि "भगवान् महावीर व्यवहार दृष्टि से श्रावक के व्रतो तथा साधु के व्रतों के तो साक्षी रूप मे दाता रहे है। जब भगवान् चारित्र मोहनीय के क्षयोपशमादि रूप चारित्र-व्रतों के साक्षी रूप मे दाता है, तो वे दर्शन मोहनीय के क्षयोपशमादि रूप सम्यक्त्व के भी साक्षी रूप मे दाता क्यो नही होंगे ? जैसे निश्चय सम्यक्त्व आदान-प्रदान की वस्तु नही है, वैसे ही निश्चय-चारित्र भी आदान-प्रदान की चीज नही है। जैसे व्यवहार चारित्र का आदान-प्रदान होता है, जैसा कि तर्क प्रस्तोता ने मान्य किया है व्यवहार चारित्र को मान्य किया जाय और व्यवहार सम्यक्त्व को मान्य न किया जाय, इसके पीछे कोई तर्कसंगत कारण नही है। यदि यह कहा जाय कि सम्यक्त्व की ज्योति अन्दर से जलती है, तो चारित्र की ज्योति भी तो अन्दर से जलती है, क्योंकि वह भी आत्मा का स्वरूप है। व्रतादि को आदान-प्रदान योग्य मानना और सम्यक्त्व को आदान-प्रदान योग्य न मानना नितान्त पक्षपातपूर्ण और भ्रांतिपूर्ण मत है।

उक्त तर्क प्रस्तोता ने यह भी स्वीकार किया है कि "गुरु के निमित्त से, उपदेश से एव अन्य किसी निमित्त से वह सम्यक्त्व की ज्योति जग तो सकती है, परन्तु जगती है अपने अन्दर से ही।" ठीक इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि गुरु के निमित्तादि से चारित्र की ज्योति जग तो सकती है, परन्तु जगती है अपने अन्दर से ही। तो भगवान् चारित्र रूप व्रतादि के साक्षी होते है सम्यक्त्व के साक्षी नही होते ? अवश्य ही वे जैसे व्रतादि के साक्षी होते है,

ही सम्यक्त्व के भी साक्षी होते है। भगवान् न केवल साक्षी ही होते है, अपि उन्होने स्वय अपने मुखारविन्द से त्याग-प्रत्याख्यान सयम आदि का दान किय

तर्क प्रस्तोता ने लिखा है कि "आगम मे कही सम्यक्त्व के आदान-प्र का उल्लेख नही है।" उनका यह कथन सगत नही है। आगमो मे ऐसे अ उदाहरण मिलते है। उपासक-दशाग सूत्र मे स्पष्ट रूप से कहा गया है स्वयं श्रमण भगवान् महावीर सकडाल पुत्र के स्थान पर पधारे और सत्यकर्म के उपदेश द्वारा उसकी आत्मा की मिथ्यात्व पर्याय को हटाकर स दर्शन की शुद्ध पर्याय को प्रकट करने हेतु सम्यक्त्व रूप बोध-बीज-प्रदान है। क्या यह सम्यक्त्व का लेन-देन नही है ?

यह सर्वसाधारण को ज्ञात ही है कि प्रभु महावीर ने चण्डकोशिक स बांबी के पास जाकर उसे "सबुजह-सबुज्झह चड कोसिया ! कि न बुज्झ हे चण्डकोशिक ! समझो, क्यो नही समझते हो ? कहकर प्रतिबोधित कि नागराज को प्रतिबोध देने के लिये स्वय महावीर उसके बिल के पास पहु क्या भगवान् ने चण्डकोशिक को बोधि-बीज नही दिया ? क्या चण्डकोशि उस बोधि-बीज को नही अपनाया ?

उपासक-दशांग सूत्र मे स्पष्ट रूप से सम्यक्त्व ग्रहण सम्बन्धी उल्लेख जैसे कि :—

"सद्दामि ण भते। णिग्गथ पावयण, पत्तियामिण भते।
णिग्गथ पावयण, रोएमि ण भते। णिग्गथ पावयण एवमेय भते।
तहमेय भते। अवितहमेय भते। इच्छियमेय भते। पडिच्छियमेय भते।
—उपासक-दशाग सूत्र

"हे भगवन् ! मै निर्ग्रंथ प्रवचन पर श्रद्धा, प्रीति, रुचि रखता हूँ भगवन् ! यह ऐसा ही है, जैसा आपने कहा। निर्ग्रंथ प्रवचन सत्य है, यथार्थ है तथ्य है, मुझे अभिप्सित है तथा अभिप्रेत है।"

थावच्चा अनगार ने सुदर्शन को शौच मूलक धर्म का परित्याग करवा कर निर्ग्रंथ प्रवचन मे प्रतिबद्ध किया था। वह पाठ इस प्रकार है :—

तत्थण से सुदंसणे सबुद्धे।
एव खलु सुदसणेण सोच्च धम्म विप्पजहाय विणयमूले धम्मे पडिवन्ने।
—ज्ञाता धर्मकथाग अ. ५

अनाथी मुनि के उपदेश से सम्राट श्रेणिक दृढ श्रद्धालु सम्यक्त्वी बना था।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अवन्ति के राजा विक्रमादित्य को जिन मतानुयायी बनाया था।

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने गुजरात के नरेश-सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल आदि को सम्यक्त्व प्रदान कर जिन भक्त बनाया था।

सद्धर्म धुरीण आचार्य सुहस्ति, पाटली नगर के श्रेष्ठी वसुभूति के आग्रह से उनके परिवार को प्रतिबोधित करने व सम्यक्त्व का लाभ देने के लिए उनके घर गये थे।

ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनसे सम्यक्त्व का दान एवं ग्रहण होना सिद्ध होता है।

स्वयं श्रमण प्रभु महावीर ने अपने निर्वाण काल के अन्तिम समय में गौतम स्वामी को देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देने के लिए भेजा था। श्री प्रभव स्वामी ने ब्राह्मण अवस्था मे रहे हुए—श्री शय्यंभव स्वामी को बोधित करने के लिए अपने शिष्यों को भेजा था, ऐसा जैन इतिहास में वर्णन उपलब्ध है।

उक्त आगमिक एवं ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार से यह सिद्ध होता है कि जैसे व्यवहार चारित्र का आदान-प्रदान होता है और साक्षी के रूप में भगवान् व्यवहार चारित्र के प्रत्याख्यान आदि देते हैं, वैसे ही व्यवहार सम्यक्त्व का भी आदान-प्रदान होता है और भगवान् व्रतादि की तरह उस व्यवहार सम्यक्त्व के भी साक्षी होते है। जैसे निश्चय चारित्र अन्तरंग की वस्तु होकर भी व्रत प्रत्याख्यान के रूप मे उसका आदान-प्रदान होता है, वैसे ही निश्चय सम्यक्त्व भी अन्तरंग की वस्तु होते हुए भी व्यवहार सम्यक्त्व के रूप मे उसका आदान-प्रदान शास्त्र सम्मत है।

तर्क प्रस्तोता ने आगे लिखा है कि "भगवान् महावीर और अन्य महान् आचार्यों ने व्रत तो दिये परन्तु सम्यक्त्व नही दी। सम्यक्त्व तो स्वयं स्फूर्त होती है। उसका परिबोध दिया जाता है और कुछ नही। सत्य यह है कि सम्यक्त्व एक दृष्टि है, जो दी नही जाती, स्वत. खुलती है। उस दृष्टि को जो कि बन्द है, खोलने मे गुरु निमित्त बन सकता है, इससे अधिक कुछ नही।"

सम्यक्त्व को स्वयं स्फूर्त ही कहना शास्त्र विरुद्ध वचन है। शास्त्रों मे तो सम्यक्त्व को निसर्ग और अधिगम के रूप मे प्रतिपादित किया गया है—केवल निसर्ग रूप ही नही। तत्त्वार्थ सूत्र के सूत्रकार आचार्य श्री उमास्वाति ने "तन्निसर्गादधिगमाद्वा" सूत्र द्वारा यही प्रतिपादित किया है। अनेक पूर्वाचार्यों ने यह भी प्रतिपादित किया है कि निसर्गज सम्यग्दर्शन मे भले ही सा तात्कालिक कारण दृष्टिगोचर न हो, परन्तु पूर्वकालिक संस्कार उनमें

ही सम्यक्त्व के भी साक्षी होते है। भगवान् न केवल साक्षी ही होते है, अपितु उन्होने स्वय अपने मुखारविन्द से त्याग-प्रत्याख्यान सयम आदि का दान किया।

तर्क प्रस्तोता ने लिखा है कि "आगम मे कही सम्यक्त्व के आदान-प्रदान का उल्लेख नही है।" उनका यह कथन सगत नही है। आगमो मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है। उपासक-दशाग सूत्र मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि स्वय श्रमण भगवान् महावीर सकडाल पुत्र के स्थान पर पधारे और अपने सत्यकर्म के उपदेश द्वारा उसकी आत्मा की मिथ्यात्व पर्याय को हटाकर सम्यग्-दर्शन की शुद्ध पर्याय को प्रकट करने हेतु सम्यक्त्व रूप वोध-बीज-प्रदान किया है। क्या यह सम्यक्त्व का लेन-देन नही है ?

यह सर्वसाधारण को ज्ञात ही है कि प्रभु महावीर ने चण्डकोशिक सर्प की बाबी के पास जाकर उसे "सवुजह-सबुज्झह चड कोसिया ! कि न वुज्झसि।" हे चण्डकोशिक ! समझो, क्यो नही समझते हो ? कहकर प्रतिबोधित किया। नागराज को प्रतिबोध देने के लिये स्वय महावीर उसके बिल के पास पहुँचे। क्या भगवान् ने चण्डकोशिक को बोधि-वीज नही दिया ? क्या चण्डकोशिक ने उस बोधि-बीज को नही अपनाया ?

उपासक-दशांग सूत्र मे स्पष्ट रूप से सम्यक्त्व ग्रहण सम्बन्धी उल्लेख है जैसे कि :—

"सद्दामि ण भते। णिग्गंथ पावयण, पत्तियामिण भते।
णिग्गथ पावयण, रोएमि ण भते। णिग्गथ पावयण एवमेय भते।
तहमेय भते। अवितहमेय भते। इच्छियमेय भते। पडिच्छियमेय भते।
—उपासक-दशांग सूत्र

"हे भगवन् ! मै निर्ग्रंथ प्रवचन पर श्रद्धा, प्रीति, रुचि रखता हूँ। भगवन् ! यह ऐसा ही है, जैसा आपने कहा। निर्ग्रंथ प्रवचन सत्य है, यथार्थ है, तथ्य है, मुझे अभिप्सित है तथा अभिप्रेत है।"

थावच्चा अनगार ने सुदर्शन को शौच मूलक धर्म का परित्याग करवा कर निर्ग्रंथ प्रवचन मे प्रतिबद्ध किया था। वह पाठ इस प्रकार है :—

तत्थण से सुदसणे सवुद्धे।
एव खलु सुदसणेण सोच्च धम्म विप्पजहाय विणयमूले धम्मे पडिवन्ने।
—ज्ञाता धर्मकथाग अ. ५

अनाथी मुनि के उपदेश से सम्राट श्रेणिक दृढ श्रद्धालु सम्यक्त्वी बना था।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अवन्ति के राजा विक्रमादित्य को जिन मतानुयायी बनाया था।

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने गुजरात के नरेश-सिद्धराज जयसिह, कुमारपाल आदि को सम्यक्त्व प्रदान कर जिन भक्त बनाया था।

सद्धर्म धुरीण आचार्य सुहस्ति, पाटली नगर के श्रेष्ठी वसुभूति के आग्रह से उनके परिवार को प्रतिबोधित करने व सम्यक्त्व का लाभ देने के लिए उनके घर गये थे।

ऐसे अनेक उदाहरण है, जिनसे सम्यक्त्व का दान एवं ग्रहण होना सिद्ध होता है।

स्वय श्रमण प्रभु महावीर ने अपने निर्वाण काल के अन्तिम समय मे गौतम स्वामी को देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देने के लिए भेजा था। श्री प्रभव स्वामी ने ब्राह्मण अवस्था मे रहे हुए—श्री शय्यभव स्वामी को बोधित करने के लिए अपने शिष्यो को भेजा था, ऐसा जैन इतिहास में वर्णन उपलब्ध है।

उक्त आगमिक एव ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार से यह सिद्ध होता है कि जैसे व्यवहार चारित्र का आदान-प्रदान होता है और साक्षी के रूप में भगवान् व्यवहार चारित्र के प्रत्याख्यान आदि देते है, वैसे ही व्यवहार सम्यक्त्व का भी आदान-प्रदान होता है और भगवान् व्रतादि की तरह उस व्यवहार सम्यक्त्व के भी साक्षी होते है। जैसे निश्चय चारित्र अन्तरंग की वस्तु होकर भी व्रत प्रत्याख्यान के रूप मे उसका आदान-प्रदान होता है, वैसे ही निश्चय सम्यक्त्व भी अन्तरग की वस्तु होते हुए भी व्यवहार सम्यक्त्व के रूप में उसका आदान-प्रदान शास्त्र सम्मत है।

तर्क प्रस्तोता ने आगे लिखा है कि "भगवान् महावीर और अन्य महान् आचार्यो ने व्रत तो दिये परन्तु सम्यक्त्व नही दी। सम्यक्त्व तो स्वय स्फूर्त होती है। उसका परिबोध दिया जाता है और कुछ नही। सत्य यह है कि सम्यक्त्व एक दृष्टि है, जो दी नही जाती, स्वत. खुलती है। उस दृष्टि को जो कि बन्द है, खोलने मे गुरु निमित्त बन सकता है, इससे अधिक कुछ नही।"

सम्यक्त्व को स्वय स्फूर्त ही कहना शास्त्र विरुद्ध वचन है। शास्त्रो मे तो सम्यक्त्व को निसर्ग और अधिगम के रूप मे प्रतिपादित किया गया है—केवल निसर्ग रूप ही नही। तत्त्वार्थ सूत्र के सूत्रकार आचार्य श्री उमास्वाति ने भी "तन्निसर्गादधिगमाद्वा" सूत्र द्वारा यही प्रतिपादित किया है। अनेक पूर्वाचार्यों ने ने यह भी प्रतिपादित किया है कि निसर्गज सम्यग्दर्शन मे भले ही साक्षात् कोई तात्कालिक कारण दृष्टिगोचर न हो, परन्तु पूर्वकालिक संस्कार उसमें निमित्त-

भूत होते है। जैसा कि दिगम्बर आम्नाय के 'मोक्ष शास्त्र' मे इस सूत्र का विवेचन करते हुए लिखा गया है—"किसी जीव को आत्मज्ञानी पुरुष का उपदेश सुनने पर तत्काल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है और किसी को उसी भव मे दीर्घकाल मे या दूसरे भव में उत्पन्न होता है। जिसे तत्काल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे अधिगमज कहते है और जिसे पूर्व के संस्कारो से होता है उसे निसर्गज कहते है। इस प्रकार एक दृष्टि से निसर्गज भी पूर्व जन्मसस्कारजनित क्षयोपशम निमित्तक ही होता है। इसमे अन्तर तत्क्षण अथवा दीर्घकाल का होता है।"

उक्त सूत्र और उसकी व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है कि सम्यक्त्व स्वय स्फूर्त ही नही होता, अपितु वह अधिगमज भी होता है। दृष्टि न केवल स्वत खुलती है, अपितु खोली भी जाती है। वन्द चक्षु के खोलने को ही सम्यक्त्व देना कहा जाता है। गुरुजन अपने उपदेश द्वारा वन्द दृष्टि को खोलने का ही तो प्रयास करते है। इसमे ही उनके उपदेश की सार्थकता है, इसीलिए कहा जाता है :—

अज्ञान तिमिरान्धानां ज्ञानाजन शलाकया
चक्षुरून्मिलित येन तस्मै सद्‌गुरवे नमः

अज्ञान के अन्धकार से अन्धे व्यक्तियो की आँखो को ज्ञान रूपी अन्जन की शलाका से जिन्होने खोला है, उन सद्‌गुरुदेव को नमस्कार हो।

इस प्रकार चक्षुओ को खोलना ही तो इन्हे सम्यक् दृष्टि देना है। इसी अभिप्राय से आगम मे अरिहत भगवान् को "चक्खु दयाण" ज्ञानरूपी चक्षुओ को देने वाले कहा गया है। दृष्टि दी नही जाती, स्वतः खुलती है यह कहने पर "चक्खु दयाण" पद का कोई अर्थ नही रह जाता। उपाध्याय अमर मुनिजी ने सामायिक सूत्र मे पृष्ठ १७३ पर सम्यक्त्व सूत्र एवं गुरु वन्दन का विवेचन करते हुए लिखा है—"सद्‌गुरु ही अज्ञान अन्धकार दूर कर सकते है, जीवन मन्दिर मे वे ही प्रकाशमान दीपक है, जिनको लेकर जीवन की विराट घाटियो को पार कर सकते है। अस्तु, गुरु बनाते समय विचार कीजिये। ज्ञान और क्रिया की ऊँचाई परखिये। त्याग और वैराग्य की ज्योति-प्रकाश देखिये। ऐसा गुरु ही ससार समुद्र से स्वयं तिरता और दूसरो को तारता है।"

उक्त अवतरण से स्वयं सिद्ध हो जाता है कि बोधि-बीज देने वाले गुरु होते है और उनका चुनाव करते समय बहुत ही सावधानी रखनी चाहिये। इससे भी यह तो सिद्ध होता है कि बोधि-बीज सम्यक्त्व दिया-लिया जा सकता है।

□ □ □

१२

ज्ञान : माहात्म्य, स्वरूप एवं व्याख्या

(चतुर्थ दिवस)

वीतराग प्ररूपित मोक्ष-मार्ग में ज्ञान की अनिर्वचनीय महिमा वताई गई है। जैन सिद्धान्त मे ज्ञान को परम मागलिक माना गया है। मगल का प्रतिपादन करते हुए श्री जिनभद्रगणि क्षमताश्रमण ने ज्ञान को भाव मंगल कहा है :—

मगल महवा नन्दी चउव्विहा मगलं च सा नेया।
दव्वे तूर समुदओ, भावम्मि य पंच नाणाइं॥

—विशेपावश्यक भाष्य, गाथा ७८

ज्ञान पञ्चक रूप नन्दी भाव मगल है। जो सुख रूप हो, आनन्द रूप हो, उसे नन्दी कहा जाता है। ज्ञान प चक नन्दी है, क्योकि वे परम आनन्द के साधनभूत है, जो आनन्द के साधनभूत है वे मगल हैं, अतएव ज्ञान परम मंगल स्वरूप है। इसी आधार पर जैन आगमों मे ज्ञान प्रतिपादक आगम को 'नन्दीसूत्र' कहा जाता है। ज्ञानो के स्वरूप को वताने वाले आगम को 'नन्दी' की संज्ञा देना इस वात को प्रमाणित करता है कि ज्ञान नन्दी रूप है—परम आनन्द का साधन है, अतएव—महामगलकारी है।

ज्ञान वह उज्ज्वल प्रकाश है, जो मोक्ष के मार्ग को आलोकित करता है, जो सिद्धि के पथ को प्रशस्त वनाता है। ज्ञान वह दिवाकर है, जो मोह की निशा के निविडतम अन्धकार को दूर कर आत्मा को अपूर्व आभा से प्रकाशमान वना देता है। ज्ञान वह सुधाकर है जो पाप के ताप को मिटाकर आत्मा को स्वानुभूति की शीतल रश्मियो द्वारा आल्हादित और प्रफुल्लित करता है। ज्ञान वह नेत्र है जो आत्मा की अनमोल निधि का साक्षात्कार करता है, जो आत्मा के अनन्त सौन्दर्य का दर्शन कराता है। ज्ञान वह दर्शन है, जो आत्मा को अपने अनन्त चतुष्टय स्वरूप वैभव की अपूर्व अनुभूति कराता है।

शास्त्रकारो ने ज्ञान को सर्वतोमुखी चक्षु निरूपित किया है। कहा गया है —

"णाण सव्वत्तिग चक्खु ।"

ज्ञान ऐसा अद्भुत नेत्र है, जो आगे-पीछे, आमने-सामने, ऊपर-नीचे, आजू-वाजू सव ओर देखता है। पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण आदि सव दिशाओं और अनुदिशाओं को देखता है, त्रिभुवन के समस्त प्रमेयो और पदार्थों को देखने की

क्षमता रखता है। ज्ञानरूपी नेत्र के खुलने पर ही आत्मिक वैभव और आध्यात्मिक जगत् का विराट् स्वरूप दृष्टिगोचर होने लगता है। ज्ञान के द्वारा ससार और मोक्ष की वस्तुस्थिति की प्रतीति होने पर ही साधना और आराधना का द्वार खुलता है, इसीलिये दशवैकालिक सूत्र मे कहा गया है :—

पढम नाण तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्व सजए।
अन्नाणी कि काही, किवा नाहीइ सेय पावग ॥

—दशवै०, अ. ४–१०

'पहले ज्ञान और फिर दया-चारित्र' इस सिद्धान्त पर सारा संयतवर्ग आधारित है। अज्ञानी क्या करेगा और कल्याण-अकल्याण को क्या समझेगा ?

समस्त संयमी चेतनाए पहले सम्यग्ज्ञान प्राप्त करती है और बाद मे दया का अर्थात् संयम का यथावत् आचरण करती है। जिसे जीवादि प्रयोजन-भूत तत्त्वों का ज्ञान नही है वह जीव रक्षा रूप सयम का आचरण नही करा सकता। जिसे सत्-असत् का विवेक नही है, जो आस्रव और सवर के स्वरूप का ज्ञाता नही है वह कैसे आस्रवों का त्याग करेगा और किस प्रकार सवर से सवृत बनेगा ? निर्दोष सयम का पालन करने के लिये पहले प्रयोजनभूत सम्यग्ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता है।

प्रयोजनभूत ज्ञान कहने का अभिप्राय यह है कि जगत् के पदार्थों का प्रयोग शून्य ज्ञान न होने पर भी संयम पालन मे कोई त्रुटि नही हो सकती। किस प्रकार की रासायनिक वस्तु से कौनसी नई चीज पैदा हो जाती है। मशीन आदि के कलपुर्जो का और उनके सयोग से होने वाले कार्यो का, उनको चलाने की पद्धति का ज्ञान तथा अन्यान्य सांसारिक प्रयोजन के पदार्थो का ज्ञान मुमुक्षु पुरुषों के लिये प्रयोजनभूत नही है। यहाँ ऐसे ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन नही किया गया है। मुमुक्षु के लिये प्रयोजनभूत ज्ञान वह है जिससे आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रतीत हो। आत्मा अपने स्वरूप से क्यो च्युत हुआ है ? किन उपायों का अवलम्बन लेने से वह अपने मूल स्वरूप को प्राप्त कर सकता है ? जीव क्या है ? उसकी रक्षा किस प्रकार हो सकती है ? इत्यादि बातो को जानना प्रयोजनभूत ज्ञान है, क्योकि मोक्षमार्ग के लिये यही उपयोगी होता है। इन तात्त्विक विषयो को जाने बिना लौकिक ज्ञान चाहे जितना हो, कार्यकारी नही होता। उससे आत्म-कल्याण में सहायता नही मिलती, वह ज्ञान केवल भाररूप है जो मोक्षमार्ग मे प्रयोजनभूत नही होता।

जिस रोगी को या चिकित्सक को रोग का स्वरूप ज्ञात नही है, उसके निदान का पता नही है, रोगी की प्रकृति की पहचान नही है, रोग के निवारण के उपायो को नही जानता है वह रोग को दूर नही कर सकता। इसी प्रकार

भव रोग का स्वरूप, उसका निदान, उस भव रोग से मुक्त होने के उपाय को जो सम्यक् प्रकार से नही समझता है, वह ससार की बीमारी से दूर छूटकर आध्यात्मिक स्वस्थता प्राप्त नही कर सकता । कहा है :—

आत्मा ज्ञान भवं दु ख आत्मज्ञानेन हन्यते ।
तपसा प्यात्म विज्ञान-हीनैश्छेत्तु न शक्यते ।।

आत्मा के यथार्थ स्वरूप को न जानने से जो दु.ख उत्पन्न हुआ है, वह आत्म-ज्ञान से ही विनष्ट किया जा सकता है । आत्मज्ञान से रहित पुरुष तपस्या के द्वारा भी दुःख का क्षय नही कर सकते, क्योकि आत्मज्ञान हीन तप का फल मोक्ष मार्ग मे अनुपयोगी होता है । कहा गया है .—

ज अन्नाणी कम्म खवेइ, बहुआहि वासकोडीहि ।
त नाणी तिहि गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेण ।।

अज्ञानी जीव करोडो वर्षो में जितने कर्म खपाता है, उतने कर्म—मन-वचन-कर्म से सवृत्त ज्ञानीजन एक उच्छ्वास जितने समय मे ही क्षय कर डालता है । ज्ञान की महिमा और गरिमा का कितना चमत्कार है ।

ज्ञान आत्मा का निज गुण है

ज्ञान, आत्मा का मौलिक निज गुण है । वह दण्ड और दण्डी के सम्वन्ध की तरह सयोग सम्वन्ध रूप नही है । सयोग सम्बन्ध दो द्रव्यो मे—दो भिन्न पदार्थो मे होता है । आत्मा और ज्ञान के विषय में ऐसी बात नही है । आत्मा गुणी है और ज्ञान उसका स्वाभाविक गुण है । स्वाभाविक गुण वह होता है, जो कभी अपने आश्रयभूत द्रव्य का परित्याग नही करता । ज्ञान के अभाव मे आत्मा की कल्पना करना सभव नही है । जैन दर्शन ज्ञान को आत्मा का मौलिक गुण मानत है, जवकि वैशेषिक आदि अन्य कतिपय दर्शन ज्ञान को आत्मा का मौलिक गुण न मानकर एक आगन्तुक गुण स्वीकार करते है । जैन दर्शन को उनकी यह मान्यता स्वीकार नही है । जैन दर्शन मे तो आत्मा के ज्ञान गुण को इतनी प्रमुखता दी गई है कि कही-कही आत्मा और ज्ञान को एकरूप मान लिया गया है । व्यवहार नय की अपेक्षा से ज्ञान और आत्मा मे भेद माना गया है किन्तु निश्चय नय से ज्ञान और आत्मा में अभेद स्वीकार किया गया है । ज्ञान और आत्मा मे तादात्म्य सम्वन्ध माना गया है । जिनमे तादात्म्य सम्वन्ध होता है वे एक दूसरे से अलग नही रह सकते, जैसे सूर्य और प्रकाश मे तादात्म्य सम्वन्ध है, अत सूर्य को छोडकर प्रकाश और प्रकाश को छोडकर सूर्य नही रह सकता, वैसे ही आत्मा को छोडकर ज्ञान और ज्ञान को छोड़कर आत्मा नही रह सकता । अतएव ज्ञान, आत्मा का मौलिक निज गुण है ।

ज्ञान आत्मा का निज गुण है । वह आज से नही अनन्त-अनन्तकाल से सदा-सर्वदा इस आत्मा मे रहा है और आत्मा मे ही रहेगा । ससार का एक भी प्राणी

ऐसा नही है जिसमे ज्ञान न हो। उपयोग आत्मा का लक्षण है और वह आत्मा मे अवश्य रहता है। भले ही चेतना की हीन अवस्था मे वह ज्ञान सुरूप न होकर कुरूप रहा हो, सम्यक् न होकर मिथ्या हो, परन्तु आत्मा मे ज्ञान की सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता। जहाँ आत्मा है, वहाँ उपयोग रूप ज्ञान अवश्य रहेगा।

जिन जीवों की चेतना अत्यन्त सुपुप्त है, जिन अनन्त जीवो का मिलकर एक शरीर बना है, जो चर्म चक्षुओ या सूक्ष्मदर्शक यत्र से भी दिखलाई नही पडते—उन सूक्ष्म निगोद के जीवो मे भी ज्ञान का अत्यन्त सूक्ष्म अश तो (अक्षर का अनन्तवा भाग) रहता ही है। यदि ऐसा न माना जाय तो जीव अजीवत्व को प्राप्त हो जाएगा, जो कि असंभव है। कहा है :—

"अक्खरस्स णतो भागो, णिच्चुग्घाडिओ; यदि पुणो
सो वि आवारिज्जा तेण जीवा अजीवत्तण पावेज्जा।"

अर्थात् प्रत्येक आत्मा का अक्षर का अनन्तवां भाग अवश्य उद्घाटित रहता है, अन्यथा जीव अजीवत्व को प्राप्त हो जाएगा।

ज्ञान के तारतम्य का कारण

ज्ञान आत्मा का मौलिक गुण है, इस पर यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि आत्माओं मे पाये जाने वाले ज्ञान की न्यूनाधिकता का क्या कारण है? मौलिक गुण की दृष्टि से सब जीवात्माएँ समान है, तो ज्ञान की अनन्तगुण न्यूनाधिकता या तारतम्य का क्या हेतु है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि आत्मा का मौलिक गुण एक-सा है तदपि विभावदशापन्न आत्मा ज्ञानावरणीयादि कर्मो के आवरण से आवृत्त होता है। वह आवरण जितना घना-छिछरा होता है, उसी अनुपात मे आत्मा की चेतना शक्ति व्यक्त होती है। यदि आवरण अत्यन्त सघन होता है तो आत्मा के ज्ञान की मात्रा बहुत ही कम होती है। जितने-जितने अशों मे आवरण की सघनता कम होती जाती है उतने-उतने अशो मे ज्ञान की मात्रा अभिव्यक्त होती रहती है। आवरण की सघनता से तारतम्य के कारण ज्ञान की मात्रा मे तारतम्य देखा जाता है।

जिस प्रकार सूर्य मेघो के आवरण से आवृत्त होता है तो उसका प्रकाश-न्यूनाधिक कम—ज्यादा होता रहता है। यदि मेघपटल बहुत घने होते है तो सूर्य का प्रकाश अत्यन्त मन्द हो जाता है। परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि चाहे जितने घने बादल सूर्य को घेर ले, परन्तु उसका कुछ न कुछ अश अनावृत्त ही रहता है जिसके कारण दिन और रात्रि का भेद बना रहता है। इसी प्रकार आत्मा पर ज्ञानावरणीय कर्म के कितने ही घने आवरण आजाये, आत्मा की चेतना का अनन्तवा भाग अनावृत्त रहता है, जिसके कारण उसमे ज्ञान की

न्यूनतम मात्रा वनी ही रहती है। यदि वह ज्ञान मात्रा भी आवृत्त हो जाती तो जीव-अजीव वन जाता, जो कि त्रिकाल में भी सभव नही है। जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व अनादि पारिणामिक भाव है, जो कभी नष्ट नही होते, अन्य भाव को प्राप्त नही होते, सदा बने रहते है।

मेघो के पटल जितने-जितने अश में छितरे होते जाते है, उतने-उतने अंशों मे सूर्य के प्रकाश की मात्रा प्रकट होती रहती है। इसी तरह ज्ञानावरणीय कर्म के दलिक जितने-जितने छितरे होते जाते है उतने-उतने अश में ज्ञान की मात्रा अभिव्यक्त होती रहती है। सूर्य अपने मूल स्वरूप मे प्रकाशमान है, परन्तु आवरणो के कारण उसकी ज्योति न्यूनाधिक होती है। ज्योही सम्पूर्ण आवरण नष्ट हो जाते है, त्योही सूर्य अपने मौलिक प्रकाशमान स्वरूप मे प्रकट हो जाता है। सूर्य का वह प्रकाश कही बाहर से नही आया, वैसे ही आत्मा मौलिक रूप से ज्ञान पिण्ड है। ज्ञानावरणीय कर्म के कारण उसका ज्ञान कम-ज्यादा होता रहता है, ज्योही सम्पूर्ण ज्ञानावरण का विलय हो जाता है, विशुद्ध ज्ञानमय आत्मा का स्वरूप प्रकट हो जाता है। आत्मा में वह विशुद्धि—ज्ञान कहीं बाहर से नही आया, अपितु वह उसका मूल स्वभाव था, जो आवरणो के हट जाने के कारण प्रकट हो उठा।

आत्मा अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय का स्वामी है

आत्मा अपने सहज स्वरूप मे अनन्त ज्ञान-दर्शन का स्वामी है, अनन्त सुख का निधान है और अनन्त शक्ति से सम्पन्न है। परन्तु अतीत अनादिकाल से वह विभाव दशा को प्राप्त हो गया है। राग-द्वेष मोहादि के वशीभूत होकर आत्मा के पर भाव मे रमण करने से उसकी दुर्दशा हुई है। आत्मा पर भाव में इतना मुग्ध हो गया कि वह अपने आपको भी भूल गया। वह पर भाव को ही अपना स्वभाव मानने लगा। सदा स्वतन्त्र स्वभाव वाला आत्मा कर्मों के बन्धनों में जकड गया। इतना ही नही वह वन्धन मे ही आनन्द मानने लगा। सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट मोहान्ध वनकर दीन-हीन भिखारी जैसा वन गया। अक्षय निधि का स्वामी स्वय को दीन और हीन समझने लगा। जब तक यह मोह दशा वनी रहती है तब तक आत्मा घोर अज्ञान की गाढ निद्रा मे सोया पडा रहता है।

जैसे शुद्ध स्वभाव वाला स्वर्ण मिट्टी के सयोग के कारण अशुद्ध वन जाता है, जैसे सिंह शावक भेड़ो के वीच मे पाले-पोसे जाने के कारण भेड वना रहता है, लाखो की सम्पत्ति घर मे गडी हुई होने पर भी उससे अनजान व्यक्ति दरिद्री वना रहता है। इसी तरह आत्मा भी कर्मों के सयोग से अशुद्ध वना हुआ है, अपने अनन्त वल को भूलकर वह भेड़ के समान पौरुषहीन वना हुआ है, अनन्त आत्मिक वैभव का अधिपति होते हुए भी अज्ञानवश रंक वना हुआ है। आत्मा की यह वैभाविक दशा मुमुक्षु पुरुषो के लिए गम्भीर विचार का विषय वनती है।

संयोगवश जब काल लब्धि पकती है, तब निसर्ग या परोपदेश से आत्मा की मोह नीद टूटती है, उसमे जागृति का सचार होता है, वह अपने को पहचानने लगता है। अपनी दुर्दशा पर उसे गहरा दुःख होता है। वह अपने बन्धनो को तोडने के लिये लालायित हो उठता है। वह सबसे पहले अपने असली स्वरूप को पहचान लेता है, यह सत्य स्वरूप का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। उसे अपने अनन्त ज्ञानादि चतुष्ट्मय होने की प्रतीति-विश्वास आस्था हो जाती है—यही सम्यक्दर्शन है और वह अपने बन्धनो को तोडने के लिए जो पुरुषार्थ करता है वह सम्यक्-चारित्र है। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा के उत्थान के लिए सम्यग्ज्ञान की अनिवार्य प्राथमिक उपयोगिता और आवश्यकता है। सम्यक्ज्ञान के पश्चात् ही उस पर आस्था या विश्वास होता है, अतएव सम्यक् ज्ञान के साथ ही सम्यग्दर्शन होता है। सम्यक् ज्ञान होने पर सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र हो सकता है। इसीलिए कहा है कि :—

"नाणेण विणा न हुति चरण गुणा"

— उत्तराध्ययन अ. २८-३०

सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र की प्राप्ति नही हो सकती। सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान वह मूल है जिस पर चारित्र का कल्पवृक्ष लहराता है तथा मुक्ति रूपी फल की प्राप्ति होती है।

ज्ञान के द्वारा जीव हिताहित में विवेक करता है, लोकालोक के स्वरूप को समझता है, जड-चेतन का भेद ज्ञान करता है, बन्ध और मोक्ष को जानता है। दर्शन द्वारा वह सत्य तत्त्व पर श्रद्धान करता है, अपने ध्येय, हेय-ज्ञेय-उपादेय के प्रति दृढ आस्थाशील होता है और चारित्र के द्वारा हेय को छोडकर उपादेय को अगीकार करता है, तप के द्वारा आत्मा के कर्म-मैल को जलाता है। अस्तु, ज्ञान की महत्ता को प्रदर्शित करते हुए कहा गया है :—

नाणाहिओवरचरण हीणो वि हु पवयण पभासन्तो।
णय दुक्कर करेतो सुट्ठुवि अप्पागमो पुरिसो ॥

जो व्यक्ति श्रेष्ठ चारित्र से रहित है, परन्तु सम्यग्ज्ञान मे श्रेष्ठ है और प्रवचन की प्रभावना करता है तो वह उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है जो दुष्कर तप आदि तो करता है, परन्तु ज्ञान रहित-सम्यग्ज्ञान रहित है।

सम्यग्ज्ञान की महिमा और गरिमा को समझ कर ज्ञान सम्पादन मे यत्न करना चाहिये। जो ज्ञानी होगा वह विरति को अगीकार करेगा क्योंकि 'णाणस्स फल विरइ' ज्ञान का फल विरति बताया गया है। वह ज्ञान ही क्या जो विरति मे परिणत न हो।

तप, चारित्र के अन्तर्गत आ जाता है परन्तु तप की प्रमुखता बताने के लिये उसे अलग से मोक्ष का अग कहा गया है। जैसे :—

णाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तहा ।
एस मग्गो त्ति पण्णत्तो, जिणेहि वरदंसिहि ॥

—उत्तरा, अ. २८-२-१२

सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप की आराधना को सर्वज्ञ सर्वदर्शी जिनेश्वर देवो ने मोक्ष मार्ग कहा है ।

ज्ञान की परिभाषा

ज्ञातिर्ज्ञानम् अर्थात् जानना ज्ञान है अथवा "ज्ञायते – परिच्छिद्यते वस्तु अनेनेति ज्ञानम् ।" जिसके द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है, वह ज्ञान है । स्व-पर को जानने वाला जीव का परिणाम ज्ञान है । ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम या क्षय से होने वाले तत्त्वार्थ बोध को ज्ञान कहते है । पदार्थ के विशेष स्वरूप को जानने वाला बोध–व्यापार ज्ञान है ।

ज्ञान के भेद

ज्ञान के पाँच भेद कहे गये है .—

णाणं पंचविहं पण्णत्त तजहा–अभिणिवोहियनाण,
सुयणाणं, ओहिनाण, मणमज्जव नाण, केवल णाण ।

—नन्दी सूत्र

ज्ञान के पाँच भेद तीर्थकर भगवन्तों द्वारा प्ररूपित किये गये है .—

१ आभिनिवोधिक ज्ञान
२ श्रुत ज्ञान
३. अवधि ज्ञान
४. मन पर्यय ज्ञान और
५. केवल ज्ञान

आभिनिवोधिक ज्ञान का अपर नाम मतिज्ञान है ।

प्रश्न—जानना सव ज्ञानों का समान स्वभाव है फिर किस अभिप्राय मे ज्ञान के उक्त पाँच भेद किये गये है ? यदि ज्ञेय (पदार्थ) के भेद मे ये विभाग किये गये है, जैसे कि वर्तमान काल की वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान मति-ज्ञान है, त्रिकाल विषयक शब्द गोचर वस्तु को जानने वाला श्रुत-ज्ञान है, रूपी द्रव्यो को जानने वाला अवधिज्ञान है, मनो-द्रव्य को जानने वाला मन पर्ययज्ञान है और सव पर्याययुक्त सव द्रव्य को जानने वाला केवल ज्ञान है तो यह कथन समीचीन नही है । क्योकि ज्ञेयकृत भेद मानने पर केवल ज्ञान के ग्रहण मे भेद हो जायेंगे । जो विषय मति आदि ज्ञानो द्वारा जाने जाते है वे केवल ज्ञान द्वारा भी जाने जाते है, अन्यथा केवलज्ञान द्वारा सव कुछ जाना जाता है, यह कथन

संगत नहीं होगा । यह अनिष्ट है, अतः यह बताइये कि ज्ञानो के ये पाच भेद किस अपेक्षा से है ?

उत्तर—निस्सन्देह ज्ञान के उक्त भेद ज्ञेय की अपेक्षा से नही किये गये है। ज्ञेय की अपेक्षा से भेद मानने पर उपर्युक्त दोप आता है । उक्त भेदो की विवक्षा स्थूल निमित्त भेद को लेकर की गई है । जैसे कि सकल घाति कर्म का क्षय केवल ज्ञान निमित्त है, आमर्णोषध्यादि लब्धि से युक्त, विशिष्ट अध्यवसाय युक्त अप्रमाद मन.पर्यय ज्ञान का निमित्त है, अवधि ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम अवधिज्ञान का निमित्त है, इसी तरह मति-श्रुत ज्ञानावरण का क्षयोपशम मति-ज्ञान-श्रुतज्ञान का निमित्त है ।

ज्ञान को आवृत्त करने वाले आवारको के भेद से भी उक्त भेदो की सगति होती है । परिस्थूल निमित्त भेद से ज्ञान के भेद मानने पर उसके आवश्यक कर्म के भी वैसे भेद स्वयमेव हो जाते है ।

आभिनिबोधिक ज्ञान :—अर्थाभिमुख निश्चित बोध को आभिनिबोध कहा जाता है । जो ज्ञान निश्चित रूप से अर्थ को ग्रहण करने मे प्रवण होता है वह आभिनिबोधिक ज्ञान है । कहा है—

अत्थाभिमुहो नियओ बोहो जो सोमओ अभिनिबोहो ।
सोचेवाभिनिबोहि अभहव जहा जोग माउज्जं ॥

—विशेषावश्यक भाष्य गा. ८०

जो ज्ञान अर्थाभिमुख हो और निश्चयात्मक हो वह आभिनिबोधिक है। ये दोनो विशेषण सार्थक है । अर्थाभिमुख होने पर भी यदि निश्चयात्मक नही है तो वह ज्ञान नही है । कई बार क्षयोपशम की मन्दता के कारण बोध अनिश्चयात्मक भी होता है उसे ज्ञान नही माना जाता है । इसी तरह निश्चयात्मक होने पर भी यदि वह अर्थाभिमुख—जैसा पदार्थ है वैसा ही—नही है तो वह भी ज्ञान नही है । जैसे तिमिर रोगी को दो चन्द्रों का ज्ञान निश्चय रूप तो है, परन्तु वह अर्थाभिमुख नही है, अतएव वह ज्ञान नही कहा जाता । जो अर्थाभिमुख और निश्चय रूप बोध-व्यापार होता है वह आभिनिबोधिक ज्ञान कहा जाता है ।

अभिनिबोध के पर्यायवाची नाम मति-स्मृति-सज्ञा-चिन्ता आदि है, जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है :—

"मतिस्मृतिसंज्ञा-चिन्ता भिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।"

—तत्त्वार्थ सूत्र अ, १, सू ३

औत्पत्तिकी आदि मति प्रधान होने से आभिनिबोधिक ज्ञान का बहु प्रचलित नाम मतिज्ञान है । मतिज्ञान का अर्थ है—इन्द्रिय और मन सापेक्ष ज्ञान । जिस ज्ञान मे—इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा रहती है वह

मतिज्ञान है। अथवा इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला ज्ञान मति ज्ञान है। इस अपेक्षा से मतिज्ञान के दो भेद हैं :— १. इन्द्रियजन्य मतिज्ञान और २. मनोजन्यमतिज्ञान। जिस ज्ञान की उत्पत्ति में प्रधानता से इन्द्रिय निमित्त हो वह इन्द्रियजन्य मतिज्ञान है और जिस ज्ञान की उत्पत्ति में प्रधानता से मन निमित्त हो वह मनोजन्य मतिज्ञान है।

श्रुतज्ञान :—इन्द्रिय और मन की सहायता से जो शब्दोल्लेखी ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। श्रुत का अर्थ है—शब्द। "श्रूयते आत्मनातदिति श्रुतं शब्द—श्रुत च तज्ज्ञान श्रुतज्ञानमिति" अर्थात् जो सुना जाता है वह श्रुत अर्थात् शब्द है। शब्द रूप ज्ञान श्रुतज्ञान है।

आगम की भाषा में श्रुतज्ञान का अर्थ है—वह ज्ञान जो श्रुत-शास्त्र से सम्बद्ध हो। आप्त पुरुष द्वारा प्रणीत आगम या अन्य शास्त्रों मे जो ज्ञान होता है—उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। दार्शनिक विश्लेषण के अनुसार मति ज्ञान के बाद चिन्तन-मनन द्वारा जो ज्ञान परिपक्व होता है वह श्रुतज्ञान है। इसे इस रूप में कहा जा सकता है कि इन्द्रिय एवं मन के निमित्त से जो ज्ञानधारा प्रवाहित होती है, उसका पूर्व रूप मतिज्ञान है और उसी का मन के द्वारा मनन होने पर जो अधिक स्पष्ट बोध होता है वह—श्रुतज्ञान है। इसीलिये कहा जाता है कि 'श्रुतमतिपूर्वम्' श्रुतज्ञान, मतिज्ञान पूर्वक होता है। मतिज्ञान दूध के समान है तो श्रुतज्ञान उस दूध से निर्मित खीर के समान।

श्रुतज्ञान की अन्य ज्ञानों की अपेक्षा एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है—उसका मुखर स्वरूप होना। चार ज्ञान मूक हैं—ठप्प हैं—ठवणिज्ज हैं। चार ज्ञानों से वस्तु स्वरूप का बोध तो हो सकता है, किन्तु स्वरूप का कथन नही हो सकता। वस्तु स्वरूप के कथन की शक्ति श्रुतज्ञान मे ही होती है, क्योंकि श्रुतज्ञान शब्द प्रधान होता है।

श्रुतज्ञान के दो भेद हैं—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। श्रुत का शब्दात्मक स्वरूप द्रव्य श्रुत है और ज्ञानात्मक रूप भाव श्रुत है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि मतिज्ञान भी इन्द्रिय मन सापेक्ष है और श्रुत ज्ञान भी, तो दोनों में क्या अन्तर है ? शब्द श्रवण तो श्रोतेन्द्रिय से होता है, अतएव वह मतिज्ञान है ? तो श्रुतज्ञान क्या है ?

उक्त प्रश्न के समाधान मे कहा गया है कि श्रुतज्ञान के लिये शब्द श्रवण आवश्यक है, क्योकि शास्त्र वचनात्मक होता है। शब्द का श्रवण मतिज्ञान है, क्योकि वह श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। जब शब्द सुन लिया जाता है, तब अर्थ का चिन्तन किया जाता है—यह विकसित ज्ञान श्रुतज्ञान होता आधार पर यह कहा गया है कि मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान

मतिज्ञान होगा, तभी श्रुतज्ञान होगा। श्रुतज्ञान से पूर्व मतिज्ञान होता है अर्थात् मतिज्ञान के होने पर ही श्रुतज्ञान हो सकता है।

अवधिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मसापेक्ष रूपी द्रव्यों का जो ज्ञान होता है, वह अवधिज्ञान है। अवधि शब्द का अर्थ है—मर्यादा (सीमा)। इस ज्ञान की कतिपय ऐसी मर्यादाए है कि इतने क्षेत्र को देखता हुआ इतने द्रव्यो को, इतने काल को देखता है। इस प्रकार इस ज्ञान मे क्षेत्र, काल और द्रव्यों की परस्पर मर्यादा बधी हुई होने से इसे अवधिज्ञान कहा जाता है अथवा 'अवधानमवधि' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस ज्ञान में साक्षात् अर्थ परिच्छेद (ज्ञान) आत्मा द्वारा होता है, इन्द्रिय, मन के माध्यम से नही, अत' यह अवधि ज्ञान कहा जाता है। जैसा कि भाष्य मे कहा गया है —

तेणावहीयए तस्यिवावहाण तओ वही सो य मज्जाया।
जं तीए दव्वाइ परोप्पर मुणइ तओ अवहित्ति ॥

—विशेष: भाष्य-गाथा ८२

उक्त सीमाओ और मर्यादाओ मे बधे होने के कारण इस प्रकार के ज्ञान को अवधिज्ञान कहते है। केवल रूपी पदार्थों को आत्म सापेक्ष होकर जानना अविधज्ञान की सीमा है। अवधिज्ञान के मुख्य रूप से दो भेद है—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारक को होता है। गुण प्रत्यय अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यञ्च को होता है। जो अवधिज्ञान बिना किसी साधना के जन्म के साथ ही प्रकट होता है वह भवप्रत्यय है। जो साधना विशेष से होता है वह गुणप्रत्यय है।

मनपर्यय ज्ञान —मनुष्य क्षेत्रवर्ती सज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवो के मनोगत भावों को जानने वाला ज्ञान मन पर्यय ज्ञान है। मन एक पौद्गलिक द्रव्य है। जब कोई व्यक्ति किसी विषय-विशेष का चिन्तन करता है तब उसके मन का तदनुसार पर्यायो मे परिणमन होता रहता है। मन पर्यंयज्ञानी मन की इन पर्यायो का साक्षात्कार करता है, उस पर से यह जान सकता है कि अमुक व्यक्ति क्या बात सोच रहा है। मन की पर्यायों को जानने वाला ज्ञान मन.पर्यंयज्ञान है। मनःपर्यय ज्ञान मन की रूपी पर्यायो को ही जान सकता है, भाव मन की अरूपी पर्यायो को नही। यह ज्ञान मनुष्य गति के सिवाय अन्यत्र नही होता। मनुष्यो मे भी केवल सयती मनुष्य को ही होता है। सयतियो में भी सबको नहीं होता केवल अप्रमत्त सयती को ही होता है। उनमे भी ऋद्धि सम्पन्न को ही होता है। इसके मुख्य रूप से दो भेद है—ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति का ज्ञान विशुद्धतर होता है। मन की उन अतिसूक्ष्म रूपी पर्याय को विपुलमति जान सकता है जिनको ऋजुमति नही जान सकता। ऋजुमति मन. पर्यय ज्ञान प्रतिपाति होता है, अर्थात् उत्पन्न होने के पश्चात् चला भी जाता है,

'जबकि विपुलमति मन.पर्यय ज्ञान अप्रतिपाति है—आने के बाद जाता नही अर्थात् चरम शरीरी के लिये केवलज्ञान होने तक बना रहता है। अचरम शरीर के लिये जीवन पर्यन्त बना रहता है।

केवल ज्ञान—जो ज्ञान सब द्रव्यों की सब पर्यायो को जानता है वह केवल-ज्ञान है। इस ज्ञान मे अतीत, अनागत और वर्तमान के अनन्त पदार्थ और प्रत्येक पदार्थ के अनन्त गुण और पर्याय प्रतिक्षण वैसे ही प्रतिबिबित होते रहते है, जैसे दर्पण में वस्तु। यह ज्ञान देश और काल की सीमा बन्धन से मुक्त होकर रूपी-अरुपी समग्र अनन्त पदार्थों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष करता है। यह विशुद्धतम ज्ञान है, इसे अद्वितीय और परिपूर्ण ज्ञान भी कहा जाता है। आगम की भाषा में इसे क्षायिक-ज्ञान कहते है। भाष्य में कहा गया है :—

"केवल मेग सुद्धं सगलमसाहारणं अणन्तं च।"

— विशेषा. भा. गाथा ८४

"केवल" शब्द के अर्थ है—एक शुद्ध सकल, असाधारण और अनन्त। केवल ज्ञान एक है,क्योकि वह इन्द्रियादि की सहायता की अपेक्षा नही रखता अथवा उसके होने पर फिर छावस्थिक अन्य चार ज्ञान नही होते। केवल ज्ञान शुद्ध निर्मल है, क्योंकि समस्त आवरणो के मलकलंक के सर्वथा क्षीण होने पर ही यह प्रकट होता है। केवलज्ञान सकल है—परिपूर्ण है, क्योकि वह सम्पूर्ण ज्ञेय प्रमेयों को जानता है। केवलज्ञान असाधारण है, क्योंकि उसके जैसा अन्य कोई ज्ञान नही है, वह शाश्वत है, अनन्त है, क्योंकि वह अप्रतिपाति होने से सदा बना रहता है, उसका कभी अन्त नही होता।



१३

श्रावक जीवन के कर्तव्य

(पञ्चम दिवस)

व्रत निरूपण :

पाप के प्रवाह को वेग देने वाले आस्रव के द्वारो को बन्द करना नितान्त आवश्यक होता है। इन आस्रव द्वारो को बन्द करने के लिये जो उपाय किये जाते है, वे विरति रूप होने के कारण व्रत कहे जाते है। 'तत्त्वार्थ' सूत्र मे आचार्य उमास्वाति ने व्रत की व्याख्या करते हुए कहा है—

"हिसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्"

—तत्त्वार्थसूत्र अ० ७, सूत्र १

हिसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह रूप पापो से विरत होना व्रत है। पाप-द्वारो को विहित (बन्द) करना अर्थात् पापो का आचरण न करने की प्रतिज्ञा लेना व्रत है। पापो को दोष रूप जानकर उनका परित्याग करना विरति है और वही व्रत है।

सम्यग्दर्शन के प्रकरण में कहा गया है कि धर्म का द्वार सम्यक्त्व की प्राप्ति के साथ ही खुलता है अर्थात् सम्यक्त्व की प्राप्ति होते ही आत्मा उस मार्ग पर आ जाती है, जहा से मोक्ष की मजिल का आरम्भ होता है। सम्यक्त्व की प्राप्ति के पूर्व आत्मा इधर-उधर भटकता रहता है और वह सही मार्ग पर नही पहुँच पाता है। सही मार्ग पर पहुँच जाना ही सम्यक्त्व है। यही मोक्ष का प्रवेश द्वार है, यही से मुक्ति के मार्ग का आरम्भ होता है। इस मार्ग पर आने के पश्चात् आत्मा जैसे-जैसे विरति रूप व्रत के कदम आगे बढाता जाता है, वैसे-वैसे वह मुक्ति की मजिल को सन्निकट करता है। विरति की सर्वोत्कृष्ट परिणति ही मुक्ति है। इसलिये सम्यक्त्व की प्राप्ति के अनन्तर व्रत की भूमिका का प्रारम्भ होता है।

मार्ग पर गति करने वालो की योग्यता और क्षमता एक समान नही होती है। सबकी योग्यता अलग-अलग होती है। चीटी अपनी गति से चलती है और खरगोश अपनी गति से भागता है। कछुए की गति मन्थर होती है, तो मृग छलागे भरता है। इसी प्रकार विरति के मार्ग पर भी सब साधक समान गति से नही चल सकते। आत्माओ के विकास मे तरतमता होती है। इसलिये त्याग-मार्ग

पर चलने वाले साधकों की योग्यता और क्षमता को लक्ष्य में रखकर भूमिकाओं का भेद किया गया है। इस भूमिका के भेद से विरति के मोटे रूप से दो भेद किये गए है।

'तत्त्वार्थ सूत्र' में कहा है—

"देशसर्वतोऽणुमहती" —तत्त्वार्थ सूत्र अ. ७, सूत्र २

अल्प अंश में विरति अणुव्रत और सर्वांश मे विरति महाव्रत है।

श्रावक एव श्रमण दोनों जैन धर्म के पारिभाषिक शब्द है। श्रावक का अर्थ होता है, जो गृहस्थ-जीवन की मर्यादाओ का पालन करता हुआ वीतराग परमात्मा के वचनो मे श्रद्धा—विश्वास रखता है और विवेकपूर्वक धर्माचरण करता है। गृहस्थ जीवन मे रहते हुए श्रावक के लिए सद्गृहस्थ के नियमो का पालन करना अनिवार्य है। जैन धर्म के अनुसार एक श्रावक- सद्गृहस्थ के लिए निम्न नियमो का पालन करना आवश्यक है :—

(१) श्रावक सात कुव्यसन—जुआ, मांस, शराब, वैश्यागमन, पर स्त्री-गमन, शिकार और चोरी का त्यागी होता है।

(२) वह पाँच अणुव्रतो का पालन करता है।

(३) चलते-फिरते किसी भी निरपराध प्राणी को संकल्पपूर्वक नही मारना।

(४) ऐसा झूठ नही बोलना जिससे जनता मे निन्दा का पात्र बनना पड़े और सरकार दण्ड दे।

(५) ताला तोडकर, सेंध आदि लगाकर ऐसी चोरी नहीं करना जिसमें निन्दा हो और सरकार का अपराधी बनना पड़े।

(६) पर स्त्री को माता और बहिन की दृष्टि से देखते हुए स्व स्त्री के साथ भी अधिक से अधिक ब्रह्मचर्य का पालन करना।

(७) अपनी आवश्यकताओ को सीमित रखना व धन आदि का अनावश्यक सग्रह नहीं करना।

(८) परिपूर्ण नैतिक आचरण की भूमिका का निर्वाह करने हेतु खाद्य पदार्थों मे मिलावट आदि नही करना।

इन मूल नियमो के अतिरिक्त श्रावक की साधना पद्धति मे कुछ नियम और होते है।

जैसे—प्रतिदिन कुछ न कुछ आध्यात्मिक चिन्तन एव साधना करना आदि ।

श्रावक के २१ गुण :

'प्रवचन सारोद्धार' मे श्रावक धर्म को अगीकार करने वाले के लिये २१ गुणो को पूर्व भूमिका के रूप मे अगीकार करने का विधान किया गया है। वे इक्कीस गुण इस प्रकार है—

धम्मरयणस्स जोग्गो, अक्खुद्दो रूवव पगईसोम्मो ।
लोयप्पिओ, अकूरो, भीरु असढो सुदक्खिन्नो ।।
लज्जालुओ दयालू, मज्झत्थो सोम्मदिट्ठी गुणरागी ।
सक्कह सपक्ख जुत्तो, सदीह दंसी विसेसन्नू ।।
वुड्ढाणुगो विणीओ, कयण्णुओ परहिअत्थकारी अ ।
तह चेव लद्धलक्खो, एकवीसगणो हवई सड्ढो ।।

—प्रवचन सारोद्धार

(१) अक्षुद्र :—जो तुच्छ प्रकृति का न हो, गम्भीर हो वह श्रावक धर्म का पात्र होता है। गम्भीर होने के कारण वह विरति धर्म को भलीभाँति समझकर उसका यथोचित रूप से पालन कर सकेगा। तुच्छ प्रकृति वाला व्यक्ति धर्म की महत्ता को उपहासादि द्वारा कम करने वाला होता है। अतएव विरति के अभिलाषी व्यक्ति के लिए अक्षुद्र—गम्भीर होना आवश्यक है।

(२) रूपवान '—वैसे तो रूप का सम्बन्ध धर्म के साथ अविनाभावी नही है, क्योकि हरिकेशी आदि कु रूप होते हुए भी आदर्श सयमी हुए है तथापि रूप से यहा "परिपूर्ण अग वाला" अर्थ भी अपेक्षित है। इस अर्थ की दृष्टि से हरिकेशी परिपूर्ण अग वाले तो थे ही। सुन्दर रूप का होना भी अपेक्षित बात है। अत: सामान्य रूप से रूपवान का अर्थ इतना ही है कि वह वीभत्स और घृणा उत्पन्न करने वाला न हो। जो व्यक्ति सुन्दर आकृति वाला होता है वह यदि विरति धर्म को अगीकार करता है तो वह विशेष प्रभाव जनमानस पर छोडता है, यह अनुभव सिद्ध बात है।

(३) सौम्य प्रकृति वाला —जो शान्त स्वभाव वाला हो। जिसकी वृत्ति मे सौम्य भाव होता है, उसकी झलक आकृति पर भी आ ही जाती है। सौम्य मुखाकृति वाला और सौम्य स्वभाव वाला सहसा पाप-व्यापार मे निश्शक प्रवृत्ति नही करता। उसके आचरण मे उग्रता नही होती। उग्र स्वभाव वाला व्यक्ति प्राय जल्दी पाप-व्यापार मे प्रवृत्त हो जाता है। अत धर्माभिलाषी के लिये प्रकृति की सौम्यता होना जरूरी है।

(४) लोकप्रिय :—अपने सद्गुणो के कारण जो व्यक्ति जनता का प्रिय और विश्वसनीय होता है वह धर्म के लिए पात्र माना गया है। जो व्यक्ति परलोक में अविरुद्ध तथा लौकिक परमार्थ का कार्य करता है वह सबका प्रीतिपात्र बन जाता है। ऐसे लोकप्रिय व्यक्ति का धर्माचरण सामान्य जनमानस पर अच्छा प्रकाश डालता है।

(५) अक्रूर :—क्लिष्ट अध्यवसाय वाला व्यक्ति धर्माधिकारी नही हो सकता। छिद्रान्वेषी, लम्पट, कलुषितचित्त वाला व्यक्ति बाह्य धर्मक्रिया करता हुआ भी उसका फल प्राप्त नही कर सकता। इसलिये क्रूरता को छोडकर कोमल स्वभाव को धारण करने वाला व्यक्ति ही धर्म का पात्र होता है।

(६) भीरु :—इहलौकिक और पारलौकिक पापो से डरने वाला हो।

(७) अशठ :—वन्चकता रहित हो। वन्चक व्यक्ति प्रपच करने मे चतुर होने से लोगो का अविश्वसनीय बन जाता है। अतएव कपट से रहित होकर प्रामाणिकतापूर्वक सद्व्यवहार करने वाले अशठ व्यक्ति को धर्माधिकारी बताया गया है।

(८) दाक्षिण्य युक्त :—अपना काम छोडकर भी दूसरे का काम करने वाला उपकारपरायण व्यक्ति दाक्षिण्य युक्त होता है। ऐसा परोपकारी व्यक्ति किसके लिए अनुकरणीय नही होता ?

(९) लज्जालु :—जो पापाचार से लज्जित होता हो अर्थात् पापाचार या दुराचार से शर्म का अनुभव करता हो।

(१०) दयालु :—दुखियो के दुःख को देखकर जो द्रवित हो जाता हो और उन्हे दूर करने का यत्न करता हो।

(११) मध्यस्थ :—जो सबके लिए समान रूप से विश्वसनीय हो अर्थात् जो न किसी का पक्षपाती हो और न किसी का द्वेषी हो। तटस्थ भाव से व्यवहार करने वाला व्यक्ति निष्पक्ष होकर सोच-विचार कर सकता है।

(१२) सौम्य दृष्टि :—जिनकी आँखो से निर्मल स्नेह टपकता हो। जिनका हृदय शुद्ध और गुणग्राही होता है, उसकी आँखों मे स्नेह भरा होता है। दुष्ट प्रकृति के लोगो के नेत्रों से, चेहरे से क्रूरता टपकती है। क्रूर दृष्टि वाला व्यक्ति धर्म को छू भी नही सकता।

(१३) गुणानुरागी :—गुण और गुणवानो के प्रति आदर और प्रमोद भाव रखने वाला हो।

(१४) सत्यकथक :—धर्म और सदाचार की बातें करने वाला हो, अथवा धर्म कथा सुनने मे रुचि रखने वाला हो, अथवा सुपक्ष युक्त हो, सत्य का पक्ष लेने वाला हो अथवा जिसका परिवार धर्म मे बाधक न हो। ऐसा व्यक्ति उन्मार्ग में गमन नही करता हुआ सन्मार्ग में ही प्राय: प्रवृत्त होता है।

कोई-कोई सत्यकथक और सुपक्ष युक्त को अलग-अलग गुण मानते है। उनके मतानुसार मध्यस्थ और सौम्य दृष्टि मे से कोई एक गुण माना जाता है।

(१५) सुदीर्घदर्शी :– विचारपूर्वक कार्य करने वाला प्रत्येक कार्य को दीर्घदृष्टि में सोच-विचार करने वाला, सहसा कोई काम न करने वाला हो। सहसा काम करने से बहुत ही अनिष्ट हो जाने की सभावना रहती है। जो विचारपूर्वक काम करता हो वह धर्म का योग्य अधिकारी है।

(१६) विशेषज्ञ :—हिताहित में विवेक करने वाला हो। गुण-दोष के अन्तर को समझने वाला हो।

(१७) वृद्धानुग :—ज्ञान वृद्ध और अनुभव वृद्ध पुरुषो का अनुसरण करने वाला हो, ऐसा व्यक्ति प्राय: विपत्ति का भागी नही होता।

(१८) विनीत —गुरुजनों और पूज्य पुरुषो का विनय करने वाला हो।

(१९) कृतज्ञ :—उपकारी के उपकार को मानने वाला हो।

(२०) परहितकारी :—दूसरों का हित करने मे तत्पर हो, सुदाक्षिण्य से कहने या प्रार्थना करने पर परहित करने वाला अर्थ अभिप्रेत है, जबकि इसमे स्वयमेव परहित में प्रवृत्ति करने का स्वभाव अन्तर्निहित है। यही दोनो मे अन्तर समझना चाहिए।

(२१) लब्धलक्ष्य :—जो धर्म क्रियाओ का अच्छा अभ्यासी हो अर्थात् धर्म के पूर्व सस्कारों के कारण जो धर्मानुष्ठानो को शीघ्र ही समझ कर अपना लेता हो।

इन गुणों को अपनाने के पश्चात् ही देश विरति या सर्वविरति की योग्यता आती है।

श्रावक और व्यवसाय :

गृहस्थ अवस्था में रहते हुए प्रत्येक श्रावक को अपना, अपने परिवार तथा अपने आश्रितो का पालन-पोषण करने एवं उनका निर्वाह करने के लिए कुछ न कुछ उद्योग, व्यवसाय, धंधा या नौकरी अथवा कार्य करना ही पडता है। जीविकोपार्जन करना गृहस्थ का महत्त्वपूर्ण दायित्व है। इसके विना उसका

गृहस्थ जीवन चल नही सकता। जीवन-निर्वाह की बुनियादी चीजों की पूर्ति होने के पश्चात् ही मानव को धर्म-कर्म, भक्ति, कला, साहित्य या संस्कृति आदि के सम्बन्ध मे विचार करने का अवसर मिलता है। भूखे आदमी के लिए धर्म-कर्मादि कोई महत्त्व नही रखते। भूख के समान कोई दूसरी वेदना नही है। क्षुधा का परिषह प्रथम और मुख्य परिषह माना गया है। भूख से पीड़ित व्यक्ति कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विचार नही करता। भूखा आदमी क्या पाप नहीं करता ? भूखे को पहले भोजन चाहिये, भजन नही। कहा है :—

बुभुक्षितैर्व्याकरण न भुज्यते, पिपाक्षितै. काव्यरसो न पीयते।

एक आदमी भूखा है, ऐसी स्थिति में व्याकरण से उसका पेट नही भरेगा। प्यासा व्यक्ति काव्यरस से अपनी प्यास नही बुझा सकता। उन्हे तो भोजन और पानी चाहिये। भूख से व्याकुलो पर क्या गुजरती है, यह भुक्तभोगी ही जान सकते है। अतएव मनुष्यो की क्षुधा को शान्त करने के लिए विविध प्रकार के उपायो का आविष्कार और उनका परिष्कार किया गया है। युगलिक काल मे कल्पवृक्षो से सब प्रकार की आवश्यकताओ की पूर्ति हो जाया करती थी, अतएव मनुष्य-समाज के सामने जीवन-निर्वाह की कोई समस्या नही थी। परन्तु जब काल स्वभाव से कल्पवृक्षों ने फल देना बन्द कर दिया तो मानव-समाज के सामने जीवन-निर्वाह की कठिनतम समस्या उत्पन्न हो गई। मानव जाति के महान् सौभाग्य से आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने तत्कालीन मानव समाज को जीवन निर्वाह की रीतियाँ, नीतियाँ और विधियाँ बताई। उन्होने करुणा से आप्लावित होकर जन समुदाय को कृषि, मसि और असि की शिक्षा दी, कलाएँ सिखाई, समाज-व्यवस्था स्थापित की और अन्त मे धर्म प्ररूपित कर मोक्षमार्ग की स्थापना की। अत्यन्त ऋणी है मानव-जाति उन आदिनाथ भगवान की।

जीवन की बुनियादी अन्न-वस्त्रादि सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु गृहस्थ श्रावक को जीविकोपार्जन का कोई उपाय अपनाना पडता है। व्यवसाय या नौकरी का अवलम्बन उसे लेना पडता है। परन्तु विवेकवान् श्रावक अपने व्यवसाय या जीविकोपार्जन के साधनों को अपनाने के पूर्व इस बात का पूरा ध्यान रखता है कि वह जीविकोपार्जन का साधन सात्विक हो, अल्पारम्भी हो, किसी अन्य का शोषण करने वाला न हो। विवेकी श्रावक ऐसा व्यवसाय या धंधा नही करता जो महारम्भी हो, जिसमे बहुत अधिक स्थूल हिंसा होती हो, जो नीति सम्मत न हो, जो राष्ट्र या समाज-विरोधी हो। श्रावक जो भी व्यवसाय या धधा करेगा, उसे बहुत ही विवेकपूर्वक सावधानी से करेगा। फिर भी लाचारवश कही स्थूल हिंसा हो जाय तो वह उद्योगी हिंसा है, और उससे श्रावक का अहिंसा व्रत भग नही होता है।

उद्योगी हिंसा का यह मतलब नही है कि श्रावक चाहे जो धंधा करने को स्वतन्त्र हो गया हो। श्रावक वह व्यवसाय तो कदापि नहीं कर सकता

अनैतिक हो, त्रस जीवो के वध से निष्पन्न हुई चीजो का हो, देश और समाज के लिए हानिकारक हो। वह ऐसे उद्योग-व्यवसाय तो कतई नही करेगा जिनमे प्रत्यक्ष ही स्थूल हिसा होती हो—जैसे मास, मछली, अडे, मुर्गी, खाल, चमडा, हड्डी, कसाईखाना, शरावखाना, नशीली चीजो का उद्योग या व्यापार।

पन्द्रह कर्मादान :

भगवान महावीर ने श्रावक के लिये कुछ व्यवसायो को कर्मादान मे परिगणित किया है और उन्हे श्रावक के लिये सर्वथा त्याज्य वताया है। कर्मादान सज्ञक व्यवसाय इसलिये श्रावक के लिये सर्वथा वर्जनीय है कि उनमें त्रस जीवो की प्राय: जान-बूझकर हिसा होती है, स्थावर जीवो का भी प्रचुर प्रमाण मे घमासान होता है, नैतिक दृष्टि से भी इनमें से अनेक व्यवसाय अत्यन्त घृणित एव अनाचरणीय है। राष्ट्र एव समाज की दृष्टि से भी कई व्यवसाय घातक है। कई व्यवसायो में गरीबो का अत्यधिक शोषण और उत्पीडन होता है। वे पन्द्रह प्रकार के कर्मादान (व्यवसाय) इस प्रकार है :—

१. इंगाल कम्मे (अगार कर्म) :—बडे-बडे जगलो को जलाकर लकड़ियो से कोयला बनाकर, उन्हे बेचने का व्यवसाय करना।

२. वण कम्मे (वन कर्म) बड़े-बड़े जगलों का ठेका लेकर लकड़ियाँ कटवाने एवं बेचने का धधा करना।

३ साडी कम्मे (शकट कर्म) :—गाडी-गाडे आदि बनाने-बेचने का व्यवसाय करना।

४. भाडी कम्मे (भाटक कर्म) :—ऊँट, घोड़ा, बैल, गधा, खच्चर आदि पशुओ पर अति बोझ लादकर उनसे किराया कमाना।

५. फोडी कम्मे (स्फोट कर्म) :—पत्थर आदि फोड़ने व खान आदि खोदने के लिए सुरग बिछाकर बारूद से फोड़ना।

६. दंत वाणिज्जे (दन्त वाणिज्य) :—हाथी वगैरह के दाँत, नख, केश, चमड़ी, गाय के बाल, खाल आदि त्रस जीवो के अगो को बेचने का व्यापार करना।

७ लक्ख वाणिज्जे (लाक्षा वाणिज्य) :—लाख, पेन्सिल, आदि का व्यापार करना।

८. रस वाणिज्जे (रस वाणिज्य) :—मदिरा, मधु, चर्वी आदि वेचने का व्यवसाय करना।

९. केस वाणिज्जे (केश वाणिज्य) —केशवाली दासियो तथा अन्य द्विपद, चतुष्पद, पशु-पक्षी वेचने का व्यवसाय करना।

१०. विस वाणिज्जे (विष वाणिज्य) :—विष, शस्त्र आदि प्राणघातक वस्तुओं को बेचने का व्यापार करना ।

११. जतपीलन कम्मे (यत्र पीडन कर्म) :—बड़े-बडे यंत्रों से तिल, गन्ना आदि पीलने का व्यवसाय करना ।

१२. णिलछ्छण कम्मे (निलांछन कर्म) :—जानवरों को बधिया करना, दाग देना, नाक बींधना आदि अंग छेदन का व्यवसाय करना ।

१३. असइजण पोसणया कम्मे (असतीपोषण कर्म) :—कुलटा स्त्रियों को रखकर उनके द्वारा धन कमाना ।

१४. दवाग्गिदावणया कम्मे (दवदाव कर्म) :—जंगल में आग लगाकर उन्हे जलाने का व्यवसाय करना ।

१५. सरदहतलाय सोसणया कम्मे (सरद्रहतडाग शोषण कर्म) :—तालाब, झील, सरोवर आदि को सुखाने का धंधा करना ।

उक्त १५ कर्मादान (पाप कर्म के स्रोत) विशेष हिसाकारी एवं महारम्भिक धधे है, अतएव श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है । विवेकी श्रावक को कदापि इन कर्मादानो का सेवन (व्यवसाय) नही करना चाहिये ।

जीवन मे छोटी-बडी हिसा तो अपरिहार्य है, आजीविका के क्षेत्र मे भी उससे पूरी तरह बचा नही जा सकता । फिर भी उद्योग-धंधों मे विवेक होना चाहिए अन्यथा अविवेक के कारण उद्योगिनी हिसा भी महारम्भी बन सकती है । शास्त्र मे महारम्भ को नरक का द्वार बताया गया है, अतएव श्रावक को अपनी आजीविका का निर्धारण एव निर्वाह इस प्रकार विवेक की तराजू पर तोल कर करना चाहिये, जिसमें महारम्भ न हो । जो व्यवसाय अल्पारंभ वाला हो, जो समाज या देश के लिए अहितकर न हो, जिसमे दूसरो का शोषण न होता हो, ऐसा सात्विक व्यवसाय जीवन-निर्वाह हेतु एवं समाज सेवार्थ करना श्रावक के लिए उचित है । महारंभी धधे जिनमे त्रसादि स्थूल जीवो की प्रचुर एव प्रत्यक्ष हिसा होती हो, जो दुर्व्यसनो के प्रेरक हों, जो समाज या देश के लिए घातक हों, जो अनैतिक हो, ऐसे धंधों से श्रावक को दूर रहना चाहिये ।

व्यवसाय का उद्देश्य :

श्रावक के व्यवसाय का उद्देश्य जीवन-निर्वाह मात्र होता है । अपना और अपने आश्रित रहे हुए परिवार आदि का भरण-पोषण एवं योग-क्षेम करना श्रावक का दायित्व होता है । इस दायित्व के निर्वाह हेतु वह व्यवसाय करता है, न कि धन की लोलुपता के कारण । जिन व्यवसाय में से जीवन-निर्वाह का उद्देश्य निकल जाता है और धनोपार्जन की लोलुपता तथा [illegible]

हो जाता है वहाँ व्यवसाय की शुद्धि नही रह सकती। धन की लोलुपता व्यवसाय को अप्रामाणिक, अनैतिक एव पापमय बना देती है। व्यवसाय मे घुसी हुई अधिक मुनाफाखोरी, संग्रहखोरी, कालाबाजारी, बेईमानी, धोखाधड़ी, शोषणवृत्ति आदि बुराइयाँ धनलोलुपता का परिणाम है। यह धारणा अत्यन्त भ्रमपूर्ण है कि बेईमानी या झूठ के बिना पेट नही भरता या व्यापार मे सब कुछ चलता है। सात्विक व्यवसाय से आसानी से पेट भरा जा सकता है, हाँ, पेटी या तिजोरी नही भरी जा सकती। श्रावक को अल्पारभ वाला सात्विक व्यवसाय ईमानदारी के साथ प्रामाणिकतापूर्वक, समाजसेवा की भावना रखते हुए करना चाहिये।

क्या सट्टा-जुआ या ब्याज अहिंसक व्यवसाय है ? :

व्यवसाय के सम्बन्ध मे लोगो मे कई प्रकार की भ्रान्त और गलत धारणाये घर किये हुए है। साधारण लोगो की दृष्टि ऊपरी सतह की चीज ही देख पाती है, जबकि शास्त्रकार और तत्त्वदर्शी, महोपकारी महापुरुष सूक्ष्मदर्शी, दूरदर्शी और गहराई मे उतर कर पाये हुए सत्य को प्रकट करने वाले होते है। उन सभी तत्त्वचिन्तको और मनीषियो ने अपने सूक्ष्म चिन्तन से यह जाना और प्रतिपादित किया है कि जुआ-सट्टा-ब्याज मे भले ही ऊपर-ऊपर से जीव हिसा होती हुई न दिखाई दे, परतु उसके अदर भयकर और घोर महाहिसा के बीज रहे हुए है, जो समय पाकर अत्यन्त घातक रूप मे सामने आते है। छोटे-से वट के बीज को देखकर यह कल्पना नही की जा सकती कि कालान्तर मे यह विशाल वट-वृक्ष का रूप लेगा, किन्तु यह एक सत्य है। इसी तरह सट्टे-जुए में भले ही हिसा बीज जैसी छोटी नजर आती हो, परन्तु वह छोटी नही है। वह समय पाकर वट वृक्ष की तरह विशाल रूप धारण कर लेती है और अत्यन्त विकराल रूप मे सामने आती है। इसलिए शास्त्रकार और नीतिकार ने इन व्यवसायो की निन्दा की है। ये व्यवसाय अल्पारभी नही, महारभी है। यद्यपि इनमे बाहर से कोई हिसा दिखाई नही देती, मगर अन्दर हिसा का गहरा दाग है, जो दूर-दूर तक न जाने कितने परिवारो को उजाड देता है। नीतिकारो ने जो सात दुर्व्यसन बताये है उनमे जुआ-सट्टा प्रथम है। जुआरियो और सटोरियो का अन्त करण सक्लेशमय और सदा व्याकुल रहता है। इस व्यवसाय के कारण समाज मे और व्यक्ति के जीवन मे अनेक बुराइयाँ प्रवेश कर जाती है, जिनका परिणाम बहुत ही भयकर रूप मे सामने आता है।

यह कहना कि सट्टे-जुए के धंधे में जीव हिसा नही होती, भयंकर अज्ञान है। इस धधे मे इतनी अधिक भयकर हिसा होती है, जिसका वर्णन नही हो सकता। यह धंधा हजारो परिवारो और उनके लाखो सदस्यो को तबाही मे डालकर उनकी पद-पद पर हिसा कर रहा है। सट्टे-जुए मे हारे हुए अनेक व्यक्ति आत्महत्या करने के लिए विवश हुए है। सटोरियो और जुआरियो के बच्चे और

औरते बड़ी मुसीवतो में फँसे रहते है। उनकी बड़ी दुर्दशा होती है। क्या यह कम भयकर हिंसा है? हजारो परिवारों की दुर्दशा और तवाही का कारण यह जुए-सट्टे का दुर्व्यसन है। उसमे जीव हिंसा न होने की बात करना मानो अग्नि को शीतल वताना है।

जुआ और सट्टे की आमदनी भी अनर्थकारी है और नुकसानी भी, अनिष्ट पैदा करने वाली होती है। दोनों स्थितियाँ अनर्थों को जन्म देती है, अतएव यह दुधारी तलवार की तरह भयंकर और घातक है। जब कोई व्यक्ति सट्टा-जुआ मे कमाता है तब वह उस प्राप्त धनराशि को मौज-शौक में उड़ा देता है, ऐशो-आराम मे खर्च कर डालता है, वह राशि उसे अनायास विना पसीना वहाये, मुफ्त ही प्राप्त होती है, अतएव वह उसे खर्च करने मे लापरवाह वन जाता है। उस मुफ्त की कमाई के साथ अनेक दुर्व्यसन भी आ जाते है, अनेक अनैतिक कार्यों और दुराचारो का वह शिकार वन जाता है। वह अनीति और मुफ्त की कमाई उसकी वुद्धि को विकृत वना देती है, और विकृत वुद्धि अनेक वुराइयो को आमन्त्रित करती है। वह कमाई अधिक दिनों तक नही टिकती और फिर परेशानियो का सामना करना पडता है। सट्टे-जुए की कमाई विलासिता को वढावा देती है और धर्म-धन की हानि करती है। अतएव सट्टे-जुए की कमाई को भी नीतिकारो ने अनर्थकारी वताया है। सट्टे-जुए मे होने वाली हानि इतनी अनिष्टकारी होती है कि अनेक वार व्यक्ति, आत्महत्या तक कर डालता है। ऐसे सैंकडों उदाहरण सुने जाते है। जुए-सट्टे के धंधे मे लागत पूँजी की विशेष आवश्यकता न होने से अमर्यादित नफा-नुकसान हो जाता है। उस परिस्थिति मे होश-हवास उड़ जाते है और व्यक्ति आर्तध्यान से ग्रस्त हो जाता है। आर्तध्यान मानसिक हिंसा का स्रोत है।

एक प्रसिद्ध संत ने उल्लेख किया है कि उनके पास एक व्यक्ति आया और कहने लगा—"महाराज! अव तक मै खेती का धधा करता था। वड़ा दुःखी था। उस महारंभ के कारण फ़ुर्सत भी नही मिलती थी। अव चाँदी का सट्टा करता हूँ। कोई झझट नही है। जमीनें वेच दी है। काफी समय मिलता है और वड़े मजे मे हूँ।" दो महीने वाद वही गृहस्थ एक दिन उस सत के पास उदास होकर आया और वोला "महाराज! सव खो दिया। सारी पूँजी चली गई। किसी काम का नही रहा।"

इस उल्लेख से आँखे खुल जानी चाहिए और समझ लेना चाहिये कि सट्टा-जुआ कितना घातक और अनर्थकारी है।

सही अर्थों मे सट्टा-जुआ कोई व्यवसाय नही है, अपितु एक सामाजिक और राष्ट्रीय अपराध है। इस व्यवसाय मे कुछ उत्पादन नही होता है, अपितु धन की हेराफेरी मात्र होती है। पैसा एक की जेव से निकलकर दूसरे की जेव

में चला जाता है। नया कुछ पैदा नही होता है और खर्च तो होता है। इस तरह यह अनुत्पादक व्यवसाय समाज और राष्ट्र के लिए अहितकर और हानिकारक है। इसलिये सरकार भी इसे अपराध मानती है। समाज का, राष्ट्र का कोई व्यक्ति यदि अपने श्रम से कुछ उत्पादन नही करता या कोई समाज-देश के लिए हितकारी प्रवृत्ति नही करता तो वह देश या समाज के लिए भारभूत होता है। इसलिए नैतिक, धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, पारिवारिक और वैयक्तिक सभी दृष्टियो से सट्टा-जुआ, ब्याज का व्यवसाय वर्जनीय और त्याज्य है।

ब्याज का व्यवसाय शोषण-वृत्ति का प्रतीक है। ब्याजखोर व्यक्ति गरीब लोगों की मजबूरी का लाभ उठाकर बहुत ऊँचे दर का ब्याज वसूलता है। ब्याजखोर की मानवीय दया समाप्त हो जाती है, उसका दिल कठोर हो जाता है। ब्याजखोर मे धन की लालसा तीव्र हो उठती है। प्रायः गरीब लोग ही ऊँचे ब्याज के शिकार होते है। जिनके पास पहले ही अर्थ की तंगी है उनसे अधिक ब्याज वसूलना निर्दयता और कठोरता नही तो और क्या है ? सूदखोरी के कारण दिल बहुत छोटा और कठोर बन जाता है। इसलिए ब्याज की जीविका शोषण और कठोरता की सूचक है। ब्याज की आमदनी पसीने की कमाई नही है। वह एक प्रकार की मुफ्तखोरी है। ब्याज से भी नवीन कुछ उत्पादन नही होता है, अतएव राष्ट्रीय दृष्टि से वह कोई व्यवसाय नही है, अपितु सग्रहखोरी का पुरस्कार मात्र है।

निष्कर्ष यह है कि जुआ-सट्टा या ब्याज का व्यवसाय द्रव्य हिसाजनक न होते हुए भी भाव हिसाजनक है। इनमे दूसरे को इरादापूर्वक चूसने की वृत्ति होती है, इसलिये श्रावक को ऐसे निन्द्य व्यवसाय नही करने चाहिये।



श्रावक के पाँच अणुव्रत

१४

[षष्ठ दिवस]

विरति स्थूलहिसादे द्विविध त्रिविधा दिना,
अहिंसादीनि पञ्चाणु व्रतानि जगदुर्जिनाः ।

— योगशास्त्र, द्वितीय प्रकाश

दो करण तीन योग से स्थूल हिसा आदि पाँच दोषों से विरति करना अहिसादि पाँच अणुव्रत है—ऐसा जिनेश्वर देवो ने कहा है ।

श्रावक के पांच अणुव्रत इस प्रकार है :—१ स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत, २. स्थूल मृषावाद विरमण व्रत, ३. स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत, ४. स्थूल मैथुन विरमण व्रत और ५. परिग्रह परिमाण व्रत ।

जो सम्पूर्ण अहिसा का अभिलाषी होता है वह किसी भी प्रकार की हिसा नही करता । वह न तो स्थावर जीवों की हिसा करता है और न त्रस जीवो को । वह न सकल्पजा हिसा करता है और न आरभजा । वह न सापराधी की हिसा करता है, न निरपराध की । वह न सकारण हिसा करता है न निष्कारण ही । अर्थात् वह सम्पूर्ण हिसा का तीन करण, तीन योग से त्याग करता है । वह मन, वचन, काया से न स्वय किसी प्रकार की हिसा करता है, न दूसरों से कराता है और न किसी प्रकार की हिसा का अनुमोदन ही करता है । ऐसा सर्वांश से हिसा का त्याग सर्वविरत महाव्रतधारी अनगार होता है । परन्तु गृहस्थ श्रावक इस प्रकार सम्पूर्ण हिसा का त्याग नही कर सकता । अतएव गृहस्थ के हिसा-त्याग की कुछ मर्यादाए है, जो उक्त श्लोक मे बताई गई है ।

गृहस्थ श्रावक केवल त्रस जीवो की हिसा न करने की प्रतिज्ञा करता है । स्थावर जीवो की हिसा से वह विरत नही होता । जीवन-निर्वाह के लिए तथा कुटुम्ब-पालन के लिये उसे पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पति काय का विविध रीति से उपभोग और उपयोग करना [illegible] जिनमे इन स्थावर जीवो की हिसा अनिवार्य हो जाती है । जीवन-नि[illegible] [illegible] खेती आदि कार्य मे, भोजन बनाने मे, तथा अन्य अनेक प्रयोजनो [illegible] [illegible] का आरम्भ होता है । उनमे पूरी तरह बचना गृहस्थ के लिये [illegible] इसलिए वह अपने व्रत मे स्थावर जीवो की हिसा को सयुक्त न

त्रस जीवो की हिसा न करने की प्रतिज्ञा करता है। यद्यपि वह स्थावर जीवो की भी रक्षा करना चाहता है, परन्तु व्यवहार मे उसे नही उतार पाता है।

त्रस जीवों की रक्षा करने और हिसा न करने की भावना होते हुए भी कृषि कर्म करते हुए, भूमि खोदते हुए, जल को उलीचते हुए, सीचते हुए, अग्नि जलाते हुए, बुझाते हुए, झाडते-बुहारते हुए, वनस्पति को उखाड़ते हुए, रोपते हुए, मकान बनाते हुए, व्यापार-व्यवसाय के अनेक कार्यो मे अनायास ही त्रस जीवों की घात हो जाती है। इस प्रकार की हिसा आरम्भ जन्य हिसा कहलाती है। श्रावक इस प्रकार की आरभजा हिसा का त्याग करने मे समर्थ नही होता। अतएव वह अपने व्रत मे ऐसी हिसा की छूट रखता है। केवल सकल्प करके जान-बूझकर मारने की बुद्धि से मारने का त्याग करता है। यद्यपि श्रावक के इस अणुव्रत मे आरभजा हिसा का त्याग नही है तथापि उसे इस बात की पूरी यथा-शक्य सावधानी रखनी होती है कि अकारण त्रस जीवो की हिसा न हो जाय। अर्थात् सावधानी और विवेक रखते हुए जितनी त्रस जीवो की हिसा बचाई जा सके उतनी हिसा से बचना चाहिये। सावधानी रखने पर भी ऐसी हिसा हो जाती है तो श्रावक के व्रत मे बाधा नही आती, क्योकि वह सकल्पजा हिसा का त्यागी है, आरभजा हिसा का नही।

व्रतधारी श्रावक को प्रत्येक कार्य मे विवेक को प्रधानता देनी चाहिये। विवेक के द्वारा वह घर-बार और गृहस्थी मे रहता हुआ भी बहुत से आरम्भ (हिसा) से बच सकता है। दैनिक उपयोग मे आने वाली वस्तुओ को यदि ध्यान पूर्वक देख लिया जाय तो भी कई जीवो की रक्षा हो सकती है। भोजन बनाना गृहस्थ जीवन की एक दैनिक क्रिया है। इसमे अग्नि जलानी होती है। लकड़ी और कडो मे बहुत से त्रस जीव होते है। यदि सावधानी न रखी जाय तो वे भी आग मे जल जाते है। धान्य और दालो मे तथा मसालों मे भी जीवो की उत्पत्ति हो जाती है, अतएव यदि बिना देखे उन्हे काम मे लिया जाता है तो उन जीवों की हिसा हो जाती है। वस्तुओ को असावधानी से लेने-उठाने या रखने मे भी त्रस जीवो की हिसा हो जाती है। अनछने पानी को काम मे लेने मे अथवा छानने के बाद भी गलने मे रहे हुए त्रस जीवों की यतना न करने से उनकी हिसा हो जाती है। इस प्रकार अविवेक के कारण बहुत से त्रस जीवो की हिसा गृहस्थाश्रमी द्वारा की जाती है। विवेक मे धर्म बताया है। आगम सूक्त है— "विवेगे धम्म माहिये"। अहिसा के आराधक को प्रत्येक कार्य मे विवेक रखना चाहिये।

सकल्पजा हिसा वह है जो जीवो को जान-बूझकर मारने की भावना से की जाती है। अणुव्रतधारी श्रावक ऐसी संकल्पजा हिसा का त्याग करता है।

सकल्पजा हिसा भी दो प्रकार की है—सापराध जीवो की हिंसा और

निरपराध जीवो की हिसा । श्रावक निरपराध जीवों की साकल्पिक हिसा का त्यागी होता है । सापराध जीवों की हिसा का वह त्यागी नही होता । क्योंकि गृहस्थ पर कई प्रकार के कौटुम्बिक और सामाजिक दायित्व होते है । उस पर अपने स्वय की रक्षा तथा कुटुम्ब की रक्षा का भार होता है । उस कर्तव्य को निभाने के लिये उसे हिसा करनी पडती है । आततताइयो, लुटेरो, गुण्डों और असामाजिक तत्त्वों से स्वयं को और अपने परिवार को बचाना गृहस्थ का प्राथमिक और नैतिक कर्त्तव्य होता है । उसके निर्वाह के लिए श्रावक को विवश होकर हिसा का सहारा लेना पडता है, अतएव वह अपने व्रत मे सापराध को दण्ड देने की छूट रखता है । कोई न्यायाधीश अपराधी को सजा देता है, पुलिस आदि रक्षाधिकारी जन-सुरक्षा के लिये अपराधियों के प्रति कठोर व्यवहार करता है, कोई सत्ताधीश अपने देश की सुरक्षा के लिये आक्रमणकारो पर सुरक्षात्मक कार्यवाही करता है—युद्ध लड़ता है तो वह सापराध हिसा है । ऐसा करने से उसके अहिसाणुव्रत मे बाधा नही आती है । गृहस्थ निरपराध त्रस जीवो को मारने की बुद्धि से मारने का प्रत्याख्यान करता है । अत. वह निरपराध सकल्पजा हिसा का त्यागी होता है, सापराध की हिसा का त्यागी नही । कर्त्तव्य निर्वाह की दृष्टि से और विवशता से वह प्रतिकारात्मक कार्यवाही करने की छूट रखता है ।

निरपराध सकल्पजा हिसा के भी दो भेद है—सापेक्ष और निरपेक्ष, जो निरपराध सकल्पजा हिसा किसी प्रयोजन विशेष को लेकर की जाती है, वह सापेक्ष हिसा है । गृहस्थ सापेक्ष हिसा का त्यागी नही होता । जो हिसा निष्प्रयोजन केवल मनोरजन और विलासिता के लिये की जाती है वह निरपेक्ष हिसा है । तात्पर्य यह हुआ कि स्थूल प्राणातिपात विमरण व्रत का आराधक निरपराध त्रस जीवों को बिना किसी प्रयोजन के मारने की बुद्धि से मारने का त्यागी होता है । जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है .—

> पगुकुष्टि कुणित्वादि दृष्ट्वा हिसा फल सुधीः ।
> निरागस्त्रस जन्तूना हिसां सकल्पनस्त्यजेत ।।

पगुपन, कोढीपन और कुणित्व (टोटापन) आदि हिसा के फलो को जानकर विवेकवान पुरुष कम से कम मारने की बुद्धि मे निरपराध त्रस जीवो की सकल्पी हिसा का त्याग करे ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि श्रावक स्थूल हिसा का त्याग करते समय संकल्पी हिसा का त्याग करता है । वह बिना प्रयोजन निरपराधी को मारने की बुद्धि से मारने का त्याग करता है । मान लीजिये कोई किसान श्रावक खेती का काम करता है । उसमे कई कीड़े-मकोडे-चीटी आदि त्रस जीव भी मर जाते है परन्तु यह सकल्पी हिसा नही है, क्योंकि अगर उसे कोई कहे कि इ-

चीटी है, इसे मार दो, मै तुम्हे हजार रुपये दूंगा तो वह किसान श्रावक उसे कदापि नही मारेगा क्योंकि मारने के सकल्प से अगर वह एक भी स्थूल जीव को मारता है, सताता है, पीडा देता है तो वह सकल्पी हिसा हो जाती है। श्रावक ऐसी संकल्पी हिसा का त्यागी होता है। शिकार आदि के लिए निर्दोष, निरपराध पशु-पक्षियो को मारना सकल्पी हिसा है। श्रावक उसका त्यागी होता है।

लौकिक दृष्टि से भी संकल्पी हिसा को अधिक दण्डनीय अपराध माना जाता है। मान लीजिये एक व्यक्ति निशाना लगाना सीखने के लिये गोली चलाता है, सयोगवश उस गोली से कोई आदमी मर जाता है तो यह गोली चलाने वाले का अपराध तो है, वह दण्ड का पात्र है, लेकिन ऐसा दण्ड पात्र नही जैसा कि मारने के इरादे से गोली चलाने वाला। जान-बूझकर इरादापूर्वक किसी की हत्या करने वाला अधिक दण्ड का भागी होती है। बिना इरादे से या आत्म रक्षार्थ की गई हत्या का दण्ड उतना अधिक नही होता जितना जान-बूझकर की गई हत्या का होता है। अतः संकल्पी हिसा महा हिसा है। बडी हिसा है। श्रावक उसका त्यागी होता है।

श्रावक की अहिंसा सवा बिस्वा

एक काल्पनिक गणित के अनुसार श्रावक की अहिसा को सवा बिस्वा माना गया है। सर्वांश मे हिंसा का त्याग करने वाले अनगारो की अहिसा को बीस बिस्वा माना गया है। बिस्वा एक भूमि का नाप है, जो बीघा का बीसवा हिस्सा है। बीस बिस्वा पूर्णता का वाचक है। अनगारो की अहिसा पूर्ण अहिसा है, अतएव उसे बीस बिस्वा माना गया है। अनगार की बीस बिस्वा दया के अनुपात मे श्रावक की दया सवा बिस्वा होती है, जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—

श्रमण निर्ग्रन्थो की परिपूर्ण अहिसा को बीस बिस्वा मानते है। इनमे से श्रावक, स्थावर काय के जीवो की हिसा का त्याग नही करता। वह त्रस जीवो की हिसा का त्याग करता है। इसलिये उसकी अहिसा आधी कम हो गई। वह दस विस्वा ही रह गई।

श्रावक सव त्रस जीवो की हिसा का त्याग नही करता। वह आरभजा और संकल्पजा हिसा मे से केवल सकल्पजा हिसा का त्याग करता है, आरभजा का नही, अतएव वह दस बिस्वा दया आधी रहकर पांच बिस्वा रह गई।

श्रावक सकल्पजन्य हिसा का भी सर्वथा त्याग न करके केवल निरपराध की हिसा का त्याग करता है। सापराध की हिंसा उसके खुली रहती है, अतः पूर्वोक्त पाच विस्वा दया भी आधी होकर ढाई विस्वा रह जाती है।

श्रावक निरपराध जीवो की हिसा का त्याग भी पूर्णरूप से नही करता है; वह सापेक्ष निरपराध जीवों की हिंसा का त्यागी नही होता है, केवल निरपेक्ष निरपराध जीवो की हिसा का त्यागी होने के कारण पूर्वोक्त ढाई बिस्वा दया घटकर सवा बिस्वा ही रह जाती है।

यह परिगणना श्रावक के प्रथम अणुव्रत की अपेक्षा से है। श्रावक की यह सवा विस्वा दया साधु की अपेक्षा से सोलहवां भाग है, तदपि इसमे भी सजग एव विवेकी श्रावक अनन्त जीवो की हिसा से बच जाता है। इस व्रत की परिधि मे भी अनन्त जीवो का समावेश हो जाता है।

स्थूल मृषावाद विरमण व्रत

अहिसा-अणुव्रत को स्वीकार करने के पश्चात् श्रावक सत्य अणुव्रत को अंगीकार करता है, क्योकि अहिसा की आराधना सत्य के विना नही हो सकती है। अहिसा और सत्य इस रूप मे मिले हुए है कि सत्य के विना अहिसा अधूरी है और अहिसा के विना सत्य अपूर्ण है। अहिसा की उर्वरा भूमि में ही सत्य का पौधा उग सकता है—पनप सकता है, इसी तरह सत्य की नीव पर ही अहिसादि व्रतों का प्रासाद सुदृढ रूप से चिरस्थायी हो सकता है।

जिस प्रकार विस्तृत नील नभ में उड़ान भरने के लिए पक्षी की दोनों पांखो का मजबूत होना आवश्यक है। इसी प्रकार विस्तृत आध्यात्मिक जीवन-गगन मे उडान भरने के लिए मनुष्य के पास अहिसा और सत्य रूपी दोनो पाँखो का सुदृढ अत्यावश्यक है। लोग अहिसा के पालन का तो नाटक कर लेते है, परन्तु सत्याचरण के द्वार पर आते ही उनके पाँव लड़खडा जाते है। भगवान् महावीर का कथन है कि साधक के कदम जितने अहिसा की ओर बढ़े, उतने ही सत्य की ओर भी बढने चाहिए। सत्य को ठुकरा कर कोरी अहिंसा को अपनाना प्रकाश को छोड़कर तेल से भरी दीवट को अपनाना है। इसी तरह कोरे सत्य के प्रति आग्रहशील होना यदि उसके पीछे अहिसा, करुणा और प्रेम न हो, जीवन मे प्रकाश नही दे सकता। सत्य और अहिसा ये दो ही जगत की सर्वाधिक मूल्यवान वस्तुएँ है।

सत्य को परिभाषा

सत्य की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है—"सतः भाव. सत्यम्" अथवा 'सद्भ्यो हितम् सत्यम्"। वस्तु मे यथार्थता का होना सत्य है अथवा सज्जनो के लिए जो हितकारी हो वह सत्य है। इसका सीधा अर्थ है—मिश्री में मिठास सत्य है, फूल मे सुगन्ध सत्य है, जल में शीतलता सत्य है, अग्नि मे उष्णता सत्य है, साधु मे साधुत्व सत्य है, श्रावक मे श्रावकता सत्य है। इस व्याख्या के अनुसार सत्य सारे विश्व का मूलाधार है। सत्य के बिना संसार का कोई भी पदार्थ नहीं रहता। इसलिए सत्य से भिन्न जो भी है वह शून्य है, मिथ्या है।

गृहस्थ की साधना साधु की साधना जितनी उत्कृष्ट नही होती । उस पर पारिवारिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय दायित्व का बोझ होने के कारण वह इतने सूक्ष्म सत्य का पालन नही कर पाता । फिर भी ऐसे झूठ से वह अवश्य बचता है जो लोक व्यवहार में असत्य माना जाता है, जिससे दूसरे का अहित होता हो, जिससे राज्य शासन द्वारा वह दण्डित हो, समाज मे निन्दित हो और दुनिया में अविश्वास का पात्र बने । इस दृष्टि से श्रावक के लिए सत्य अणुव्रत की मर्यादा इस प्रकार निर्धारित की गई है—

"थूलाओ मुषावायाओ वेरमण दुविहेण तिविहेण मणेणं, वायाए काएण"

श्रावक दो करण, तीन योग से स्थूल मृषावाद का त्याग करे । अर्थात् मन, वचन, काया से वह स्वय स्थूल मृषावाद का सेवन न करे और दूसरों से सेवन न करावे ।

यदि श्रावक पूर्ण या किसी अंश मे सूक्ष्म मृषावाद से भी बच सके तो कोई बुराई की बात नही है, लेकिन शास्त्रकारो ने उसके लिए स्थूल मृषावाद का त्याग तो आवश्यक बताया है । क्योकि सूक्ष्म मृषावाद का त्याग उसको सांसारिक स्थिति में सभव नही होता है । अतएव गृहस्थ की भूमिका एव क्षमता को लक्ष्य मे रखकर शास्त्रकारों ने उसके लिए स्थूल मृषावाद विरमण व्रत का विधान किया है ।

'उपासक दशांग सूत्र' मे आनन्द आदि दस श्रावको के जीवन का उल्लेख है । उन्होने भगवान् महावीर के समक्ष श्रावक के व्रतो मे सत्य की प्रतिज्ञा ली तो अपनी मर्यादाओ को ध्यान मे रखकर ही ली थी । साधु जीवन और गृहस्थ जीवन की मर्यादाएँ अलग-अलग है । शास्त्रकार भी उन मर्यादाओं पर दृष्टि रखते है और उनके आधार पर ही सत्य का विधान करते है । आनन्द श्रावक ने जब सत्य अणुव्रत को अंगीकार किया तो वे अपनी जवाबदारियो और कमजोरियो को समझ रहे थे । गृहस्थ जीवन की अनेक समस्याएँ है । अतएव उन्होने सत्य को मर्यादित रूप में स्वीकार करके स्थूल मृषावाद का त्याग किया । वे जितना पालन कर सकते थे, उतनी मर्यादा उन्होने अपने लिये स्वीकार की ।

स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत

स्थूल अदत्तादान की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने कहा है कि दुष्ट अध्यवसाय पूर्वक अपने अधिकार से परे दूसरे की वस्तु को विना उसके अधिकारी की आज्ञा के ग्रहण करना, स्थूल अदत्तादान है । वह अदत्तादान सचित्त-अचित्त के भेद से दो प्रकार का है । जीव सहित स्त्री, पशु आदि पदार्थो को विना अनुमति के ग्रहण करना सचित्त अदत्तादान है और निर्जीव सोना-चाँदी आदि पदार्थों को चोरी की भावना से ग्रहण करना अचित्त अदत्तादान है ।

शास्त्रकारो ने श्रावकों के लिए स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत में उस चोरी का त्याग बताया है, जिसे लोक-व्यवहार मे चोरी कहा जाता है, जिसके करने पर व्यक्ति को चोर कहा जाता है, तथा जो लोक में निन्दनीय और गर्हणीय समझी जाती है। जिस वस्तु पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार नही है, जो सार्वजनिक है उसे लेने या उसका उपभोग करने का त्याग श्रावक के लिए अनिवार्य नही है। तात्पर्य यह है कि दुष्ट अध्यवसाय पूर्वक दूसरे के हको को हरण करने की क्रिया से विरत होना स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत है। इस व्रत को धारण करने से श्रावक के सांसारिक कार्यो में कोई अड़चन नहीं आती है। वह स्थूल अदत्तादान के पाप से भी बच जाता है और दुनिया मे प्रामाणिक एवं विश्वासपात्र भी माना जाता है। कुछ लोग समझते है कि गृहस्थ का काम चोरी किये बिना नही चल सकता। परन्तु यह वैसी ही भ्रान्ति है जैसे नशेबाज को भ्रान्ति होती है कि नशा किये बिना उसका काम नही चल सकता। बिना चोरी किये जो काम चलेगा, वह काम चोरी करके चलाये गये काम से असख्य गुण श्रेष्ठ होगा।

श्रावक स्थूल अदत्तादान का त्यागी होता है, सूक्ष्म अदत्तादान का नही। स्थूल अदत्तादान वह है जिसके सेवन से व्यक्ति दुनिया की दृष्टि मे चोर समझा जाता है, राजदण्ड का पात्र होता है और शिष्ट पुरुषो मे उसे लज्जित होना पडता है। दुष्ट अध्यवसाय से किसी के अधिकारो को हडप लेना, स्थूल अदत्तादान है। सेंध लगाना, जेब काटना, डाका डालना, मार्ग मे चलते हुए को लूटना, ताला तोडकर माल निकाल लेना, रास्ते मे पडी हुई वस्तु के मालिक का पता होने पर भी उसे ले लेना, आदि-आदि स्थूल अदत्तादान है। श्रावक मन वचन, काया द्वारा ऐसे कार्य न तो स्वय करता है और न दूसरो को करने की प्रेरणा करता है।

ऊपर स्थूल अदत्तादानो का वर्णन करते हुए केवल उन्ही कार्यो का उल्लेख किया है जो अशिष्ट उपायो के द्वारा किये जाते है। परन्तु आजकल चोरी करने के कई नये-नये सभ्य उपाय भी निकल आये है, जिनका आश्रय लेने से चोरी करने वाले भी सेठ या साहूकार कहलाते है। कालाबाजारी करना, अधिक मुनाफाखोरी करना, रिश्वत लेना-देना, धन रखकर दिवालिया बनना, वस्तु मे मेल-मेल करना, नकली वस्तुओ को असली बताकर बेचना, झूठे विज्ञापनो द्वारा दूसरो के धन का हरण करना, ठगाई करना, कम देना, ज्यादा लेना, आदि स्थूल अदत्तादान है, क्योंकि ऐसा करने वाले दुष्ट अध्यवसाय से दूसरो का द्रव्य हरण करते है।

आधुनिक चोरी : मिलावट

अस्तेय व्रत का भलीभांति पालन तभी हो सकता है जब व्रत पालन [illegible]

समय प्रमाद या असावधानी से होने वाले दोषो से दूर रहा जाय। व्रत का निरतिचार पालन करने से हो व्रत धारण करने का पूर्ण लाभ मिलता है। अतिचार तब तक अतिचार है जब तक वे सकल्प पूर्वक न किये जाएँ। यदि जानबूझ कर, सकल्प पूर्वक इन कामों को किया जाय तो वे अतिचार न रहकर अनाचार की कोटि मे आ जाते है। अनाचार से व्रत भंग हो जाता है।

आजकल धन की लोलुपता के कारण जानबूझ कर मिलावट का पाप किया जा रहा है। यह जघन्य पाप इतना अधिक बढ गया है कि इन्सानो की जिन्दगी तक इसके कारण खतरे मे पड रही है। सोना-चादी आदि कीमती धातुओं मे ताम्बा आदि मिलाकर उसे खरे के रूप मे बेचा जाता है और ग्राहको के साथ भयकर ठगाई की जाती है। खाद्य पदार्थो में मिलावट का भयकर दौर चल रहा है। शुद्ध घी मे वनस्पति तेल, खोपरा का तेल मिलाया जाता है, तेल मे न जाने कितनी मिलावट की जा रही है, शुद्ध घी एव तेल की प्राप्ति दुर्लभ हो गई है। चावलो मे सफेद छोटे-छोटे ककड, गेहूँ मे कंकड, मसालो मे रग, रग मे मिट्टी, सीमेन्ट में राख, रबड़ी मे ब्लाटिग पेपर, दूध मे अरारोट और पानी, काली मिर्च मे एरण्ड ककडी के बीज जानबूझ कर धन की लोलुपता से मिलाये जाते है। अनेक अर्थ-पिशाच इन्सानो की जिन्दगी के लिये उपयोगी दवाइयो मे मिलावट करते है, नकली दवाइयाँ देते है, केपसूलो मे राख भर कर बेचते है, इस तरह ये लालची निर्दयी लोग इन्सानो की जिन्दगी के साथ खिलवाड करते है। इन्हे बस धन चाहिये, भले ही सैकडो लोग मौत के मुँह मे चले जाएँ।

यद्यपि सरकार ने खाद्य पदार्थ मे मिलावट को रोकने के लिए कानून बनाये है, परन्तु धन के बल पर मिलावट करने वाले लोग सब अपने अपराधो से बच जाते है और अपना घृणित व्यवसाय चलाते रहते है। परन्तु यह भयकर पाप है। इससे झूठ, चोरी और हिसा के भारी पाप कर्मो का बन्ध होता है। अत श्रावक को मिलावट के पाप से सदा दूर रहना चाहिये। यह चोरी है, ठगी है, बेईमानी है, राज्य द्वारा दण्डनीय अपराध है और धार्मिक दृष्टि से आत्मा का घोर पतन करने वाला और दुर्गति मे ले जाने वाला है। ऐसा समझकर श्रावक तत्प्रतिरूपक व्यवहार मिलावट से बहुत-बहुत दूर रहे।

धन सम्पत्ति और अपनी वस्तुएँ जीव को जीवन के समान प्रिय होती है। उनका हरण हो जाने से जीव को बहुत दु ख होता है, इसीलिये दूसरे के द्रव्य का हरण करना चोरी तो है ही, साथ मे हिसा भी है। किसी की सम्पत्ति का अपहरण करने वाला केवल सम्पत्ति ही नही हरता किन्तु उसका धर्म, कर्म, धैर्य और शान्ति भी हर लेता है। जिसकी वस्तु का अपहरण होता है वह उसके शोक मे धर्म-कर्म सब कुछ भूल जाता है। अधीर एव व्याकुल हो जाता है। अतएव चोरी करना भयकर पाप और हिसा है इससे बचने के लिए अस्तेय व्रत अंगीकार करना चाहिये।

स्वदार सन्तोष-परदार विवर्जन विरमण व्रत

मोक्ष मार्ग की आराधना के लिए चारित्र धर्म के अन्तर्गत जिन पाँच व्रतों (यमो) का विधान भगवान् महावीर ने किया है, उनमें से ब्रह्मचर्य चौथा व्रत है। मोक्ष प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन अत्यावश्यक है। ब्रह्मचर्य व्रत के बिना अन्य व्रत मोक्ष के लिए पूर्णतया सार्थक नही हो पाते और न ही ब्रह्मचर्य व्रत के अभाव मे अन्य व्रतो की समग्र आराधना ही की जा सकती है।

भगवान् ऋषभदेव से लगाकर भगवान् महावीर तक चौबीस तीर्थंकरों ने आचार योग मे ब्रह्मचर्य को साधु के रूप मे और गृहस्थ के लिए अणुव्रत के रूप मे स्वीकार किया है। किसी भी व्रत या नियम के पालन के लिए, धर्म की साधना के लिए, जप-तप की साधना के लिए या ध्यान आदि के लिए मन की पवित्रता आवश्यक है। मन की पवित्रता ब्रह्मचर्य से आती है। मनुष्य का मन पवित्र नही होगा, इधर-उधर वासनाओ की गलियो में भटकता रहेगा, विविध वासनाओ और इन्द्रिय विषयो के आकर्षणो में घूमता रहेगा तो उसमे एकाग्रता नही आयेगी, वह विशृंखलित रहेगा। विशृंखलित मन किसी भी साधना को ठीक ढग से नही कर सकेगा। इसलिए ब्रह्मचर्य शुद्ध साधना का सिह द्वार है।

ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ आत्मा मे रमण करना है। यह आत्म रमण अन्तर्ध्यान और अन्तर्ज्ञान से हो सकता है। अन्तर्ध्यान और अन्तर्ज्ञान के लिए बाह्य पदार्थों मे आसक्ति रहती है तब तक अन्तर्ध्यान और अन्तर्ज्ञान नही हो सकता। अत. आत्म रमण के लिए बाह्य पदार्थों और वासनाओं की ओर दौडने वाले मन और इन्द्रियों का सयम करना अनिवार्य होता है। सब इन्द्रियो का मन, वाणी और काया के द्वारा सब क्षेत्र और काल मे सयम करना ही ब्रह्मचर्य है। गाधीजी ने भी ब्रह्मचर्य का यही अर्थ किया है। वे कहते है "ब्रह्मचर्य का अर्थ है सब इन्द्रियो और सम्पूर्ण विकारों पर पूर्ण अधिकार कर लेना।" सब इन्द्रियों को तन-मन-वचन से सब समय और सब क्षेत्रो में सयमित करने को ब्रह्मचर्य कहते है।

श्रावक जीवन मे ब्रह्मचर्य की मर्यादा

ब्रह्मचर्य मानव-जीवन का मेरुदण्ड है। मानव मात्र के लिए ब्रह्मचर्य उपादेय और आवश्यक है। इसीलिए भगवान् महावीर ने सद्गृहस्थ श्रावक-श्राविकाओ के लिए भी ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करने का विधान किया है। मनुष्य भव, शरीर और मन अन्य सर्व प्राणियो से उत्तम है और देव दुर्लभ है। मानवेतर अन्य योनियां प्राय भोग योनियां है, जहां कर्मो का फल भोगा जाता है परन्तु मानव जन्म ही ऐसा दुर्लभ अवसर है जहां धर्म-धन और [illegible] उपार्जन किया जा सकता है। अन्य देवादि योनियो के [illegible] मानव जन्म की सार्थकता ब्रह्मचर्य पालन [illegible]

करने मे । ब्रह्मचर्य रूप धर्म का पालन करने पर ही मनुष्य समस्त प्राणियो से उत्तर हो सकता है । अमर्यादित रूप से विषयोपभोग करने या अब्रह्मचर्य सेवन करने मे मनुष्य की श्रेष्ठता नही है । यही कारण है कि आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव भगवान् ने अपने ६८ पुत्रों को उपदेश देते हुए कहा था—

"पुत्रो ! देव दुर्लभ यह मनुष्यतन दु.खदायक विपयभोगो के उपभोग के योग्य नही है, क्योकि दु.खदायी विषयभोग तो अशुद्धि खाने वाले तिर्यच जीवो को भी मिल जाता है । अतएव यह शरीर दिव्य तप मे लगाना श्रेयस्कर है, जिससे अन्त:करण शुद्ध हो और अनन्त आत्म सुख प्राप्त हो ।"

भगवान् का उक्त उपदेश विश्व के सभी मानव पुत्रो अमृत पुत्रों के लिए है । अत. ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करना मानव जन्म को सार्थक करना है और मोक्ष रूपी उत्तम फल को प्राप्त करना है ।

कुछ लोगो का यह कहना है कि गृहस्थ जीवन तो ब्रह्मचर्य पालन के लिए नही होता । अगर ब्रह्मचर्य ही पालन करना होता तो गृहस्थ जीवन को स्वीकार ही क्यो किया जाता ? गृहस्थ जीवन तो भोगविलास के लिए है । परन्तु यह एक भ्रान्ति है, जो जन साधारण मे व्याप्त है । वास्तव में देखा जाय तो साधु हो या गृहस्थ, दोनों का ध्येय, दोनो का दृष्टिकोण, दोनो के जीवन की सार्थकता ब्रह्मचर्य की आराधना के द्वारा आत्मा को अनन्त शक्तिमान सिद्ध-बुद्ध एव मुक्त बनाने मे है । यह बात दूसरी है कि साधु जीवन मे जैसे पूर्ण ब्रह्मचर्य की आराधना की जाती है, वैसा करने में गृहस्थ समर्थ न हो और वह मर्यादित ब्रह्मचर्य की आराधना करे । परन्तु दोनों की मजिल एक है । दोनो को ब्रह्मचर्य के उच्च शिखर पर पहुँचना है, दोनो को मुक्त बनना है, दोनों का पथ एक है । भगवान् महावीर ने साधु और गृहस्थ दोनों के लिए ब्रह्मचर्य की आराधना का मार्ग बताया । दोनों के ब्रह्मचर्य को चारित्र धर्म, अनुत्तर योग, आर्य धर्म और उत्तम मार्ग कहा है । अन्तर केवल चलने का है ।

गृहस्थाश्रम भोग के लिए नहीं

गन्तव्य स्थान—मोक्ष एक है, ब्रह्मचर्य पथ भी एक है परन्तु ब्रह्मचर्य पालन के नियमोपनियम मे शक्ति की तरतमता के कारण एव कक्षा भेद के कारण अन्तर है । गृहस्थ साधक उसी ब्रह्म-पथ पर धीमी गति से—रास्ते मे विश्राम लेता हुआ चलता है, जबकि साधु उसी ब्रह्म-पथ पर तीव्रगति से विश्राम की अपेक्षा रखे विना चलता है । परन्तु यह तो मानना ही होगा कि गृहस्थाश्रम का अन्तिम आदर्श पूर्ण ब्रह्मचर्य है । उसी की साधना हेतु पति-पत्नी दोनो मिलकर एक-दूसरे को सयम के मार्ग मे प्रेरित करते हुए, सहयोग देते हुए ब्रह्मचर्य के उच्च शिखर पर पहुँचते है । गृहस्थाश्रम की अधिकतर मर्यादाएं ब्रह्मचर्य पालन

के लिए है। गृहस्थाश्रम पूर्ण ब्रह्मचर्य की मजिल के बीच का पड़ाव है, विश्राम स्थल है, वहाँ अल्प समय के लिए रुकना पडता है और वह भी मंजिल की ओर बढने के लिए अधिक शक्ति पाने के उद्देश्य से ही। गृहस्थाश्रम अमर्यादित विषय सेवन का लायसेन्स (अनुमतिपत्र) नही है। गृहस्थाश्रम भी ब्रह्मचर्यानुलक्षी होना चाहिए, वासनानुलक्षी नही।

रूस के महात्मा टॉलस्टाय ने कहा है कि गृहस्थाश्रम का अन्तिम आदर्श ब्रह्मचर्य है। उसी को साधने के लिए दाम्पत्य मर्यादाए है। इसका अर्थ यह है कि ब्रह्मचर्य के मार्ग पर चलते हुए जहाँ जरा थकान आये, वहाँ गृहस्थाश्रम विश्राम रूप है।

वैदिक धर्म के अनुसार मानव जीवन को चार भागों मे विभक्त किया गया है जिन्हे चार आश्रमो की सज्ञा दी गई है। पहले ब्रह्मचर्य आश्रम में २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करते हुए जीवन की बुनियाद पक्की करने के साथ अध्ययन करना निर्दिष्ट किया गया है। इसके पश्चात् गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने का विधान है जिसमे पति-पत्नी दोनों की परस्पर निष्ठा और विकास हो, इस रीति से संयमित रहने की बात सूचित की गई है। सिर्फ सन्तान प्राप्ति हेतु से ही स्त्री सहवास, शेष समय ब्रह्मचर्य का लक्ष्य रखना होता है। गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम आता है। इसमें भी समाजनिष्ठा के साथ ब्रह्मचर्य को अनिवार्य रूप से जोडा गया है। इस पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि गृहस्थाश्रम की आधारशिला भी ब्रह्मचर्य है।

मन, वचन और काया के द्वारा परिपूर्ण ब्रह्मचर्य की आराधना करना मुनि धर्म है। इस कोटि पर पहुचने वाले विरले व्यक्ति ही होते है। गृहस्थ श्रावक के जीवन का लक्ष्यबिन्दु सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन का होता है परन्तु अपनी कमजोरी के कारण वह मर्यादित ब्रह्मचर्य स्वीकार करता है। सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन न कर सकने के कारण वह अब्रह्म की मर्यादा करता है। अपनी विवाहिता पत्नी के साथ मर्यादित सहवास की छूट रखकर ससार भर की समस्त नारियो से अब्रह्म सेवन का त्याग करता है। वह स्व-पत्नी संतोष व्रत अंगीकार करता है और अपनी पत्नी के साथ भी अमर्यादित अब्रह्म का परित्याग करता है।

श्रावक के विवाह का उद्देश्य विषय वासना या भोग विलास करना नही होता, अपितु अपनी निरकुश विषयेच्छा पर अंकुश लगाना ही उसका पवित्र उद्देश्य होता है। इस उच्च आशय से विवाह के बन्धन मे बधकर वह अपनी विषयेच्छा को अत्यन्त मर्यादित कर लेता है और सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य के लक्ष्यबिन्दु पर पहुँचने की शक्ति प्राप्त करने का अभ्यास करता है।

देश विरति रूप ब्रह्मचर्य को अंगीकार करने वाला सद्गृहस्थ इस प्रकार प्रतिज्ञा करता है कि :—

"सदार संतोसिए अवसेस मेहुणं पच्चक्खामि जावज्जीवाए देव देवी सवधी दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा-वयसा-कायसा, मनुष्य-तिर्यन्च सबधी एगविह एग विहेण न करेमि कायसा।"

"अर्थात् मै देशाविरति रूप ब्रह्मचर्य व्रत मे स्वदार संतोष के अतिरिक्त शेष समस्त स्त्री जाति के प्रति मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूँ। यावज्जीव तक, देव-देवी सम्बन्धी मैथुन का दो करण-तीन योग से (अर्थात् अब्रह्म सेवन न करूँगा, न कराऊँगा मन से, वचन से और काया से) इसी प्रकार मनुष्य तिर्यच सम्वन्धी मैथुन सेवन का एक करण एक योग से (अर्थात् काया से करने का) त्याग करता हूँ।"

गृहस्थ जीवन में ब्रह्मचर्य व्रत की इस प्रतिज्ञा से वासना का विष कितना कम हो जाता है। मान लीजिए विष से परिपूर्ण एक कलश है, उसमें से सारा विष निकल जाए और केवल एक बू द विष रह जाए, तो वह भी कितनी उच्च स्थिति है। यद्यपि एक बू द जो विष रह जाता है, उसका भी उपयोग वह बहुत विवेक पूर्वक करता है। औषध के रूप मे वह उसका उपयोग करता है। इसलिए कहना होगा कि गृहस्थ जीवन मे भी ऐसा मर्यादित ब्रह्मचर्यधारी श्रावक विश्व मे पवित्रता की लहर उत्पन्न करता है। वह घर, बाहर, कुटुम्व-परिवार या समाज मे जहाँ भी जाता है, सर्वत्र पवित्र मन, पवित्र नेत्र, पवित्र श्रवण, पवित्र हृदय रखता है। उसकी दृष्टि में अपनी विधिवत् विवाहिता पत्नी के सिवाय संसार भर की समस्त महिलाओ के प्रति मातृभाव और भगिनीभाव का पवित्र निर्झर प्रवाहित होता रहता है। ससार के किसी कोने में चला जाएगा, तब भी वह मातृजाति के प्रति यही निर्मल दृष्टि रखेगा। उस सद्गृहस्थ की यह कितनी उच्च भूमिका है। कितना विष उसने छोड दिया है।

आजकल कुछ लोगो की ऐसी मान्यता बनती जा रही है कि हम विवाह करके क्यो बन्धन मे पडे ? क्यों किसी एक स्त्री या पुरुष के साथ आजीवन बधकर सन्तान के पालन-पोषण और स्त्री के स्थायी व्यय मे पडे ? इससे तो अच्छा है कि कुछ देर के लिए किसी स्त्री या पुरुष से सवध स्थापित कर लिया जाय। स्वस्त्री या परस्त्री अथवा स्वपति तथा परपुरुप के साथ सहवास करने में पाप तो एक समान ही होता है। फिर विवाह के वन्धन मे नाहक क्यो पडा जाय।

ऐसे विचार के लोग प्रथम तो विवाह के उद्देश्य से ही अनभिज्ञ है, दूसरे वे ब्रह्मचर्य की महिमा और उपयोगिता को भी नही समझ पाये है। वे मानो

यही समझ बैठे है कि विवाह का प्रयोजन केवल विषयोपभोग है। अपनी इस भूल भरी मान्यता पर वे दूरदर्शिता से विचार नही करते। जो स्त्री-पुरुष नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहकर आजीवन ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवनयापन करना चाहते है, उनके लिए विवाहित जीवन की आवश्यकता नही है, इस बात से धर्मशास्त्र सहमत है। परन्तु जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी तो नही रहना चाहते लेकिन विवाह न करके स्वेच्छाचार से जीवन बिताना चाहते है, विवाह व्यवस्था को परतन्त्रता मानकर उसका भंग करते है, वे दोनों तरफ से चूकते है। एक ओर वे अपना नैतिक पतन करते है, दूसरी ओर भावी संतति को प्राप्त होने वाले सुसस्कारो तथा दायित्वो की भी हत्या करते है। समाजशास्त्री ऐसी स्वतन्त्रता को सरासर स्वच्छन्दता मानते है। समाज के लिए यह स्वैराचार, यह स्वच्छन्दता, यह मर्यादाहीनता अत्यन्त घातक है। ऐसी विचारधारा मानवता को पशुता की ओर ले जाने वाली है।

स्वपत्नी संतोष की निष्ठा

श्रावक के ब्रह्मचर्याणुव्रत की मर्यादा यह है कि विवाह होने से पहले तक समस्त स्त्रियों को माता या बहन समझे। विवाहबद्ध हो जाने पर पुरुष को उन सभी स्त्रियों के प्रति किसी भी प्रकार की कामवासना या मैथुन भावना का मन, वचन, काया से त्याग करना आवश्यक है, जो स्त्री उसके साथ विधिवत् विवाहित नही है। जिस स्त्री का उसके साथ विधिवत पाणिग्रहण नही हुआ है वह स्त्री चाहे कुमारिका हो, विधवा हो, वेश्या हो या रखेल हो अथवा कितनी ही सुन्दरी क्यो न हो, वह परस्त्री ही मानी जाती है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्याणुव्रत-धारी स्त्रियो के लिए अपने पति के सिवाय सभी पुरुष पर पुरुष समझे जाते है। इसलिए इस व्रत का नाम शास्त्रकारो ने स्वदार सतोष (स्त्रियो के लिए स्वपति सतोष) व्रत रखा है। इसमे परस्त्री के साथ सर्व प्रकार से मैथुन सेवन का त्याग किया जाता है।

स्वदार-सतोष व्रत की निष्ठा तभी समझी जाती है, जब पुरुष एक पत्नी-व्रत का और स्त्री एक पतिव्रत का पालन करे। श्रावक अपनी पत्नी के प्रति भी अमर्यादित नही होता, तो परस्त्री का सेवन तो वह कर ही कैसे सकता है? परस्त्री सेवन करना भीषणतम अपराध है। यह सामान्य नैतिक नियमो से विपरीत है। इस महान् पाप के सेवन से इस लोक और परलोक मे विभिन्न विपत्तियो का शिकार बनना पडता है। रावण जैसा महापराक्रमी योद्धा भी इस महान् पाप को अभिलाषा करने मात्र से मारा गया और नरक का अतिथि बना। आज तक उसका अपयश व्याप्त है और प्रति वर्ष उसका पुतला जलाया जाता है।

परस्त्रीगामी पुरुष का जीवन कलकित, दूषित और पाप पूर्ण होता है। उसमे बल, साहस और धैर्य समाप्त हो जाता है। प्राय· सब सद्गुण एक-एक

करके विदा हो जाते है । उसे भय, क्रोध, रोग, शोक, अपमान, दैन्य आदि दु ख घेर लेते है । वह सदा राजदण्ड और लोक निन्दा के भय से आशकित और चिन्तित रहता है । 'धम्मपद' मे परस्त्रीगामी के लिए चार फल बताये है :—

१. अपयश, २. निद्रा नाश, ३. चिन्ता और ४. नरक ।

महात्मा गाधी ने कहा—"परस्त्रीगमन दुःसाध्य रोगो का कारण होता है । इस दूषण से जन्य रोग पीढी दर पीढी चलते रहते है । परस्त्रीगामी के इस भयंकर दूषण का फल भावी सन्तान को भी भोगना पड़ता है । परस्त्रीगामी का परिवार सदा दु खी रहता है ।" कुलक मे कहा गया है—"मनुष्य की श्रेष्ठता किस काम की जबकि वह व्यभिचारजन्य लज्जा का किंचित भी विचार न कर परस्त्रीगमन करता है । इस दारुण परिणाम को देखकर परस्त्री के संग का सर्वथा परिहार करना चाहिये ।"

स्वदार सन्तोष व्रत को स्वीकार करने वाला पुरुष असीम काम-वासना के पाप से बच जाता है । वह सब जगह विश्वसनीय होता है । उसका शरीर और मन स्वस्थ रहता है । उसका परिवार खुशहाल रहता है । उसका दाम्पत्य जीवन सुखमय और शान्तिमय रहता है । भावी सतान सस्कारो से सम्पन्न होती है । 'मनुस्मृति' मे कहा है :—

स्वदारे यस्य सतोष परदार विवर्जनम् ।
अपवादो पि नो यस्य तस्य तीर्थफल गृहे ॥

अर्थात् "जो पुरुष अपनी स्त्री में सतुष्ट रहता है और परस्त्री सेवन से विरत हो जाता है उसकी कोई निन्दा नही करता, न किसी प्रकार का अपवाद होता है । घर में ही उसे तीर्थ का फल मिल जाता है ।"

श्रावक स्वपत्नी सषोत व्रत मे इतना दृढ हो जाता है कि यदि उसके सामने उर्वशी या रति के समान सौन्दर्य से सुशोभित सुन्दरी खडी होकर रति की याचना करे तो भी वह अपने व्रत से विचलित नही होता । इसी तरह श्राविका स्वपति सतोष व्रत मे इतनी दृढ होती है कि कामदेव के समान रूपवान और इन्द्र के समान ऐश्वर्य वाले परपुरुष की स्वप्न मे भी कामना नही करती । श्रावक और श्राविका अपने प्राणो की आहूति प्रदान कर सकते है, परन्तु अपने इस व्रत से विचलित नही हो सकते । आदर्श श्रावक सुदर्शन का उदाहरण उनके सामने रहता है । सुदर्शन ने शूली पर चढना स्वीकार किया लेकिन अपने व्रत को भग नही होने दिया । इसके पुण्य प्रताप से शूली भी सिहासन के रूप मे वदल गई । यह है व्रह्मचारी के व्रह्मचर्य का प्रभाव । यह है व्रतधारी के व्रत पालन का चमत्कार ।

इच्छा-सरोवर और परिमाण की पाल

विना ओर-छोर वाले इच्छा के सरोवर की अनिष्टकारिता और अरमणीयता को दूर करने के लिए उसके चारो ओर परिमाण की पाल वाध देनी चाहिए। ऐसा करने से उस सरोवर की अनिष्टकारिता भी दूर हो जाती है और उसके स्वरूप में रमणीयता भी आ जाती है। इसलिए भगवान् महावीर ने परिग्रह की अनिष्टता को दूर करने के लिए श्रावको को इच्छा विधि परिमाण करने का निर्देश और उपदेश दिया है।

प्रभु महावीर द्वारा श्रावको के लिए उपदिष्ट इच्छा परिणाम व्रत का आश्रय लेने से परिग्रह की विपाक्तता कम हो जाती है। यह वह मणि है जो परिग्रह के विष को दूर कर देती है। इस व्रत को स्वीकार करने से गृहस्थ श्रावक का कोई भी व्यावहारिक कार्य रुकता नही, न विकास काय मे रुकावट ही होती है, वल्कि आत्म चिन्तन, भगवद्भक्ति, धर्मध्यान आदि कार्य निश्चिन्तता-पूर्वक कर सकता है। वह निराकुलता के साथ गार्हस्थ्य जीवन सुख-शान्तिपूर्वक चला सकता है। इच्छाओ और तृष्णाओ के भार से आक्रान्त व्यक्ति का जीवन अशान्त, चिन्तातुर और मशीन की तरह व्यस्त बना रहता है परन्तु जिसने इच्छाओ और तृष्णाओ पर परिमाण की पाल द्वारा नियत्रण कर लिया हो वह व्यक्ति उक्त सभी परेशानियो से वच जाता है और अत्यन्त सुख-शान्ति से खा-पी सकता है तथा निश्चिन्तता से जीवनयापन कर सकता है किन्तु जिसने वह पाल नही वाधी है वह न सुखपूर्वक जीवनयापन कर सकता है और न प्रभु भक्ति या आत्मकल्याण ही कर सकता है। उसके पास सारे ससार का वैभव आ जाये तो भी वह अशान्त ही बना रहेगा। इस अशान्ति को हटाने का एक ही मार्ग है और वह है—इच्छाओ का परिमाण करना। इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार कर लेने से सव प्रकार की अशान्ति दूर हो जाती है।

इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाला महा परिग्रह से वच जाता है। क्योकि उसने इच्छाओ को सीमित कर दिया है। इस कारण जितने अंश में उसकी इच्छा शेष है, उतने अश के परिग्रह के सिवाय शेष समस्त परिग्रह से वह निवृत्त हो जाता है। उसे सम्पूर्ण परिग्रह की क्रिया नही लगती। अपितु जितने अश मे परिग्रह रहा है उसकी ही क्रिया लगती है। इसलिये वह महापरिग्रही न रहकर अल्प परिग्रही हो जाता है। जितना परिग्रह शेप है, उसमे भी वह जल-कमलवत् निर्लिप्त रहता है तो उसी भव में, नही तो सात-आठ भवों में मोक्ष प्राप्त कर सकता है। यद्यपि उसने पूर्णतया परिग्रह नही त्यागा है तथापि आशिक रूप से परिग्रह त्याग एव इच्छा परिमाण किया है, अत: उतने अशो में वह जन्म-मरण के कष्टो से छूट जाता है। नीच गति का पथिक होने से वच जाता है, तो वह सुगति मे जाता है या मुक्ति पथ का पथिक हो जाता है।

इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाला व्यक्ति कभी इस बात से चिन्तित या दुःखी नही होता कि उसकी वस्तु कोई छीन लेगा, चुरा लेगा, या नष्ट कर देगा। वस्तुओं के प्रति उसकी आसक्ति सहज रूप से कम हो जाती है, अतः उसके लिए दु ख का कोई कारण नही रहता। इसके विपरीत महापरिग्रही व्यक्ति मृत्यु के समय या पुण्य की हीनता से उन वस्तुओं को छूटती हुई जानकर घोर कष्ट का अनुभव करता है। शास्त्र के कथनानुसार महापरिग्रही को मरते समय आर्त्त-रौद्र ध्यान आता है, जो दुर्गति का कारण है। इच्छा परिमाणव्रती श्रावक के पास ऐसा दु ख कभी नही फटकता।

एक सघन वृक्ष है। उसका सहारा एक बन्दर भी लेता है और एक पक्षी भी। पक्षी अपने पखो के आश्रय पर रहता है, वृक्ष के साथ उसका लगाव नही होता, अतएव वृक्ष के गिर पडने पर पक्षी को दु ख नही होता, परन्तु बन्दर वृक्ष को अपना मानकर रहता है, अतएव वृक्ष के गिरने से बन्दर को वहुत दु ख होता है। यही अन्तर इच्छा परिमाण व्रतधारी श्रावक मे और व्रत न लेने वाले परिग्रही मे होता है। इच्छा परिमाण करने वाले को अपनी मर्यादा मे गृहीत पदार्थो का आधार छूट जाने पर भी पक्षी की तरह दु.ख नही होता क्योकि वह उन पदार्थो पर भी उतनी ममता नही रखता जिससे दु ख हो। इच्छा परिमाण न वाले को पदार्थो के छूट जाने पर बन्दर की तरह बहुत दु ख होता है।

इच्छा परिमाण का अर्थ

इच्छा परिमाण व्रत का अर्थ है—धन-धान्यादि पदार्थो की इच्छा को मर्यादित करना, सीमित करना। सम्पूर्ण अपरिग्रह व्रत को अगीकार करने वाला तो ससार के समस्त पदार्थो पर से इच्छा और मूर्च्छा का त्याग करता है, लेकिन इच्छा परिमाण व्रतधारी को ससार के समस्त पदार्थो पर से इच्छा-मूर्च्छा का त्याग नही करना पडता। उसे उन्ही पदार्थो पर से इच्छा-मूर्च्छा का त्याग करना पडता है जो पदार्थ महापरिग्रह मे माने जाते है या जिन पदार्थो की इच्छा निकृष्ट है, दूसरो के लिए घातक है।

इच्छा परिमाण व्रत के ग्रहणकर्ता को इस बात का संकल्प करना होता है कि वह इन-इन पदार्थो से अधिक पदार्थो, पर स्वामित्व या ममत्व नही रखेगा, न उन पदार्थो के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ की इच्छा करेगा। आशिक रूप से परिग्रह से विरत होकर महापरिग्रही न होने की जो प्रतिज्ञा ली जाती है, उसे भी इच्छा परिमाण व्रत कहते है।

इच्छा परिमाण व्रत का उद्देश्य दुनिया भर के समस्त पदार्थो की विस्तृत इच्छाओ से अपने मन को खीचकर एक सीमित दायरे मे कर लेना है। इच्छा परिमाण मे मर्यादा जितनी कम होगी उतना ही दु ख और संसार भ्रमण कम

होगा। क्योकि उसका ध्येय तो एक दिन परिग्रह या इच्छा का सर्वथा त्याग करने का होता है। वह अपनी मंजिल तक तभी पहुँच सकता है, जब इच्छा-मूर्च्छा को न्यून से न्यूनतम कर लेगा। श्रावक का उद्देश्य इच्छा और मूर्च्छा के साथ-साथ आवश्यकताओ मे भी कटौती करना है, तभी वह एक दिन निष्परिग्रही निर्ग्रन्थ की मजिल पर पहुँच सकेगा।

परिग्रह परिमाण ग्रहण विधि

जो व्यक्ति ससार के समस्त पदार्थो से अपना ममत्व हटा लेता है और केवल आत्म साधना के लिए जीवन निर्वाह हेतु अपनी कल्प मर्यादा के अनुसार अल्प से अल्प बाह्य साधन ग्रहण करता है वह अपरिग्रही है। अपरिग्रह के लिए मूर्च्छा का सर्वथा त्याग आवश्यक है। साधु वस्त्र-पात्र आदि रखते हुए भी उनमे मूर्च्छा न होने से अपरिग्रही कहे जाते है। जैन धर्म ने अनगार साधुओं के लिए सर्वथा अपरिग्रही होना आवश्यक बताया है। गृहस्थों के लिए भी परिग्रह की मर्यादा करने और उत्तरोतर परिग्रह को कम करने का व्रत बताया है, यही परिग्रह परिमाण व्रत कहलाता है।

शास्त्रकारो ने परिग्रह दो प्रकार का बताया है—बाह्य परिग्रह और आभ्यन्तर परिग्रह। बाह्य परिग्रह नौ प्रकार का है और आभ्यन्तर परिग्रह चौदह प्रकार का है। क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसक वेद ये चौदह भेद आभ्यन्तर परिग्रह के है। यो परिग्रह परिमाण व्रत नौ प्रकार के बाह्य परिग्रहो की मर्यादा करके ग्रहण किया जाता है, किन्तु यह ध्यान रखने योग्य बात है कि परिग्रह मुख्यतया इच्छा एव मूर्च्छा से होता है। इच्छा और मूर्च्छा का सबंध मन से है और मन का सबध आभ्यन्तर परिग्रह के साथ है। आभ्यन्तर परिग्रह जितनी-जितनी मात्रा मे कम होगा उतनी-उतनी मात्रा मे बाह्य परिग्रह से इच्छा-मूर्च्छा कम होती जायेगी। बाह्य परिग्रह तो पदार्थो पर इच्छा-मूर्च्छा होने के कारण ही परिग्रह कहलाते है। इसलिए व्यक्ति जब आभ्यन्तर परिग्रह से विरत होगा तो पदार्थ पास मे होने पर भी परिग्रह नही रहेगा।

ससार मे जितने भी पदार्थ है, उन्हें दो भागो मे बांटा जा सकता है। एक वे है, जो सचेतन है और दूसरे वे जो अचेतन हैं। सचेतन में द्विपद नर-नारी, दास-दासी, पक्षी आदि और चतुष्पद—घोड़ा, बैल-गाय आदि पशु तथा स्थावर में रत्न, वनस्पति आदि का समावेश होता है। अचेतन मे समस्त निर्जीव वस्तुओं का समावेश होता है। जैसे—सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, सिक्का, नोट, वस्त्र, बर्तन, घर, दुकान आदि। सचेतन पदार्थो की गणना सचित्त परिग्रह मे होती है और अचेतन पदार्थो की गणना अचित्त परिग्रह मे होती है।

परिग्रह की मर्यादा करने वाला श्रावक ससार के समस्त सचेतन या

अचेतन पदार्थो के विषय मे (जो उसके जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक या उपयोगी है) इस प्रकार का नियम करेगा कि मै अमुक पदार्थ इतनी मात्रा या सख्या से अधिक अपने स्वामित्व में नही रखूगा, अमुक पदार्थो पर से स्वामित्व का सर्वथा त्याग करता हूँ। अथवा अमुक पदार्थ की अमुक मात्रा या सख्या से अधिक की इच्छा-मूर्च्छा भी नही करूँगा।

परिग्रह परिमाण व्रत ग्रहण करने में सुविधा के लिए सचित्त-अचित्त रूप बाह्य परिग्रह को शास्त्रकारो ने नौ भागो मे विभक्त कर दिया है। वे ६ भेद बाह्य परिग्रह के रूप मे प्रसिद्ध है। वे इस प्रकार है —

(१) क्षेत्र : (खेत आदि खुली जमीन)
(२) वस्तु : (निवास योग्य स्थान, मकान, दुकान, नौहरा आदि)
(३) हिरण्य : (चादी)
(४) सुवर्ण : (सोना)
(५) धन : (सोने-चादी के ढले हुए सिक्के, गहने, नोट आदि मुद्रा, घृत तथा अन्य बहुमूल्य पदार्थ)
(६) धान्य : (गेहूँ, चावल, चना आदि अन्न)
(७) द्विपद : (जिनके दो पाव हों, जैसे—मनुष्य, पक्षी आदि)
(८) चतुष्पद : (चौपाये जानवर गाय, बैल, घोडा, भैस आदि)
(६) कुप्य : (वस्त्र, बर्तन, घरेलू सामान फर्नीचर, आलमारी, मोटर, पखे, तिजोरी आदि वे समस्त पदार्थ जो पूर्वोक्त ८ प्रकार के परिग्रह मे समाविष्ट नही है।)

उपर्युक्त नौ प्रकारो मे समस्त ससार के सचित्त-अचित्त, स्थावर या जगम सब पदार्थो का समावेश हो जाता है। इन्ही नौ प्रकार के पदार्थो को ग्रहण करने की मनुष्य की इच्छा या ममता होती है। इसलिए उक्त नौ प्रकार के परिग्रहो का परिमाण करना, सख्या या मात्रा की सीमा निश्चित कर लेना परिग्रह परिमाण व्रत या इच्छा परिमाण व्रत कहलाता है।

इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने से श्रावक के गृहस्थ जीवन मे किसी प्रकार की रुकावट या कठिनाई नही आती और उसकी इच्छा-तृष्णा भी असीम नही रहता। इस व्रत को स्वीकार करने वाला व्यक्ति अव्रती और महापरिग्रही नही रहती, वल्कि उसकी गणना धर्मात्मा श्रावकों में होती है। वह महा पाप से वचकर मोक्ष मार्ग का पथिक हो जाता है।

☐ ☐ ☐

१५ गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत

[सप्तम दिवस]

अणुव्रतो की पुष्टि हेतु तीन गुणव्रत बताये गये है :—

१ दिशा परिमाण व्रत, २. उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत और ३. अनर्थ दण्ड विरमण व्रत ।

इन तीनो गुणव्रतो द्वारा अणुव्रतो की मर्यादा मे और संकोच किया जाता है। अणुव्रतों मे की गई मर्यादा से वाहरी जो हिसादि आस्रव के बहुलाश खुले रह जाते है, उनको अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से बन्द करने मे ये गुणव्रत सहायक होते है। जैसे दिशा परिमाण व्रत मे "छहो" दिशाओं मे गमनागमन की मर्यादा कर लेने से पहले जो सर्वत्र हिसा, असत्य आदि अमुक अश मे खुल्ले थे। वे इन छहो दिशाओ मे गमन–मर्यादा करने से–उक्त मर्यादा के वाहर गमन न करने से वे द्वार बद हो जाते है। इसी प्रकार उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत मे भी उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओ के उपभोग-परिभोग की सीमा हो जाती है। उक्त सीमा के वाहर को समस्त वस्तुओ का उपभोग-परिभोग बद हो जाता है। इसी प्रकार अनर्थ दण्ड विरमण व्रत मे जो सार्थक दण्ड विरमण अमुक सीमा तक है। उनके सिवाय जितने भी अनर्थ-निरर्थक दण्ड है, उनके पाप से श्रावक वच जाता है।

तात्पर्य यह है कि ये तीन गुणव्रत, अणुव्रतों मे अधिक शक्ति का सचार कर देते है। इन गुणव्रतो की आराधना से वृत्ति में सकोच आता है। वृत्ति मे सकोच आने से चित्त की शान्ति वढती है और निराकुलता मे वृद्धि होती है। जव तक वृत्ति का सकोच नही होता तव तक चित्त मे व्यग्रता और व्याकुलता बनी रहती है। इस प्रकार की आकुलता और अशान्ति को मिटाने के लिए वृत्ति सकोच आवश्यक है। गुणव्रतो के पालन से इस प्रकार का संकोच सहज हो जाता है जिसके कारण श्रावक वहुत सारे पापो से वच जाता है। उसके जीवन मे त्याग मार्ग पर चलने की दृढता आ जाती है और वह मोक्ष की मजिल पर आगे वढता है।

दिशा परिमाण व्रत .

तीन गुणव्रतो मे से पहला गुणव्रत दिशा परिमाण व्रत है। यह व्रत लोभ

वृत्ति और उसके कारण होने वाली हिसा, असत्य, बेईमानी, चोरी, परिग्रह वृत्ति आदि पापो को, जो कि विस्तृत क्षेत्र मे फैले हुये थे, चाहे वे अणुव्रत के दायरे मे ही थे, सीमित कर देता है। वह लोभ के बढते हुए सागर को एक गागर मे सीमित कर देता है।

दिशा परिमाण व्रत स्वीकार करने के लिए श्रावक को किसी एक स्थान को केन्द्र बनाकर उस स्थान से प्रत्येक दिशा मे यह मर्यादा करनी चाहिए कि मै अमुक दिशा मे इस स्थान से इतनी दूर से अधिक नही जाऊँगा। जैसे ऊर्ध्व दिशा की मर्यादा इस प्रकार की जा सकती है—"मै अमुक केन्द्र स्थान से वृक्ष, पहाड, घर या महल पर अथवा वायुयान द्वारा या और किसी तरह से ऊपर की ओर इतनी दूरी से अधिक दूर नही जाऊँगा।" इसी प्रकार अधो दिशा की मर्यादा इस प्रकार की जा सकती है। "मै अमुक केन्द्र स्थान से नीचे की ओर जल, स्थल, खान, भूमि गृह आदि मे इतनी दूरी से अधिक नीचे नही जाऊँगा।" तिर्यग् दिशा की मर्यादा करते समय ऐसा सकल्प करना चाहिये कि—"मै पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओ और ईशान आदि विदिशाओ मे अमुक केन्द्र स्थान से इतनी दूरी से अधिक दूर नही जाऊँगा।" इस विधि से गमनागमन के क्षेत्र को सीमित करने का प्रण या संकल्प लेना दिशा परिमाण व्रत कहलाता है।

दिशा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाला गमनागमन की मर्यादा इस प्रकार भी कर सकता है कि मै अमुक दिशा मे, अमुक देश, प्रदेश, नगर, ग्राम, पहाड, नदी, वन, झील आदि से आगे नही जाऊँगा। अथवा इस तरह भी कर सकता है कि मै अपने मनोनीत केन्द्र स्थान अमुक दिशा में इतने दिन, पक्ष, या मास मे या इतने समय मे पैदल या अमुक सवारी से जितनी दूर जा सकूँगा, उससे आगे नही जाऊँगा। गमनागमन की मर्यादा कोस, किलोमीटर, फर्लांग, गज, फीट, हाथ, इच आदि के रूप मे भी की जा सकती है।

यह व्रत स्वीकार करने वाले की इच्छा पर निर्भर है कि वह किसी भी क्षेत्र को केन्द्र मानकर व्रत ग्रहण करे। वह इस बात के लिए भी स्वतत्र है कि अमुक दिशा मे आवागमन का क्षेत्र कम रखे और अमुक दिशा मे अधिक रखे। श्रावक को अपनी परिस्थिति का विचार कर गमनागमन के लिए आवश्यक क्षेत्र खुला रख कर शेष क्षेत्र में गमनागमन करने का त्याग कर लेना चाहिये।

यह ध्यान रखना चाहिए कि दिशा परिमाण व्रत का सकल्प जीवन भर के लिए किया जाता है, एक दिन-रात या कम समय के लिए नही। इस बात को दृष्टिगत रख कर ही जीवन भर के लिए सभी दिशाओ मे गमनागमन की सीमा करनी चाहिए। केवल एक दिन-रात (अहोरात्रि) या कम समय के लिए की गई गमनागमन की मर्यादा की गणना देशावकाशिक व्रत मे होती है।

उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत :

श्रावक का दूसरा गुणव्रत उपभोग-परिभोग, परिमाण व्रत है। इस व्रत मे दैनंदिन उपयोग में आने वाली वस्तुओ की मर्यादा की जाती है। विवेकवान् सद्गृहस्थ श्रावक रोजमर्रा के उपयोग में आने वाले पदार्थों की एक मर्यादा निश्चित कर लेता है और उसके सिवाय सब उपभोग-परिभोग योग्य पदार्थों का त्याग कर देता है। इस प्रकार स्वेच्छा से उपभोग्य एवं परिभोग्य पदार्थों की मर्यादा कर लेना उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत कहलाता है।

मनुष्य का जीवन भोगोपभोग के लिए नही है। सही अर्थों मे यह मानव जीवन मोक्ष की साधना के लिए प्रयत्न करने हेतु है। अत: विवेकी श्रावक भोगो के पीछे अन्धा होकर नही दौड़ता, अपितु अपनी परिस्थिति, शक्ति, रुचि, हैसियत और आर्थिक क्षमता का विवेक करके भोगो की मर्यादा करता है। इसलिए उसके लिए उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत आवश्यक बताया गया है।

श्रावक जिन-जिन पदार्थों का उपभोग-परिभोग करता है, उसके पीछे उसकी दृष्टि इन्द्रिय विषयो मे आसक्त होकर उन्हे पोसते रहने की नही होनी चाहिए। सामान्यतया सांसारिक पदार्थों का उपभोग दो कारणो से होता है—एक तो शरीर रक्षा के लिए और दूसरा भोग-विलासो की प्राप्ति के लिए। इन दोनो कारणों मे से श्रावक को दूसरे कारण से उपभोग-परिभोग का सर्वथा त्याग करना चाहिये। अनिवार्य शरीर रक्षा के लिए किये जाने वाले उपभोग-परिभोग के सम्बन्ध मे भी यह मर्यादा करनी चाहिए कि मै अमुक-अमुक पदार्थों का ही उपभोग-परिभोग करूँगा, शेष का नही।

इस व्रत का उद्देश्य श्रावक को जीवन जीने की ऐसी कला सिखाना है, जिससे वह अनिवार्य कारण वश सेवन किये जाने वाले पदार्थों का भी विवेकपूर्वक मर्यादापूर्वक उपभोग करते हुए अपना जीवन सुख-शान्तिपूर्वक बिता सके—

ससार मे मुख्यतया लोग दो तरह से जीवन जीते है—एक तो इन्द्रिय जन्य विषयो की पूर्ति के लिए अन्धाधुन्ध, अविवेकपूर्वक पदार्थों का उपभोग करके और दूसरे, विवेकपूर्वक शरीर रक्षा के लिए अनिवार्य पदार्थों का उपभोग करके। दूसरे प्रकार से जीवन जीने वाले व्यक्ति सातवा व्रत ग्रहण करके अपने जीवन के कलाकार बनते है। वे अपने जीवन को मितव्ययी, स्फूर्तिमान एव स्वस्थ-सशक्त बनाकर यथाशक्ति तप, त्याग एव चारित्र पालन द्वारा पूर्ण आत्मिक विकास की ओर ले जाते है।

भगवान् महावीर फरमाते है कि अगर तुम अपने जीवन के बादशाह

बनना चाहते हो तो शरीर, इन्द्रियों और मन के विषय भोगो के गुलाम मत बनो। भोगो के गुलाम बनोगे तो इन्द्रियो, शरीर और मन पर आधिपत्य करने के बदले, ये तीनो तुम पर आधिपत्य करने लगेगे। इन तीनो पर आधिपत्य करने का ही नाम है—अपने जीवन के बादशाह बनना। जीवन के बादशाह बनने का सबसे आसान तरीका है उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के पालन का अभ्यास करना। तब तुम उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थो के गुलाम न बनकर उन्हे अपने अधीन बना सकोगे। देवानुप्रियो ! इन सांसारिक काम भोगो के गुलाम बनकर अपनी जिन्दगी को बर्बाद मत करो, दु खी मत बनाओ। अपनी आत्म-शक्ति को प्रकट करो। त्याग से ही आत्म-शक्ति प्रकट होगी। अपने जीवन के बादशाह बनो। भोगो की गुलामी से भोग तुम पर हावी हो जाएँगे और तुम्हारी दुर्दशा कर डालेगे। तुम समर्थ होते हुए भी भोगों की मनोवृत्ति के कारण अपनी शक्ति को नही पहचान पाओगे और कुछ भी नही कर सकोगे। जो भोगो के गुलाम है वे जीवन के स्वामी या बादशाह नही हो सकते। उनकी सदा यही शिकायत रहती है कि शरीर मेरी आज्ञा मे नही चलता, ये इन्द्रियाँ मेरा कहना नही मानती। कान मेरे वश मे नही, आँखे मेरे आदेश का पालन नही करती। मन मेरी बात नही मानता। आत्म-शक्ति का सच्चा विकास पदार्थो के उपभोग मे नही, त्याग मे है। त्याग की शक्ति जितनी बढेगी उतना ही पदार्थो की पराधीनता से छुटकारा मिलेगा और उतनी ही आत्म-शक्ति बढेगी। अतएव पदार्थो के त्याग द्वारा आत्म-शक्ति बढाने का सर्वोत्तम उपाय सातवा व्रत है।

'उपासकदशाग' सूत्र मे आनन्द श्रमणोपासक की जीवन चर्या का स्पष्ट वर्णन है। बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राओ का स्वामी आनन्द श्रमणोपासक कितनी सीधी-सादी और जीवन के लिए उपयोगी अल्प से अल्प वस्तुएँ अपने उपभोग-परिभोग के लिए रखता है। यह एक ठोस सत्य है कि जो मनुष्य अपनी आत्मा का विकास चाहता है, आत्म-शक्ति बढाना चाहता है, उसके लिए आवश्यक है कि वह कम-से-कम चीजों का संग्रह और उपभोग करे।

मूल व्रतों में प्रशस्तता :

इस व्रत को स्वीकार करने से मूल व्रतों का विकास होता है। पाँच मूल व्रतों के धारक श्रावक को उन व्रतो की सुरक्षा और वृद्धि के उद्देश्य से वृत्ति का संकोच करना आवश्यक है। इस हेतु से छठा दिग्परिमाण व्रत लिया है। इस व्रत से मर्यादित क्षेत्र के बाहर का क्षेत्र एव वहाँ के पदार्थादि से तो श्रावक विरत हो जाता है परन्तु मर्यादित क्षेत्र के अन्तर्गत पदार्थो का उपभोग-परिभोग तो सर्वथा खुला रहता है, उनकी सीमा नही रहती, जिससे जीवन अनियत्रित रहता है। असंयमित जीवन वाले के मूल व्रत निर्मल नही रह सकते। इसी बात को

दृष्टिगत रखकर यह सप्तम व्रत बताया है । इसके स्वीकार करने पर मर्यादित क्षेत्रान्तर्गत पदार्थो के उपभोग-परिभोग की मर्यादा हो जाती है । इस प्रकार मूल व्रतो को स्वीकार करने पर जो अव्रत शेष रह जाता है, वह दिग्परिमाण व्रत धारण करने से क्षेत्र से, और उपभोग-परिभोग परिमाण के स्वीकार से द्रव्य से सकुचित हो जाता है । इस प्रकार मूल व्रत इसके कारण प्रशस्त बनते है । इसीलिए भगवान् महावीर ने उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थो एव व्यवसायो की मर्यादा हेतु यह सातवा व्रत बताया है ।

वर्तमान युग में भोगों की बढती हुई लालसा, उच्छृखलता, संयमहीनता, अनुशासनहीनता, स्वादवृत्ति एवं स्वेच्छाचारिता को देखते हुए इस सम्बन्ध मे स्वेच्छाकृत मर्यादा की कितनी आवश्यकता है, यह सहज ही समझा जा सकता है । जो मनुष्य अपने उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थो एव व्यवसाय के सम्बन्ध में मर्यादाबद्ध है, उनका जीवन सुखी, विश्वसनीय और परमार्थनिष्ठ होता है ।

स्वरूप और प्रकार :

उपभोग-परिभोग का सामान्य अर्थ होता है—जीवन निर्वाह के लिए अथवा शरीर धारण या शरीर रक्षा के लिए पदार्थो की मर्यादा करना अर्थात् नियत मात्रा मे उनका सेवन करना । आवश्यकवृत्तिकार उपभोग-परिभोग की परिभाषा इस प्रकार करते है :—

> "उपभोग· सकृदभोग: स चाशनपानानुलेपनादीनाम् ।
> परिभोगस्तु पुनर्पुन. भोग्य स चासन-वसन-शयन वनितादीनाम् ।।"

जो पदार्थ एक बार सेवन करने के पश्चात् तत्काल या समयान्तर मे पुन सेवन न किया जा सके, उसे उपभोग कहते है । जैसे भोजन, पानी, अग-विलेपन आदि । इसके विपरीत जो वस्तु एक बार से अधिक बार भी सेवन की जा सकती है, उसे परिभोग कहते है । जैसे आसन, शय्या, वस्त्र, वनिता आदि । 'रत्न करण्ड श्रावकाचार' में उपभोग-परिभोग के बदले भोग और उपभोग शब्द प्रयुक्त हुए है, जिनका अर्थ भी पूर्ववत् ही है । ऐसे उपभोग और परिभोग के योग्य पदार्थो के विषय मे ऐसी मर्यादा करना कि अमुक-अमुक पदार्थो के सिवाय शेष पदार्थो का उपभोग-परिभोग नही करूँगा, इस मर्यादा को उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत कहते है ।

अनर्थ दण्ड विरमण व्रत :

श्रावक का आठवाँ व्रत तथा तीसरा गुणव्रत अनर्थ दण्ड विरमण व्रत है । श्रावक जब अपनी आवश्यकता और व्यवसाय पर पहरेदारी रखता है तो बहुत

सारे आस्रवों से बच जाता है फिर भी उसके जीवन में बहुत-सी प्रवृत्तियाँ ऐसी रह जाती है, जो न तो उपभोग-परिभोग की मर्यादा मे आती है और न व्यवसाय की मर्यादा मे। श्रावक को ऐसी प्रवृत्तियों मे सार्थक-निरर्थक का विश्लेषण करके सार्थक प्रवृत्तियाँ रखकर निरर्थक प्रवृत्तियो को छोड देना चाहिये। निरर्थक प्रवृत्तियो को छोड देने के लिए प्रभु महावीर ने श्रावक के लिए आठवे अनर्थ दण्ड विरमण व्रत का विधान किया है।

श्रावक ने पाँच मूल अणुव्रतो को अगीकार करते समय जिस-जिस बात की छूट रखी है, उसका उपभोग करते समय सार्थक और निरर्थक का अन्तर समझ कर निरर्थक उपभोग से बचना आवश्यक है। जैसे सुघड नारी गेहूँ आदि अनाज के कणो के साथ मिले हुए ककरो को बीनकर अलग कर देती है, इसी प्रकार सुज्ञ श्रावक को अशुभ आस्रव जनित दण्ड रूप प्रवृत्तियो मे से निरर्थक प्रवृत्तियो को छाटकर अलग कर लेना है और सार्थक को रखना है।

जैसे बुद्धिमान व्यक्ति दूध देने वाली गाय की लात सहन कर लेता है, किन्तु कोई दूध न देने वाली गाय व्यर्थ ही लात मारती हो तो वह असह्य होती है। इसी प्रकार अशुभास्रव जनित दण्ड रूप सभी प्रवृत्तियाँ त्याज्य होती है, लेकिन गृहस्थ श्रावक को अपना गृह कार्य चलाने तथा जीवन निर्वाह करने के लिए कुछ प्रवृत्तियाँ करनी पडती है। जब दण्ड रूप प्रवृत्तियाँ करनी ही पडती है तो वे ही प्रवृत्तियाँ करे जिनसे कुछ प्रयोजन सिद्ध होता हो। जिन प्रवृत्तियो से कुछ प्रयोजन सिद्ध होता हो उनका दण्ड श्रावक सहन कर लेता है, परन्तु जिनसे कोई लाभ नही होता, कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता, उनका दण्ड निरर्थक होने से उसे सहन नही करना चाहिये।

श्रावक ने पाँच अणुव्रतो द्वारा बहुत-सी दण्ड रूप प्रवृत्तियाँ बद कर दी, उसके बाद दिशाओ मे गमनागमन की मर्यादा करके उन प्रवृत्तियो को क्षेत्र से सीमित कर दी, उसके बाद उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के द्वारा और भी कई प्रवृत्तियाँ कम कर दी, किन्तु फिर भी काया से सम्बन्धित कुछ प्रवृत्तियाँ तथा मन-वचन से सम्बन्धित अधिकांश प्रवृत्तियाँ अभी शेष रही है। अब देखना यह है कि उन अवशिष्ट दण्ड रूप प्रवृत्तियो मे कौन-सी अर्थ दण्ड रूप है और कौनसी अनर्थ दण्ड रूप है ?

वैसे तो इनके नापने का कोई एक थर्मामीटर नही है। अपना विवेक ही इसके नापने का मापदण्ड या थर्मामीटर है। प्रत्येक व्यक्ति की परिस्थिति एक सरीखी नही होती, अत· पृथक्-पृथक् परिस्थिति के कारण एक ही निर्णय नही दिया जा सकता कि यह अर्थ दण्ड है। इसका निर्णय तो व्यक्ति स्वय अपने विवेक से कर सकता है।

अनर्थ दण्ड की व्याख्या :

आचार्य उमास्वाति ने अनर्थ दण्ड में अर्थ-अनर्थ शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है :—

"उपभोग परिभोगी अस्यागारिणोऽर्थः तद्व्यतिरिक्तोऽनर्थ. ।"

—तत्त्वार्थ भाष्य—७/१६

जिससे उपभोग-परिभोग होता हो, वह श्रावक के लिए अर्थ है और इससे भिन्न हो—अर्थात् जिससे उपभोग-परिभोग न होता हो, वह अनर्थ है। उपभोग-परिभोग के प्रयोजन के बिना जो मन, वचन, काया की दण्ड रूप प्रवृत्ति हो, वह अनर्थ दण्ड है। उसका त्याग अनर्थ दण्ड विरति नामक व्रत है।

वास्तव मे अनर्थ दण्ड विरति व्रत की उपयोगिता यह है कि श्रावक अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति के फलाफल पर विचार करना सीखे और जिन प्रवृत्तियो से हानि के बदले लाभ कम हो, पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक हो, उनका त्याग करे। अहिसादि व्रतो के वर्णन मे जो हिसा आदि के अपवाद बताये गये है, उनका दुरुपयोग न हो जाए, इसके लिए अनर्थ दण्ड विरति है। व्रतो का संरक्षक तथा मूल व्रतो मे विशेषता पैदा करने वाला होने से यह गुणव्रत है।

आचार्य अभयदेव ने अनर्थ दण्ड को केवल हिसा से सम्बन्धित माना है। उन्होने 'उपासकदशांग' की टीका में लिखा है :—

"अर्थ प्रयोजनम् गृहस्थस्य क्षेत्र-वास्तु-धन-धान्य-शरीर पालनादि विषयं, तदर्थे आरम्भे भूतोपमर्दोऽर्थदण्ड·। दण्डो, निग्रहो, यातना, विनाश इति पर्याया :। अर्थेन प्रयोजनेन दण्डोऽर्थदण्ड·। स चैवम्भूत उपमर्दनलक्षण दण्डः। क्षेत्रादि प्रयोजनम्पेक्षमाणोऽर्थदण्डः उच्यते। तद्विपरीतोऽनर्थदण्ड ।"

अर्थात् गृहस्थ अपने खेत, घर, धन, धान्य या शरीर पालन आदि प्रवृत्तियों के लिए जो आरम्भ द्वारा प्राणियों का उपमर्दन करता है वह अर्थदण्ड है। दण्ड, निग्रह, यातना और विनाश—ये चारो एकार्थक है। इसके विपरीत अर्थात् निष्प्रयोजन ही प्राणियो का विघात करना अनर्थदण्ड है। प्रमाद, कुतूहल, अविवेक आदि के वश होकर जीवो को कष्ट देना अनर्थ दण्ड है।

अनर्थ दण्ड विरमण व्रत से श्रावक के जीवन मे बहुत ही शुद्धि आ जाती है। जैसे—किसान खेती करने से पहले खेत मे उगे हुए निरर्थक घास-फूस, झाड-झंखाड को उखाड फेकता है तभी उसमें बीज बोने पर सुन्दर खेती हो सकती है, वैसे ही गृहस्थ साधक को सामायिक आदि की साधना करने से पूर्व अनर्थ दण्ड के घास-फूस को उखाड फेकना चाहिए। तभी समभाव आदि के

बीज हृदय-भूमि में बोने पर आत्म-विकास की सुन्दर फसल लहलहा सकती है।

चार शिक्षाव्रत : सामायिक व्रत :

गृहस्थ श्रावक पाच मूल अणुव्रतो को और उन्हे पुष्ट करने वाले तीन गुणव्रतों को स्वीकार करके अपने जीवन रूपी वट वृक्ष को हरा-भरा, पुष्पित, फलित, छायावान और रमणीय बना लेता है। उसके जीवन में इन आठ व्रतों द्वारा त्याग वृत्ति आ जाती है। पॉच अणुव्रतो द्वारा वह हिसादि आस्रवों का—महापाप का त्याग कर देता है। भौतिक पदार्थो में आनन्द मानना छोड़कर जीवन निर्वाह के लिए सीमित पदार्थो का उपभोग-परिभोग स्वीकार करता है। क्षेत्र मर्यादित करता है और उनमे भी निरर्थक हिसादि का त्याग करता है, अपनी आवश्यकताओं को सीमित कर लेता है। इस प्रकार उसके जीवन मे त्याग भावना साकार हो उठती है। लेकिन यह त्याग वृत्ति तभी टिक सकती है, जब श्रावक आध्यात्मिक आनन्द से ओतप्रोत हो, आत्मा-अनात्मा का भेद विज्ञान हो और आत्मा के निजी गुणों में ही वह अधिकतर मग्न रहने का प्रयत्न करे। वैराग्य भावना के बिना त्याग वृत्ति टिकती नही है, उसमे स्थिरता नही आती। इसी दृष्टीकोण से शास्त्रकारों ने सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास एव अतिथि सविभाग, इन चार शिक्षा व्रतो का विधान किया। इन चारो व्रतों का जितना अधिक अभ्यास किया जायगा, उतना ही श्रावक व्यापक एव प्रशस्त बनेगा, पूर्वोक्त आठ व्रतों में उत्तरोत्तर शुद्धता आएगी। आत्मिक आनन्द की अनुभूति हेतु जिनका अधिकाधिक अभ्यास करना आवश्यक है वे व्रत शिक्षाव्रत कहलाते है। समभाव की पुष्टि के लिए सामायिक व्रत, सासारिक प्रवृत्तियो से आशिक अवकाश लेने के लिए देशावकाशिक व्रत, आत्म-चिन्तन, आत्म-शोधन एव आत्म-निर्माण के लिए पौषध व्रत एव औदार्य गुण के विकास के लिए अतिथि सविभाग रूप चार शिक्षा व्रतो का शास्त्रकारो ने विधान किया है। चार शिक्षाव्रतो मे प्रथम शिक्षाव्रत है :—

सामायिक की साधना :

समता भाव के विकास और अभ्यास के लिए, लिये हुए व्रतों की स्मृति को ताजी रखने के लिए, अनात्मभाव पर आत्म-भाव की विजय सिद्धि के लिए, आत्म-चिन्तन के लिए प्रतिदिन ४८ मिनिट तक एकान्त-शान्त स्थान मे बैठकर सब प्रकार के पापमय व्यापारो का परित्याग करना सामायिक व्रत है।

सामायिक ईश्वरोपासना एव आत्मोपासना का सर्वोत्तम साधन है। आत्मा का साक्षात्कार करने और उसकी अनुपम विभूति के दर्शन करने का यह चमत्कारिक प्रयोग है। यह बाह्य ससार के अशान्त वातावरण से दूर हटकर

अन्तर्जगत् के सुरम्य नन्दन वन मे विहार करने का प्रवेश द्वार है। अशान्ति की ज्वालाओ मे जलते हुए जीवो को शान्ति प्रदान करने के लिए यह शीतल मन्दाकिनी है। ससार के दु ख-दावानल की शान्ति के लिए यह महा मेघ की धारा है। यह मोह-महारोग को निर्मूल कर आध्यात्मिक जीवन प्रदान करने वाली सजीवनी है।

सामायिक का अर्थ और उद्देश्य प्राणिमात्र को आत्मवत् समझते हुए समत्व का व्यवहार करना है। सम, आय और इक् तीनों मिलकर सामायिक शब्द बना है। सम का अर्थ है समता-समभाव। समता का लाभ जिसमे हो वह सामायिक है। सब जीवों पर मैत्री भाव रखना सम है। सम का लाभ होना ही सामायिक है। पापमय प्रवृत्तियो का परित्याग और निरवद्ययोग का आचरण जीव के इन दो परिणामो को सम कहते है। उसकी प्राप्ति ही सामायिक है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र को सम कहते है। इनमे प्रवृत्ति करना ही सामायिक है।

उक्त सब व्युत्पत्तियों का आशय एक ही है, वह है समता। समता ही सामायिक है। समभाव का ज्ञान, समभाव पर श्रद्धा एवं समभाव का आचरण—ये तीनो मिलकर भाव सामायिक है।

द्रव्य सामायिक और भाव सामायिक :

कम-से-कम दो घड़ी (४८ मिनट) के लिए स्वच्छ, निरवद्य, शान्त स्थान मे आसन बिछाकर गृहस्थ वेष के कपडे उतारकर, मुख वस्त्रिका लगाकर, पूंजनी लेकर एक जगह बैठना और समभाव का चिन्तन-मनन करना, समभाव के परम उपासक वीतराग देव के स्वरूप का चिन्तन करना, जप करना, आनुपूर्वी आदि विविध माध्यमों से परमेष्ठि मत्र का स्मरण करना, आत्मा में समभाव की ज्योति जगाना, मन-वचन काया की शुद्धि रखना, विधि पूर्वक सामायिक ग्रहण करके समभाव का अभ्यास करना द्रव्य सामायिक है। जबकि भाव सामायिक है—राग-द्वेष के प्रसंगो पर समभाव रखना, राग-द्वेष रहित होने का प्रयत्न करना, सावद्य योग से आत्मा को हटाकर स्व-स्वभाव मे रमण करना।

एक आचार्य सामायिक का लक्षण बताते हुए कहते है :—

"समता सर्वभूतेषु सयम शुभ भावना।
आर्तरौद्र परित्यागस्तद्धि सामायिक व्रतम्॥

सब प्राणियो पर समता रखना, पाँचो इन्द्रिय विषयो के निमित्त मिलने पर राग-द्वेष न करना, संयम रखना, अन्तर्हृदय मे मैत्री आदि शुभ भावना

रखना और आर्तरौद्र ध्यानों का परित्याग करके धर्म ध्यान का चिन्तन करना सामायिक व्रत है।

आचार्य हेमचन्द्र द्रव्य प्रधान भाव सामायिक का लक्षण 'योग शास्त्र' मे इस प्रकार बतलाते है :—

"त्यक्त्वार्त्तरौद्र ध्यानस्य, त्यक्तसावद्यकर्मणः ।
मुहूर्त समतायास्ता विदुः सामायिक व्रतम् ।।"

गृहस्थ श्रावक का सब प्रकार के अशुभ आर्त-रौद्र ध्यान और सावद्य कार्यो का परित्याग करके एक मुहूर्त तक समभाव मे (आत्म चिन्तन, समत्व चिन्तन एव स्वाध्याय आदि में) व्यतीत करना ही गृहस्थ का सामायिक व्रत है।

निष्कर्ष यह है कि द्रव्य भाव युक्त समत्व साधना का कम-से-कम एक मुहूर्त तक अभ्यास करना सामायिक है। द्रव्य सामायिक बाह्य क्रियाओ तथा मन-वचन-काया की शुद्धता तक सीमित है जबकि विषम भाव का त्याग कर समभाव मे स्थित होना, पौद्गलिक पदार्थो की ममता हटाकर आत्म भाव मे लीन होना भाव सामायिक है। द्रव्य के साथ भाव का मेल होने पर उभय पक्षीय सम भावना की साधना पूरी होती है। तभी व्यावहारिक शुद्धि तथा क्रमशः आत्म विकास की अन्तिम मंजिल मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। द्रव्य सामायिक के साथ भाव सामायिक का योग ही सामायिक व्रत का सच्चा स्वरूप है।

गृहस्थ को अपने दैनिक जीवन व्यवहार मे विविध प्रवृत्तियाँ करनी पडती है। उसका जीवन प्राय. प्रपचमय होता है। अतः उसके लिए यह आवश्यक है कि वह कुछ समय ऐसा निकाले जिसमे वह अपने आध्यात्मिक जीवन का पोषण कर सके। जगत् के कार्यो के लिए बहुत अधिक समय निकालना पडता है, तो आत्मिक कार्य के लिए ४८ मिनट का समय निकालना क्या अनिवार्य नही है ? विवेकशील श्रावक अवश्य ही इतना समय आत्मा के विकास के लिए निकालता है। इतने समय में वह अपने हृदय में इतना आत्मबल भर लेता है कि दुनियादारी के कार्य करते हुए भी वह आत्मा से दूर नही होता। उन कार्यो मे वह आसक्त और लिप्त नही होता। वह तप्त लोह पदन्यास की तरह प्रवृत्ति करता है।

जिस प्रकार घडी मे एक बार चावी देने पर वह चौवीस घटे तक चला करती है, इसी तरह सामायिक रूप आध्यात्मिक चावी देने पर दिन भर की क्रियाओ मे उसका असर होना चाहिये। यदि ऐसा नही होता है तो समझना

चाहिए कि हमारी जीवन-घडी में कोई गड़बडी है । सामायिक व्रत का उद्देश्य यही है कि प्रतिदिन के अभ्यास से इतना आत्मबल विकसित हो जाय, इतना समभाव पैदा हो जाय कि वह आत्मा दुनियादारी की प्रवृत्तियो को करते हुए भी आध्यात्मिक दृष्टि से हीन और क्षीण न हो जाय । उसके प्रत्येक कार्य मे एक-सी समति हो । उसका आत्मिक जीवन और व्यावहारिक जीवन परस्पर असगत न हो । वास्तविक सामायिक का प्रभाव जीवन के सब क्षेत्रो मे हुए बिना नही रहता । यदि सामायिक करते समय ही उसका असर हो और बाद में उसका प्रभाव न पडता हो, तो यह समझ लेना चाहिए कि वह अन्त.करण की शुद्ध सामायिक नही है । यह निस्सदेह है कि यह स्थिति प्राप्त करना साधारण बात नही है। फिर भी उद्देश्य और लक्ष्य इसे प्राप्त करने का होना चाहिये । समभाव की साधना करना बच्चों का खेल नही है, अत. इसे प्राप्त करने हेतु पुन. पुनः प्रयास करना चाहिए । इसलिए यह व्रत शिक्षाव्रत कहलाता है ।

शिक्षा का अर्थ है—अभ्यास । किसी भी विषय मे प्रवीणता या निपुणता प्राप्त करने के लिए उसका पुन· पुन. अभ्यास करना आवश्यक होता है । गणित मे निपुण होने के लिए प्रतिदिन कई तरह के प्रश्न हल करने होते है । सैनिक कृत्यो मे दक्षता प्राप्त करने के लिए कवायद करनी होती है। इसी तरह आत्मिक बल के विकास के लिए समभाव की साधना के लिए और विकारो की शान्ति के लिए पुन पुनः अभ्यास की आवश्यकता होती है । इसीलिए प्रतिदिन सामायिक रूप आत्मिक अभ्यास करने का व्रत बतलाया गया है । इसे शिक्षाव्रत कहने का यही अभिप्राय है ।

साधना और उपासना :

सामायिक के प्रतिज्ञा पाठ मे "भते !", "पज्जुवासामि" ये दो शब्द ऐसे है, जो सामायिक की प्रगति और सुदृढता के लिए पूर्ण समभावी वीतराग प्रभु की समीपता या सान्निध्य को सूचित करते है। इसी प्रकार "सावज्जजोग पच्चक्खामि" तथा "तस्स भते ! पडिक्कमामि, निदामि, गरिहामि, अप्पाण वोसरामि" ये शब्द सामायिक की शुद्धता और पूर्णता के लिए आत्मशुद्धि रूप साधना को सूचित करते है । इस प्रकार सामायिक उपासना और साधना-उभय रूप होने से आत्मा की प्रगति का सर्वोत्तम साधन है ।

उपासना का अर्थ है—समीपता, पास बैठना । आत्मा का परमात्मा के समीप बैठना ही उपासना है । समीपता का लाभ और आनन्द सर्वविदित है । श्रावक के लिए समत्व के पूर्ण आराधक वीतराग परमात्मा का सान्निध्य परम आवश्यक है। वीतराग परमात्मा की समीपता से सामायिक के साधक को उनकी अनत शक्तिमत्ता की गर्मी मिलती है, जिससे उसकी आत्मा का आश्चर्य जनक विकास होता है ।

उपासना की भाँति साधना भी आत्मिक प्रगति का अनिवार्य अंग है। उपासना मे भगवान् का स्मरण प्रधान है, जबकि साधना में जीवन-शोधन की प्रधानता है। जो व्यक्ति अपने जीवन को शुद्ध बना कर वीतराग परमात्मा के सन्मुख उपस्थित होते है, वे ही प्रभु को वास्तविक अर्चना और भक्ति करने में समर्थ होते है। साधना उपासना का पथ प्रशस्त करती है। साधना भूमिका का निर्माण करने की तरह है, जबकि उपासना उसमे बीज बोना है। जमीन शुद्ध हो तो उसमे बीज के उगने में सरलता होती है। सामायिक की उपासना थोडे समय (४८ मिनट) मे हो जाती है, लेकिन सामायिक की साधना मे तो चौबीसो घन्टे निरत रहना होता है। इस प्रकार सामायिक व्रत को साधना तथा उपासना द्वारा निरन्तर पुष्ट और सुदृढ बनाना चाहिए।

बत्तीस दोष :

पूर्वाचार्यो ने सामायिक मे मन, वचन और काया की शुद्धि हेतु तीनो के कुल ३२ दोष बताकर उनसे बचने का निर्देश किया है। इन ३२ दोषों मे से १० मन के, १० वचन के, १२ काया के दोष है। मन के दस दोषो का निरूपण इस प्रकार है :—

"अविवेग-जसोकित्ती लाभत्थी गव्व-भय नियाणत्थी।
ससय रोस अविणओ अबहुमाणए दोसा भणियव्वा॥"

१. अविवेक :—सामायिक मे किसी प्रकार के कार्याकार्य, औचित्य-अनौचित्य, समय-असमय का विचार न रखना या सामायिक के स्वरूप को भली-भाँति न समझना।

२. यश.कीर्ति :—यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा, आदर-सत्कार आदि की लालसा से सामायिक करना।

३. लाभार्थ .—धन, पद, भूमि, साधन, व्यापार मे कमाई, नौकरी मे तरक्की आदि सासारिक लाभ से प्रेरित होकर सामायिक करना।

४. गर्व '—सामायिक मे अपनी जाति, कुल, वल, आदि का अभिमान करना अथवा सामायिक क्रिया का गर्व करना। जैसे—मेरे जैसा सामायिक करने वाला कौन है, आदि।

५. भय :—किसी प्रकार के लोकभय, राजभय या लेनदारादि के भय से सामायिक करने वैठ जाना।

६. निदान —सामायिक का कोई भौतिक फल चाहना। जैसे—सामायिक के वदले मुझे अमुक सांसारिक सुख की प्राप्ति हो।

७. संशय :—सामायिक के फल के सम्बन्ध में सन्देह करना। जैसे—यह सोचना कि मै सामायिक करता हूँ परन्तु उसका फल मुझे मिलेगा या नही, आदि।

८. रोष :—सामायिक मे क्रोधादि करना या लड़-झगड़ कर या रूठकर सामायिक करना।

९. अविनय :—सामायिक के प्रति अनादर या देव-गुरु धर्म का अविनय करना।

१०. अबहुमान :—वेगार समझ कर सामायिक करना, हार्दिक भक्ति से प्रेरित नही होकर सामायिक करना। उक्त दस दोष मन से सम्बन्धित है।

वचन के १० दोप इस प्रकार है :—

"कुवयण सहसाकारे सच्छदसखेव कलहं य।
विगहा विहासो सुद्ध निरवेक्खो मुणमुणा दोसा दस।"

१. कुवचन :—सामायिक मे कुत्सित, भद्दे, अपशब्द बोलना, मर्मस्पर्शी ताना मारना।

२. सहसाकार :—बिना विचारे सहसा हानिकर असत्य वचन बोलना।

३. स्वच्छद —सामायिक में कामोत्तेजक, उच्छृंखल, अश्लील गीत गाना या गन्दी वाते करना।

४ सक्षेप .—सामायिक मे पाठ को संक्षिप्त करके बोलना।

५. कलह .—सामायिक मे कलहकारी–क्लेशकारी वचन बोलना।

६. विकथा :—बिना किसी सदुद्देश्य के स्त्री कथा, भुक्त कथा (भोजन सम्बन्धी चर्चा), राज कथा और देश कथा करना।

७. हास्य :—सामायिक मे हँसी मजाक करना।

८. अशुद्ध ·—सामायिक का पाठ अशुद्ध वोलना।

९. निरपेक्ष :—सिद्धान्त विरुद्ध एकान्त या निश्चयकारी वचन वोलना अथवा विना सावधानी रखे वोलना।

१०. मुम्मन .—सामायिक के पाठ आदि का स्पष्ट उच्चारण न करते हुए ...अस्पष्ट गुनगुनाते हुए उच्चारण करना।

शरीर से सम्बन्धित १२ दोष इस प्रकार है :—

"कुआसण चलासण चल दिट्ठी,
सावज्ज किरिया लबणाकुंचण पसारणं ।
आलस–मोडण–मल विभासणं,
निद्या वेयावच्चति बारस कायदोसा ।।

१. कुआसन :—सामायिक मे पैर पर पैर चढाकर या अविनय पूर्वक या अन्य कुआसन से बैठना ।

२. चलासन :—स्थिर आसन से न बैठते हुए बार-बार आसन बदलते रहना ।

३. चल दिट्ठ :—सामायिक मे दृष्टि को स्थिर न रखते हुए बार-बार इधर-उधर देखना ।

४ सावद्य क्रिया :—शरीर से पापजनक क्रिया करना, इशारा करना, घर की रखवाली करना आदि ।

५. आलम्बन :—बिना किसी कारण के दीवार आदि का सहारा लेकर बैठना ।

६. आकुंचन-प्रसारण :- बिना किसी कारण के हाथ–पैर सिकोडना या फैलाना ।

७. आलस्य :—सामायिक मे बैठे हुए आलस्य मोडना ।

८. मोडन —सामायिक मे हाथ–पैर की अंगुलियाँ चटकाना ।

९ मलदोष :—सामायिक मे बैठे–बैठे शरीर पर से मैल उतारना ।

१०. विभासन —कपोल पर हथेली रखकर शोक ग्रस्त की तरह बैठना या विना पूंजे शरीर खुजलाना ।

११. निद्रा :—सामायिक मे नीद लेना ।

१२ वैयावृत्य या कम्पन -- सामायिक मे बैठे हुए अकारण ही दूसरे से सेवा कराना अथवा स्वाध्याय करते समय सिर हिलाना या शीत-उष्ण के कारण कापना ।

इस प्रकार मन के १० दोष, वचन के १० दोष और शरीर के १२ दोष है । इन बत्तीस दोषो से बचना सामायिक के साधक के लिए आवश्यक है । इन मन-वचन-काया की शुद्धि से सामायिक विशुद्ध होती है ।

सामायिक व्रत के अतिचार :

सामायिक व्रत मे श्रावक के सामने अनेक खतरे पैदा हो सकते है। उनसे उसे सावधान रहना चाहिए वे अतिचार जो सामायिक को दूषित करने वाले है, उनसे बचना चाहिए। सामायिक व्रत के पॉच अतिचार इस प्रकार है .—

१. मन दुष्प्रणिधान, २. वचन दुष्प्रणिधान, ३. काय दुष्प्रणिधान, ४ सामायिक स्मृति–भ्र श और ५. सामायिक अनवस्थिति।

१. मन दुष्प्रणिधान :—सामायिक के भावो से बाहर मन को दौड़ाना, सासारिक प्रपचो एव कार्यो का दुर्विकल्प मन में करना, मन दुष्प्रणिधान नामक अतिचार है।

२. वचन दुष्प्रणिधान :—सामायिक के दौरान कटु, कर्कश, निष्ठुर या असभ्य अपशब्द बोलना वचन दुष्प्रणिधान है।

३ काया दुष्प्रणिधान —सामायिक मे काया को बार-बार हिलाना, काया से कुचेष्टा करना, अकारण शरीर को सिकोडना, फैलाना आदि काया दुष्प्रणिधान है।

४ सामायिक स्मृति भ्रश :—सामायिक ग्रहण की है, इस बात को भूल जाना या सामायिक करना ही भूल जाना।

५ ·–सामायिकानवस्थिति :– सामायिक को बेगार समझ कर जैसे-तैसे अनादर पूर्वक करना, सामायिक पूरा होने से पहले ही अनजाने मे सामायिक पार लेना, बार-बार घड़ी देखना या विचार करना कि सामायिक पूर्ण हुई या नही इत्यादि रूप से अनमने भाव से सामायिक करना।

देशावकाशिक व्रत :

श्रावक के बारह व्रतो मे से दसवाँ और शिक्षाव्रतो मे से दूसरा व्रत देशावकाशिक है। श्रावक अहिसादि पॉच अणुव्रतो को प्रशस्त बनाने और उनमे गुण उत्पन्न करने के लिए दिक् परिमाण तथा उपभोग-परिभोग परिमाण नाम के जो व्रत स्वीकार करता है, उनमे वह अपनी आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार जो मर्यादा रखता है वह जीवन पर्यन्त के लिए होती है। लेकिन श्रावक उन सब का उपयोग प्रतिदिन नही करता है। इसलिए एक दिन-रात के लिए उस मर्यादा को घटा देना, आवागमन के क्षेत्र और भोग्योपभोग्य पदार्थो की मर्यादा को सकुचित कर देना देशावकाशिक व्रत है।

आंशिक अवकाश :

देशावकाशिक व्रत साधना की अपेक्षा रखता है। इस साधना मे व्यक्ति को अपने शरीर और शरीर सम्बन्धी कार्यो (व्यापार, नौकरी, शरीर शृ गार, ऐश-आराम, आलस्य, विलासिता, इन्द्रिय-विषयो की भोगासक्ति आदि दैनिक कृत्यो) से अवकाश (छुट्टी) लेना पडता है। "देश" शब्द अश का वाचक है और अवकाश शब्द वर्तमान मे प्रचलित "छुट्टी" का वाचक है। इस प्रकार दोनो शब्दो का मिलकर यह भावार्थ हुआ कि शरीर से संबधित कार्यो से आशिक (एक दिन रात की या इससे भी कम समय की) छुट्टी लेकर आत्म-चिन्तन, आत्मगुणो के मनन, स्वभाव रमण, स्वरूप चिन्तन पाँच आस्रवो का निरोध करके सवर मे संलग्न होना देशावकाशिका व्रत है।

अध्यात्म का चौका :

देशावकाशिक व्रत अध्यात्म का चौका है। जैसे भोजन करने वाला ब्राह्मण भोजन करते समय ही चौका लगाता है और उस चौके मे किसी अपवित्र वस्तु को घुसने नही देता, वैसे ही सद्गृहस्थ श्रावक भी देशावकाशिक व्रत रूपी चौका लगाकर आत्मिक भोजन करने बैठे, उस समय भोजन काल पर्यन्त अपने उस चौके मे किसी आस्रव को, किसी अपवित्र सावद्य विचार को, अपवित्र वाणी या अपवित्र काय चेष्टा को न घुसने दे। अगर उस श्रावक के पवित्र आत्मिक चौके में अनात्मिक वस्तु, विचार, वाणी या चेष्टा के रूप मे घुसती है, तो समझना चाहिए कि उसका वह चौका भ्रष्ट हो गया।

देशावकाशिक व्रतों की अवधि :

देशावकाशिक व्रत मे साधक कितने समय का अवकाश आत्मिक व्यापार के लिए ले ? यह एक प्रश्न है। इसका उत्तर विभिन्न आचार्य अलग-अलग दृष्टिकोण से अलग-अलग प्रकार से देते है। एक आचार्य ने इस विषय मे कहा है :—

दिग्व्रत यावज्जीव सवत्सर-चातुर्मासी परिमाण वा ।
देशावकाशिकं तु दिवस-प्रहर-मुहूर्तादि परिमाण ।।

अर्थात्—दिशा परिमाण व्रत जीवन भर, वर्ष भर या चार-चार मास के लिए स्वीकार किया जाता है, किन्तु देशावकाशिक व्रत दिन, प्रहर या मुहूर्त आदि तक के लिए भी किया जाता है। जो देशावकाशिक व्रत प्रहर, मुहूर्त आदि थोडे समय के लिए किया जाता है, उसे वर्तमान युग मे "सवर" कहते है। थोडे समय का देशावकाशिक व्रत, जिसे सवर कहा जाता है, उसे जितने भी कम समय के लिए श्रावक ग्रहण करना चाहे, कर सकता है। पूर्वाचार्यो ने सामायिक

व्रत का समय कम से कम ४८ मिनट का निश्चित किया है । यदि कोई श्रावक ४८ मिनट तक का देशावकाशिक रूप सवर करता है तो उसकी गणना सामायिक मे हो जाएगी । ४८ मिनट से कम समय के लिए अगर कोई श्रावक पाँच आस्रव का त्याग करता है तो उस त्याग की गणना सवर मे ही होगी ।

नियम, आत्मा की खुराक :

जो देशावकाशिक सवर के रूप मे अल्पकाल के लिए ग्रहण किया जाता है, उसमें उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओं से सम्बन्धित १४ नियमो का चिन्तन करने की भी प्रथा है । चौदह नियमों का चिन्तन आत्मा की खुराक है, आत्म शक्ति-वर्धक टॉनिक है, आत्म-शक्ति मे जो छीजत हो गई है, उसकी पूर्ति करने वाला है, नई शक्ति और स्फूर्ति देने वाला है ।

तात्पर्य यह है कि उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत मे जीवन भर के लिए भोगोपभोग के लिए, जो पदार्थ रखे है, उन सबका उपभोग वह प्रतिदिन नही करता है, अत वह एक दिन-रात के लिए उस मर्यादा को घटा देता है ।

देशावकाशिक व्रत की दूसरी व्याख्या :

जिस प्रकार १४ नियमो का चिन्तन करके प्रत्येक नियम के सम्बन्ध मे दैनिक मर्यादा निश्चित की जाती है, द्रव्य और क्षेत्र से भी छठे-सातवे व्रत मे स्वीकृत मर्यादा मे सकोच किया जाता है, उसी प्रकार अणुव्रतो की स्वीकृत मर्यादा मे काल की सीमा तय करके एक दिन-रात के लिए पाँच आस्रव सेवन का त्याग करना भी देशावकाशिक व्रत मे परिगणित होता है । इसका प्रचलित नाम दया व्रत या छह काय व्रत है ।

दया या छह काय व्रत स्वीकार करने के लिए किये जाने वाले प्रत्याख्यान जितने करण और योग से चाहे उतने करण व योग से किये जा सकते है । कोई दो करण तीन योग से पाँच आस्रव द्वारों के सेवन करने का त्याग करते है । अर्थात् यह प्रतिज्ञा करते है कि मन, वचन, काय से पाँच आस्रवो का न तो सेवन करूँगा, न दूसरो से कराऊँगा । इस तरह की प्रतिज्ञा करने वाला व्यक्ति जितने समय तक के लिए प्रतिज्ञा ली है, उतने समय तक न तो स्वय ही व्यापार, कृषि या अन्य आरम्भ-समारम्भ के कार्य कर सकता है और न अन्य से कहकर ही करवा सकता है । लेकिन इस तरह की प्रतिज्ञा करने वाले व्यक्ति के लिए जो वस्तु बनी है, उस वस्तु का उपयोग करने से उसकी प्रतिज्ञा नही टूटती है ।

इस व्रत को एक करण तीन योग से भी स्वीकार किया जा सकता है । जो व्यक्ति एक करण, तीन योग से यह व्रत स्वीकार करता है वह स्वय तो आरम्भ-समारम्भ नही कर सकता लेकिन यदि दूसरे से कहकर आरम्भ-समारम्भ

कराता है तो ऐसा करने से उसका व्रत भंग नहीं होता, क्योंकि उसने दूसरो से आरम्भ-समारम्भ कराने का त्याग नही किया है।

उक्त व्रत को एक करण और एक योग से भी स्वीकार किया जा सकता है। ऐसे प्रत्याख्यान करने वाला व्यक्ति शरीर से ही आरम्भ-समारम्भ के कार्य नही कर सकता। मन और वचन के सम्बन्ध मे तो उसने त्याग ही नही किया है, न कराने या अनुमोदन का ही त्याग किया है।

देश पौषध :

आचार्यो ने इस व्रत को देश पौषध का रूप दिया है। जो लोग चौविहार उपवास के सहित पौषध करते है, उनका तो ग्यारहवाँ प्रतिपूर्ण पौषधोपवास व्रत हो जाता है, किन्तु जो ऐसा न करके तिविहार उपवास करते है यानी उपवास करके साथ मे दिन के समय प्रासुक पानी का उपयोग करते है, उनके इस देशावकाशिक व्रत को देश पौषध कहा है और इसे दसवे व्रत में परिगणित किया है। किन्तु जो निराहार नही रह सकते, वे आयम्बिल, एकाशन आदि करके भी इस व्रत का पालन करते है। जो किसी कारणवश रसहीन भोजन नही कर सकते, वे एकाशन करके ही इस व्रत की आराधना करे, जिसे आज कल 'दयाव्रत' कहा जाता है अन्यथा वह दयाव्रत लोगो की दृष्टि मे उपहास का विषय बन जाता है।

उक्त प्रकार के दयाव्रत को शास्त्रकारों ने एक प्रकार का पौषध व्रत ही माना है। क्योंकि थोड़ा-सा खा-पीकर शरीर को भाड़ा देकर भी दयाव्रती आस्रवो से विरत होकर धर्म का पोषण करता है, सामायिक साधना आदि धर्म ध्यान मे रत रहता है, इसलिए पौषध की कोटि मे जाता है, पौषध की व्याख्या करते हुए 'आवश्यक सूत्र' के वृत्तिकार ने कहा है—

पोष-पुष्टि प्रकर्षाद् धर्मस्य धत्ते करोतीति पौषधः

अर्थात्—जो प्रकर्ष रूप से धर्म की पुष्टि या पोषण करता है वह पौषध है। अथवा :—

पोसेइ कुसलधम्मे, जताहारादि चागाणुट्ठाण।
इह पोसहोत्ति भण्णति, विहिणा जिणमासिएण य॥

आहारादि करके भी यह प्राणातिपात आदि से विरमण के शुभ अनुष्ठान द्वारा कुशल धर्म को पोषण देता है इसलिए जिनेन्द्र भाषित विधि से इसे भी आचार्य पौषध कहते है।

पर्व काल मे इस तरह के पौषध होने का प्रमाण श्री भगवती सूत्र के १२वे शतक के प्रथम उद्देशक के शखजी और पोखलीजी श्रावक के अधिकार मे पाया

जाता है, जिन्होने आहार करके पक्खी पौषध किया था । इस पौषध को करने के लिए पाँच आश्रव द्वार के सेवन का त्याग करके सामायिकादि में समय लगाना चाहिए । दिन-रात भर मे कम से कम ११ और अधिक से अधिक यथाशक्य सामायिक करने की परिपाटी है । श्रावक उस दिन पौषध व्रती की तरह ही प्रतिलेखन, प्रमार्जन, पॉच समितियो और तीन गुप्तियो सहित अपनी दिनचर्या रखता है । उस दिन आहार, नीहार, शयन आदि सब चर्या साधु की तरह यतना से करता है । रात्रि की चर्या भी चौविहार करके सामायिक, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, आत्म-चिन्त, यतना पूर्वक शयन और परमेष्ठी मंत्र का जाप आदि मे बिताये ।

इस प्रकार पांच अणुव्रतो के पालन, पाच आस्रवों के सेवन के त्याग एवं सवर ग्रहण रूप में पूरे दिन-रात के देशावकाशिक व्रत का स्वरूप है ।

देशावकाशिक पौषध व्रत : एक समीक्षा :

दसवे देशावकाशिक पौषध एव ग्यारहवे प्रतिपूर्ण पौषध व्रत के विषय में आगमिक सुस्पष्ट व्याख्या उपलब्ध है । पूर्वाचार्यो की अविच्छिन्न परम्परा से इसकी तर्क-पुरस्सर विवेचना एवं अनुपालना चली आ रही है । तथापि वर्तमान के कुछ महानुभाव देशावकाशिक पौषध एवं प्रतिपूर्ण पौषध की आगम अभिप्राय के प्रतिकूल मन.कल्पित व्याख्या किया करते है ।

उनकी विचारणा के अनुसार दसवॉ पौषध व्रत नही है । वह केवल देशावकाशिक व्रत है, जो छठे व्रत का सकोच मात्र है । अत तिविहार उपवास करने वाले व्यक्ति को भी प्रतिपूर्ण पौषध ही करना चाहिये । दसवे पौषध की सज्ञा का कोई पौषध व्रत नही होता है ।

किन्तु उनकी यह विचारणा आगम से किंचित् भी सिद्ध नही होती है । तीर्थंकर भगवन्तो ने श्रावक व्रत निरूपण पद्धति मे स्पष्ट सकेत दिये है कि ग्यारहवॉ-दसवॉ दोनो ही पौषध व्रत बन सकते है—

इस प्रतिपादन में ग्यारहवे पौषध व्रत के प्रत्याख्यान पाठ में आगत पाँच मर्यादाओ पर ध्यान देना अपेक्षित है, जिनके पालन से ही ग्यारहवॉ पौषध व्रत हो सकता है । वे पॉच मर्यादाएँ-प्रतिज्ञाएँ निम्न है :—

पहली प्रतिज्ञा असणं पाणं खाइमं साइम के त्याग की है । दूसरी अब्रह्मचर्य सेवन से निवृत्ति की है । तीसरी अमुक मणि सुवर्ण के त्याग की है । चौथी माला वण्णग विलेपन के त्याग की है और पॉचवी प्रतिज्ञा शस्त्र-मूसलादि सावद्य योग के त्याग की है । इन पॉच प्रतिज्ञाओ को करने वाला श्रावक अपने मनमाने तरीके से इन पॉच बातो मे से किसी का भी सेवन नही कर सकता । यदि कहे कि पहली प्रतिज्ञा, जो असण पाणं खाइम साइम की है उनमे

पानी की छूट रखकर ग्यारहवाँ पौषध व्रत से प्रत्याख्यान करे तो क्या आपत्ति है ? किन्तु यह पानी की छूट शास्त्रकारो ने नही दी । कोई अपनी इच्छा से छूट करता है तो मूल पाठ से विपरीत स्थिति बनती है । यदि ऐसे इच्छानुसार छूट लेने लगे तो दूसरा व्यक्ति कहेगा कि तुमने मूल पाठ मे छूट नही होते हुए भी छूट रखकर उसी मूल पाठ से पौषध व्रत का पच्चक्खान किया, तो जैसे तुमने पानी की छूट रखी वैसे मै आहार की छूट रखकर ग्यारहवाँ पौषध व्रत उसी मूल पाठ से पच्चख लूँ । तीसरा कहेगा कि तुम दोनो ने आहार की छूट रखकर ग्यारहवाँ पौषध पच्चखा तो मै चारो आहार की छूट रखकर ग्यारहवाँ पौषध कर लूँ । तो अन्य कहेगा कि जब तुम लोगों ने आहार की छूट रखकर पौषध पच्चक्खा तो मै अब्रह्मचर्य की छूट रखकर क्यो न ग्यारहवाँ पौषध पच्चक्ख लूँ ।

इस प्रकार मूल पाठ की शर्तो को इच्छानुसार तोडना प्रारम्भ करेंगे तो कोई किसी शर्त या नियम को तोडेंगे, तो कोई किसी नियम को तोडकर ग्यारहवे पौषध के पाठ से प्रत्याख्यान करेगा । इस प्रकार प्रभु द्वारा प्रतिपादित ग्यारहवाँ व्रत ही अस्तव्यस्त हो जाएगा । फिर तो भगवान् के अभिप्राय के व्रत मे न रहकर व्यक्ति अपने अभिप्रायानुसार व्रतो की व्याख्या करने लगेगा । यह सिलसिला अधिक बढ जायेगा तो ऐसे तर्क देने वाले भी मिल जाएँगे कि जब ग्यारहवे व्रत के नियमो को स्वेच्छा से तोडकर पौषध लिया जा सकता है तो हम बारह ही व्रतो के नियमो को तोडकर स्वेच्छा से व्रत करेंगे । इस प्रकार सारी अस्त-व्यस्तता एव आगे चल करके उत्सूत्र प्ररूपण की स्थिति भी बन जायेगी । जबकि ज्ञानीजनो का कथन है कि भगवान् की वाणी के विपरीत उत्सूत्र प्ररूपण से बढकर कोई बडा पाप नही है । ऐसा करने की अपेक्षा ईमानदारी का तकाजा है कि वह स्वय भगवान् की दुहाई न देकर यह कहे कि मै मनकल्पित बातो पर चलता हूँ । तो फिर भी कुछ सच्चाई एव नैतिकता तो रहेगी । पर दुहाई तो भगवान् की आज्ञा की दे और कार्य अपनी मन-कल्पित धारणा के अनुसार करे तो ऐसा करना स्वय एवं पर दोनो को धोखा देना है । अत. सुज्ञ पुरुषो को चाहिये कि दिन-रात अहोरात जिसकी सज्ञा है उसके अनुसार पाँचो शर्तो का पालन करे वे ही ग्यारहवे प्रतिपूर्ण पौषध से प्रत्याख्यान करे । तब ही भगवदाज्ञा की आराधना का प्रसग बनेगा ।

रहा प्रश्न तिविहार उपवास के रोज पौषध का, तो उस के लिये ज्ञानियो ने दसवे देशावकाशिक व्रत के माध्यम से पच्चक्खान का स्वरूप उपस्थित किया है । जैसे पानी पीना है उसी तरह से प्रासुक अन्न जल लेकर किया जाने वाला पौषध (दया व्रत) भी दसवे व्रत के अन्तर्गत है । भगवती सूत्र के बारहवे शतक के प्रथम उद्देशक मे स्पष्ट दो पौषध का उल्लेख है । एक तो खाते-पीते पौषध का उल्लेख है और दूसरा असणादिक के त्याग के पौषध का । भगवती सूत्र के मूल

पाठ के अभिप्रायानुसार श्रावक वर्ग को खाते-पीते दसवे से एवं असणादिक त्याग रूप पौषध को ग्यारहवे व्रत से पच्चक्खान लेना, शास्त्र सम्मत है ।

दसवे देशावकाशिक व्रत में खाते-पीते पौषध के अतिरिक्त बहुत से त्याग प्रत्याख्यानो का भी समावेश है जिसका विवेचन आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. ने वारहवे व्रत की व्याख्या के सिलसिले मे प्रतिपादित किया है । वहाँ से देखा जा सकता है । यह दसवाँ व्रत सिर्फ छठे व्रत का ही सकोच नही है । मुख्यतया छठे और सातवें व्रत का सकोच है और उपलक्षण से पाँचो अणुव्रत और गौण रूप से आठवे व्रत का भी सकुचन है । इस बात को भी स्पष्ट समझ-लेना आवश्यक है कि यदि प्रभु महावीर को दसवे व्रत मे स्थूल एव सूक्ष्म हिसादि के त्याग के साथ-साथ अन्य पापो के त्याग का अभिप्राय नही होता, मात्र छठे व्रत की दिशा के संकोच का ही अभिप्राय होता तो इसकी गिनती छठे के बाद सातवे नम्बर पर हो जाती या आठवे के बाद नवे नम्बर पर हो जाती । सामायिक का दसवाँ-ग्यारहवाँ प्रतिपूर्ण पौषध व्रत हो जाता । पर ऐसा भगवान् ने नही किया किन्तु भगवान् ने शिक्षाव्रत की दृष्टि से चार व्रतो का प्रतिपादन किया, उस प्रतिपादन से नववाँ सामायिक व्रत एव दसवाँ देशावकाशिक एव ग्यारहवाँ प्रतिपूर्ण पौषध व्रत ये तीनो सवर वृत्तिमय शिक्षा रूप से प्रतिपादित है । नववे मे अडतालीस मिनट की सामायिक मे सावद्य योग का त्याग है । दसवे मे जाव अहोरत्त एक दिन और रात की सावद्य प्रवृत्तियो के त्याग के साथ-साथ वच्चे, वूढे, जवान सबका संवर वृत्ति मे प्रवेश हो इस दृष्टि से प्रासुक असण पाण आदि के उपभोगपूर्वक भी वह सावद्य योगों का शक्त्यानुसार त्याग कर सके उसका समावेश दसवे व्रत मे किया गया है । उसके प्रत्याख्यान का जो पाठ है उस पाठ मे जिस शब्दावली का समावेश है, उस शब्दावली से भी खाते-पीते पौषध का फलितार्थ निकलता है । वह पाठ यह है :—

"दसवाँ देशावकाशिक दिन प्रति प्रभात से प्रारम्भ करके पूर्वादिक छहो दिशा की जितनी भूमिका की मर्यादा रक्खी हो उसके उपरान्त आगे जाकर पाँच आस्रव सेवने का पच्चक्खाण, जाव अहोरत्त दुविह तिविहेणं न करेमि न कार-वेमि, मणसा वायसा कायसा । जितनी भूमिका की हद रखी है उसमे जो द्रव्या-दिक की मर्यादा की है उसके उपरान्त उपभोग-परिभोग भोग निमित्त से भोगने का पच्चक्खाण, जाव अहोरत्तं एकविह तिविहेण न करेमि मणसा, वायसा कायसा, तस्स भते ! पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि ।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दसवाँ व्रत सिर्फ दिशाओ के सकोच का नही है । छठा दिशा सम्वन्धी मर्यादा का व्रत है, वह दिशिव्रत है और यहाँ देशावकाशिक व्रत है । यदि छठे व्रत मे जिन दिशाओ को रखा है उन्ही दिशाओं का मात्र सकोच होता तो यहाँ पर भी दिशिव्रत का उल्लेख होता पर वैसा नही

है । यहाँ देश अवकाश है । देश का अर्थ है श्रावक ने जो देश-व्रत अंगीकार कर रखे है उनमें जितनी भी सूक्ष्म हिसा आदि खुली है एवं ससार का कार्य करते हुए सब में रचा-पचा रहता है, अत. उस रचे-पचे से अवकाश लेना यानी "अहोरत्तं" २४ घटे तक स्थूल एव सूक्ष्म हिसा, असत्य आदि का परित्याग करना । उसमे किसी की शक्ति हो तो वह आहार-पानी आदि कुछ भी न लेकर चौविहार करे तो ग्यारहवे प्रतिपूर्ण पौषध से पच्चवखाण ग्रहण करे । यदि कोई वृद्ध है अथवा कमजोर है अथवा अनेक व्यक्तियो के क्षुधा वेदनीय कर्म का प्रवल उदय होने से चारो आहारो का त्याग नही कर सकने पर वे भी आत्म-साधना तो शक्ति के अनुसार करना ही चाहते है, उन लोगों के लिए दसवाँ पौषध व्रत का प्रावधान है । इस व्रत मे हिसादि सभी का त्याग मर्यादित सीमा के साथ किया जाता है अर्थात् जो साधक प्रासुक निर्जीव अन्न-जलादि को ग्रहण कर चौबीस घण्टे के लिये स्थूल और सूक्ष्म हिसादि का परित्याग कर साधना मे रत रहता है उसके लिए आहार करता है तो निहार की भी आवश्यकता पड सकती है । उस निहार की मर्यादाओ को निर्धारित करने के लिए यह कहा गया कि जितनी भूमिका की हद रखी है यानी बाहर निपटने के लिये इतनी दूर पौषध मे जा सकता है । इस मर्यादा में रहता हुआ जो निर्जीव आहार-पानी ग्रहण करता है तो उस आहार-पानी के द्रव्य की भी मर्यादा करता है । उन द्रव्यो का भोगोपभोग निमित्त से मर्यादा के उपरान्त भोगने का त्याग है । यह त्याग उसके एक करण तीन योग से उल्लिखित है । इसलिए कि वह स्वय तो अपनी मर्यादा मे कायम रहे, पर अन्य सज्जनगण भी उसी खाते-पीते पौषध मे वैठे है तो उनको खिलाने आदि की प्रक्रिया खुली रहती है । अतएव खाते-पीते पौषध करने वाले को इस उपर्युक्त पाठ से पच्चक्खाण करने का प्रसग रहता है । आजकल वह दया व्रत (छः काया) आदि के नाम से भी प्रसिद्ध है ।

प्रतिपूर्ण पौषध व्रत :

श्रावक के बारह व्रतो मे से ग्यारहवाँ तथा चार शिक्षा व्रतो मे से तीसरा शिक्षाव्रत पौषधोपवास व्रत है । इस व्रत को अगीकार करने से आत्मा को प्रवल पुष्टि प्राप्त होती है, अनुपम शान्ति की अनुभूति होती है और आत्मा की वहिर्मुखता मिटकर अन्तर्मुखता का विकास होता है । इस व्रत को अगीकार करने से श्रावक आत्मरमणता के शान्त सरोवर मे अवगाहन करके संसार के ताप से मुक्त होकर परम शान्ति का रसास्वादन करता है । गृहस्थ श्रावक के लिए पौषधोपवास को विश्रान्ति स्थान कहा गया है ।

प्रकार और विधि :

'आवश्यक सूत्र' के वृत्तिकार ने पौपधोपवास का लक्षण वताते हुए लिखा है —

"पौषधे उपवसनं पौषधोपवास: नियमविशेषाभियान चेदं पौषधोपवास:"

अर्थात्—धर्म एवं अध्यात्म को पुष्ट करने वाले विशेष नियम धारण करके उपवास सहित पौषध में रहना पौषधोपवास व्रत है। कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य इसे विशेष स्पष्ट करते हुए कहते है :—

चतुष्पर्व्यां चतुर्थादि कुव्यापार निषेधनम् ।
ब्रह्मचर्यक्रिया स्नानादित्याग: पौषध व्रतम् ।।

अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या, ये चार पर्व दिवस है। इनमें उपवास आदि तप करना, पापमय कार्यो का त्याग करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना और स्नान आदि शरीर शृंगार-प्रसाधन का त्याग करना पौषध व्रत कहलाता है।

पौषध मुख्यतया चार प्रकार का है :—

१. आहार पौषध, २. शरीर पौषध, ३. ब्रह्मचर्य पौषध और ४. अव्यापार पौषध।

१. आहार पौषध—आहार को त्याग करके धर्म का पोषण करना आहार पौषध है। गृहस्थ का अधिकाश समय आहार और तत्सम्बन्धी कार्यो मे नष्ट हो जाता है, अतएव आहार की झंझट से और उसकी गुलामी से मुक्त होकर धर्म-ध्यान मे निरत रहना आहार पौषध कहा गया है। प्रतिदिन आहार करने से शरीर विकारों का घर बन जाता है, कई प्रकार के रोग अड्डा जमाने लगते है, जिनसे धर्म कार्य मे बाधाएँ आती है। आहार करने पर नीहार भी करना पड़ता है। आहार की सामग्री लाने, पकाने, खाने, पचाने मे काफी समय व्यय हो जाता है। भरे पेट से इतना अच्छा आत्म-चिन्तन नही हो सकता जितना निराहार एव खाली पेट रहने से हो सकता है। इसलिए पौषध व्रत मे चारो प्रकार के आहार का त्याग करके उपवास करने का विधान किया गया है। आहार त्याग पौषध करने से धर्म-ध्यान मे आठों प्रहर लगाये जा सकते है।

२. शरीर पौषध—स्नान, विलेपन, उबटन, पुष्प, तेल, गन्ध, आभूषण आदि से शरीर को सजाने-सवारने का त्याग करके स्वयं को धर्माचरण मे लगाना शरीर पौषध है।

३. ब्रह्मचर्य पौषध—सब प्रकार के मैथुन (अब्रह्म) का त्याग करके ब्रह्म (परमात्मा) मे रमण करना, आत्म-चिन्तन करना ब्रह्मचर्य पौषध है।

४. **अव्यापार पौषध**—आजीविका के लिए किए जाने वाले व्यवसाय तथा अन्य सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग करना अव्यापार पौषध कहलाता है।

ग्यारहवाँ व्रत प्रतिपूर्ण पौषध कहलाता है। प्रात.काल सूर्योदय के बाद जिस समय पौषध स्वीकार किया जाय, दूसरे दिन सूर्योदय के बाद उसी समय तक पौषध वृत्ति में रहना परिपूर्ण पौषध कहलाता है। अर्थात् आठ प्रहर का पौषध ही प्रतिपूर्ण पौषध होता है। पौषध ग्रहण करने का शास्त्रीय पाठ पौषध के स्वरूप पर सुन्दर प्रकाश डालता है। वह पाठ इस प्रकार है —

"एगारसम (ग्यारहवॉ) पडिपुण्णपोसहवयं, सव्व असण पाण खाइम साइमं चउव्विहपि आहारं पच्चक्खामि, अबभसेवण पक्चक्खामि, अमुक मणिहिरण्ण सुवण्ण–माला–वण्णग–विलेवण पच्चक्खामि, सत्थ-मुसलादिसव्व सावज्जं जोगं पच्चक्खामि, जाव अहोरत्त पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा–वायसा–कायसा तस्स भते ! पडिक्कमामि, निन्दामि, गरिहामि, अप्पाण वोसिरामि।"

अर्थात् हे भगवन् ! मै ग्यारहवाँ प्रतिपूर्ण पौषध अगीकार करता हूँ। समस्त अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य रूप चारो प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ, अब्रह्मचर्य सेवन का त्याग करता हूँ, असुक मणि, सोना, चादी, माला, वर्णक (चूर्ण-पाउडर) विलेपन का त्याग करता हूँ, शस्त्र-मूसल आदि समस्त सावद्य योग का त्याग करता हूँ। ये सब त्याग एक अहोरात्रि तक के लिए मन, वचन, काया से करता हूँ। इन्हे मै स्वय न करूँगा, न दूसरो से कराऊँगा। भगवन् ! मै पूर्व कृत पापो का प्रतिक्रमण करता हूँ, निन्दा और गर्हा करता हूँ, अपनी आत्मा को उनसे अलग करता हूँ।

उक्त प्रतिज्ञा पाठ से यह प्रतीत होता है कि आठ प्रहर का पौषध ही प्रतिपूर्ण पौषध कहा जा सकता है। यदि कोई सम्पूर्ण आठ प्रहर का सामायिक पौषध व्रत नही करके कम समय के लिए पौषध करना चाहे तो वह प्रतिपूर्ण पौषध तो नही कहा जा सकता किन्तु दसवे व्रत मे सम्मिलित किये जाने योग्य पौषध हो सकता है।

पौषध व्रत मे पाँचो आस्रवो का त्याग करने से गृहस्थ श्रावक भी उपचार से महाव्रती हो जाता है। केवल चारित्र मोह के उदय के कारण वह पूर्ण सयमी नही बन पाता। पौषध व्रत की प्रशंसा करते हुए आचार्य हेमचन्द्र कहते है—

गृहिणो पि हि धन्यास्ते पुण्य ये पौपध व्रतम् ।
दु पाल पालयत्त्येव यथा स चुलनीपिता ।।

—योगशास्त्र

पौषध व्रत का पालन करने वाले गृहस्थ भी धन्य है, यह कहकर आचार्य ने इस पौषध व्रत का अतिमाहात्म्य सूचित किया है। इस व्रत की अवस्था मे श्रावक एक दिन-रात के लिए सर्व विरत साधु के समकक्ष हो जाता है। इसलिए सूक्ष्म हिसा से बचने के लिए भी उसे पूरा उपयोग रखना होता है। उसे शय्या, सस्तारक और वस्त्रादि का ध्यानपूर्वक प्रतिलेखन करना चाहिए ताकि उन पर यदि कोई सूक्ष्म जन्तु चढ़ जाए तो उनकी हिसा या विराधना न हो। इसी तरह शय्या-सस्तारक का प्रमार्जन करना चाहिए। शौच आदि शारीरिक बाधा की निवृत्ति के लिए योग्य भूमि को पहले ही देख लेना चाहिए और विवेकपूर्वक सारी क्रियाएँ करनी चाहिए। अहिसा को प्रबल बनाने के लिए और आत्मिक विकास हेतु पाँच समितियो और तीन गुप्तियो की आराधना का अभ्यास करने के लिए यह तीसरा पौषध नामक शिक्षाव्रत अति उपयोगी है।

पौषध व्रत स्वीकार करने के पश्चात् श्रावक आजीविका, खान-पान, शरीर-शुश्रूषा एव गृहकार्य की चिन्ता से सर्वथा मुक्त हो जाता है, इसलिए उसे अधिकाधिक समय आत्मसाधना और धर्मसाधना मे लगाना चाहिए। उसे रात्रि का काल धर्म जागरणा मे बिताना चाहिए। धर्म जागरणा का अर्थ है—चार भेद, चार लक्षण, चार आलम्बन और चार अनुप्रेक्षाओ सहित धर्म-ध्यान मे समय और उपयोग लगाना। श्रावक पचम गुणस्थानवर्ती होने से उसको शुक्ल ध्यान तो नही होता। आर्त और रौद्र ध्यान उसके लिए सर्वथा त्याज्य है। एकमात्र धर्म-ध्यान ही शेष रह जाता है, इसलिए उसे रात्रिकाल धर्म-ध्यान के द्वारा जागरणा करते हुए बिताना चाहिए।

धर्म ध्यान के चार भेद ये है—

१. आज्ञा विचय, २. अपाय विचय, ३. विपाक विचय, ४ संस्थान विचय।

धर्म-ध्यान की ४ अनुप्रेक्षाएँ इस प्रकार है—१. एकत्वानुप्रेक्षा, २. अनित्यानुप्रेक्षा, ३. अशरणानुप्रेक्षा और ४. संसारानुप्रेक्षा।

वस्तुत· धर्म-ध्यान ही पौषध व्रत में आत्म-चिन्तन का मूल स्रोत है। प्राचीनकाल के श्रावको का वर्णन पढने से मालूम होता है कि रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत होने पर प्राय. श्रावक धर्मजागरण किया करते थे। उसी दौरान किसी के पास देव आया। उसने सेवा की या उपसर्ग किया अथवा श्रावक ने अमुक चिन्तन किया। पौषध व्रत मे स्थित श्रावक पर अनेक प्रकार के उपसर्ग एव परीषह भी आते है, उस समय उसे दृढतापूर्वक अपने व्रत मे स्थिर रहना चाहिये। यदि असहिष्णु बनकर श्रावक ने धैर्य खो दिया तो उसका व्रत भग हो जावेगा। अत श्रावक को अपना पौषध व्रत अखण्डित रखने के लिए मरणान्त कष्ट भी समभावपूर्वक सहन करना चाहिए।

पौषध के दोष :

पौषध व्रतधारी को उन दोषों से बचना चाहिए जिनसे पौषध-दूषित हो जाता है। पौषध ग्रहण करने से पूर्व लगने वाले ६ दोष और पश्चात् लगने वाले १२ दोष इस प्रकार कुल १८ दोष पूर्वाचार्यो ने बताये है। पौषध पूर्व लगने वाले दोष ये है—

१. पौषध व्रत के निमित्त से सरस-आहार करना।
२. अब्रह्म सेवन करना।
३. केश-नख काटना।
४. वस्त्र धुलाना।
५. शरीर मण्डन करना।
६. सरलता से न खुल सकने वाले आभूषण पहिनना।

पौषध ग्रहण के बाद निम्न १२ दोष लगते है—

१. जो व्रतधारी नही है, उनकी वैयावच्च करना अथवा उनसे वैयावच्च कराना।
२. पसीना होने पर शरीर को मलकर मैल उतारना।
३. दिन मे नीद लेना, रात मे एक प्रहर रात जाने से पहले सो जाना अथवा पिछली रात को धर्म जागरण न करना।
४. बिना पूँजे शरीर खुजलाना।
५. बिना पूँजे परठना।
६. निन्दा या विकथा करना।
७. भय खाना या डराना।
८. सासारिक बातचीत करना।
९ स्त्री के अगोपांग निहारना।
१०. खुले मुँह अयतना से बोलना।
११. कलह करना और
१२. किसी सासारिक रिश्ते से किसी को बुलाना।

उक्त १८ दोषो से बचकर पौषध व्रत की आराधना करनी चाहिए।

अतिथि संविभाग व्रत :

श्रावक का बारहवाँ व्रत और चतुर्थ शिक्षाव्रत अतिथि सविभाग व्रत है।

इस व्रत मे श्रावक से यह अपेक्षा की गई है कि वह औदार्य और दान गुण से विभूषित हो। गृहस्थ श्रावक के लिए आध्यात्मिक और सामाजिक दृष्टि-बिन्दुओं से दान, धर्म और औदार्य गुण की अनुपम महत्ता प्रतिपादित की गई है। इस गुण के बिना श्रावक का श्रावकत्व सफल नही होता। गृहस्थ के लिए दान-धर्म की आराधना करना आवश्यक है। इसीलिए कहा गया है—

वीतराग उपदेश मे धर्म चार प्रकार।
दान, शील, तप, भावना, शासन का श्रृंगार ।।

उक्त दोहे मे धर्म के चार प्रकारो में दान-धर्म को प्रथम स्थान दिया गया है। इसका कारण यह है कि स्वार्थ की सकीर्ण भावना तो पशुओ मे भी आम तौर पर पाई जाती है, मनुष्य को तो इस संकुचित सीमा से ऊपर उठा हुआ होना चाहिए। अत: स्वार्थ की संकीर्ण भावना को कम करने और परार्थ एव परमार्थ की भावना का विकास करने के लिए गृहस्थ मे दान का गुण अवश्य होना चाहिए। इसलिए श्रावक के बारहवे व्रत मे दान को स्थान दिया गया है।

व्रती श्रावक बनने के बाद पॉच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों के पालन का उसके जीवन पर कैसा और कितना प्रभाव पड़ा है? श्रावक का जीवन कितना धर्म-परायण और कर्तव्य प्रधान बना है? यह जानने के थर्मामीटर चार शिक्षा-व्रत है। यह चौथा शिक्षाव्रत तो इसे विशेष रूप से जानने का मापक यत्र है, क्योकि अन्य ग्यारह व्रतो के पालन का प्रत्यक्ष लाभ प्राय: श्रावक को ही मिलता है, किन्तु अतिथि सविभाग व्रत के पालन का प्रत्यक्ष लाभ दूसरे को भी मिलता हैं। यह व्रत श्रावक की आध्यात्मिक प्रौढता का चिह्न है। इससे यह प्रतीत होता है कि सद्गृहस्थ श्रावक कितना विशाल एवं उदार हृदय है? उसमे परमार्थ की भावना कितनी साकार हुई है? जब श्रावक के जीवन मे आध्यात्मिक परिपक्वता आती है तो वह स्वत. परमार्थ, उदार एव विश्वबन्धुत्व की भावना से ओतप्रोत हो जाता है।

दान, करुणा, सेवा एवं परमार्थ के कार्यो से तत्काल आत्मा को शान्ति प्राप्त होती है। सत्कार्य करते समय अन्तरात्मा में जो सन्तोष होता है, उसका आनन्द सासारिक सुखो या लाभो की तुलना में बहुत ही उत्कृष्ट श्रेणी का होता है। मनुष्य और विशेषत. व्रती श्रावक पुंगव की विशेषता तो यह है कि वह अवसर आने पर उसके पास जो भी साधन है, उनसे दूसरो को भी लाभान्वित करे। इस प्रकार दूसरो को दिया हुआ लाभ या परिलाभ (प्रतिलाभ) उसकी आत्मा को सच्ची शान्ति प्रदान करता है।

व्रतधारी श्रावक अपने संकीर्ण स्वार्थ से ऊपर उठकर अपने सामाजिक दायित्व को समझकर अपने पास प्राप्त साधनो में से समाज के विभिन्न वर्ग के

लिए यथाशक्ति यथायोग्य सविभाग करे। गृहस्थ श्रावक जो कुछ भी साधन प्राप्त करता है उसमे उसके परिवार पोषण के अलावा समाज के शिरोमणि, मार्गदर्शक, त्यागी वर्ग का भी हिस्सा है, साधर्मी श्रावक का भी हिस्सा है, दीन-दु:खी आदि दयापात्रो का भी हिस्सा है। श्रावक को उदारतापूर्वक अपने साधनों मे से उनको यथाशक्ति देना चाहिए। अतिथि संविभाग व्रत का यही अभि-प्राय है।

अतिथि संविभाग व्रत मे आये हुए 'अतिथि' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है—

तिथिपर्वोत्सवा. सर्वे त्यक्ता येन महात्मना।
अतिथि त विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदु: ।।

जिन महात्माओं ने नियम तिथि, पर्व, महोत्सव आदि का परित्याग कर दिया है अर्थात् जो सदा वैराग्य दशा मे निमग्न रहते है, जिन्होने घर-बार और आरम्भ-समारम्भ का त्याग कर दिया है, जो निरन्तर स्व-पर कल्याण मे रत रहते है और जो सयम-देह के निर्वाह के लिए भिक्षाचरी करते है, उन्हे अतिथि समझना चाहिए। शेष को अभ्यागत जानना चाहिए।

स्व-पर के कल्याण निमित्त सब प्रकार के आरम्भ का त्याग करने वाले त्यागी, तपस्वी और शुद्ध सयमी मुनियो को अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, स्थान आदि आवश्यक पदार्थ कल्पानुसार, निष्काम भाव से भक्तिपूर्वक प्रदान करना अतिथि सविभाग व्रत कहा जाता है।

संयम-पालन का आधार देह है और देह का निर्वाह आहारादि के विना नही होता। अत. सयमियो को उनके कल्प के अनुसार आहारादि प्रदान करना गृहस्थ का धर्म है। शास्त्रकारो ने गृहस्थ को सयम के लिए निश्रास्थान (आधार रूप-सहायक) माना है। शुद्ध सयमियो को शुद्ध आहार प्रदान करने वाला श्रावक सयम मे सहायक होने के कारण महानिर्जरा का अधिकारी होता है।

गृहस्थ को यथासम्भव त्यागी मुनिराजो एवं महासतियो को आहारादि प्रतिलाभित करने के पश्चात् भोजन करना चाहिए। यदि ऐसा सम्भव न हो तो भोजन के पूर्व ऐसी भावना करनी चाहिए कि "वे धन्य है, जिन्हे ऐसे मुनियो और महासतियो को आहारादि देने का सौभाग्य प्राप्त होता है, मुझे भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो तो मैं भी शुद्ध आहारादि देकर कृतार्थ होऊँ।"

इस व्रत को ग्रहण करते समय श्रावक प्रतिज्ञा करता है कि—

"कप्पइ मे समणे निग्गथे फासुएसणिज्जं असण पाणं खाइम साइम वत्थं पडिग्गहं कवलं पायपुंछणं पाडिहारिय पीढ-फलग-सिज्जा-सथारा-ओसहभेसज्जेण पडिलाभेमाणे विहरित्तए ।"

अर्थात् (श्रावक प्रतिज्ञा करता है कि) मुझे श्रमण-निर्ग्रन्थों को आधा-कर्मादि सोलह उद्गम दोष और अन्य छब्बीस दोषरहित प्रासुक एव एषणीय अशन, पान, खाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादपोछन (रजोहरणादि) पीठ (बैठने का छोटा पाट), फलक (सोने के काम मे आने वाला लम्बा पाट), शय्या (ठहरने का स्थान), सस्तारक (बिछाने के लिए दर्भादि), औषध और भेषज— ये चवदह प्रकार के पदार्थ, जो उनके जीवन-निर्वाह मे सहायक है, प्रतिलाभित करते हुए विचरना कल्पता है ।"

उक्त प्रकार की प्रतिज्ञा करना अतिथि सविभाग व्रत है ।

दान के उत्कृष्ट पात्र मुनि-महात्माओ को उनके कल्पानुसार प्रासुक एवं एषणिक पदार्थ का दान वही श्रावक दे सकता है जो स्वय भी ऐसे पदार्थ काम मे लाता है । क्योंकि मुनि-महात्मा वही पदार्थ दान में ले सकते है जो दानदाता ने अपने या अपने कुटुम्बियो के लिए बनाये हो । इसलिए जो श्रावक अतिथि सविभाग व्रत का पालन करने के लिए मुनि को दान देने की इच्छा रखता हो, उसे अपने खान-पान, रहन-सहन आदि काम मे वैसी ही चीजे लेनी होगी, जिनमे से मुनि-महात्माओ को भी प्रतिलाभित किया जा सके । जो श्रावक ऐसा नही करता है वह दान देने का लाभ भी नही ले सकता । उदाहरण के लिए कोई श्रावक अपने खाने-पीने मे सचित्त तथा अप्रासुक पदार्थ ही काम मे लेता हो, रगीन और अति महीन अथवा चमकीले वस्त्रो का उपयोग करता हो, अथवा कुर्सी-पलग, टेबल आदि ऐसी चीजे ही घर मे रखता हो जो साधु-मुनिराजो के उपयोग मे नही आ सकती, तो वह श्रावक मुनिराजो को अशन-पान-खाद्य, वस्त्र, पात्र, पाट आदि कैसे प्रतिलाभित कर सकता है ? अतएव श्रमणो के उपासक श्रावक को इस सम्बन्ध मे विवेक और उपयोग से काम लेना चाहिए ।

दान देने के चार अंग :

अतिथि संविभाग के माध्यम से दान देते समय चार अगो को ध्यान मे रखना अनिवार्य बताया गया है—

१. विधि, २. द्रव्य, ३. दाता और ४ पात्र ।

जैसा कि 'तत्त्वार्थ सूत्र' में कहा गया है—

"विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र विशेषात्तद्विशेष."

उक्त चारो अंगो से युक्त दान ही उत्कृष्ट सुपात्र दान हो सकता है ।

विधि शुद्ध दान वह कहलाता है जो अभ्युत्थान, सत्कार आदि विधिपूर्वक दिया जाय। अविधिपूर्वक-तिरस्कारयुक्त दान, दान-फल से शून्य होता है।

द्रव्य-शुद्ध दान वह है, जो देय वस्तु* कल्पनीय हो, निर्दोष हो, ४२ दोषो से रहित हो, मुनियो के तप-सयम मे सहायक व वर्धक हो।

दाता वह शुद्ध कहलाता है, जिसमे किसी स्वार्थ, लोभ, प्रसिद्धि या प्रतिफल की भावना न हो, जिसके हृदय में साधु-सन्तो के प्रति श्रद्धा भक्ति हो।

पात्र वह शुद्ध है, जो घरबार–कूटुम्ब आदि को छोडकर तप-त्यागमय संयमपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हों तथा संयम पालन के लिए ही दान लेते हो।

---

*साधु के योग्य चौदह प्रकार का दान—

१. अशन—खाए जाने वाले पदार्थ रोटी आदि।
२. पान—पीने योग्य पदार्थ, जल आदि।
३. खादिम—मिष्ठान्न, मेवा आदि सुस्वादु पदार्थ।
४ स्वादिम—मुख की स्वच्छता के लिये, लौग-सुपारी आदि।
५. वस्त्र—पहनने योग्य वस्त्र।
६ पात्र—काठ, मिट्टी और तुम्बे के बने हुए पात्र।
७ कम्बल—ऊन आदि का बना हुआ कम्बल।
८. पादप्रोच्छन—रजोहरण, ओघा।
९ पीठ—बैठने योग्य पाट आदि।
१० फलक—सोने योग्य चौकी आदि।
११ शय्या—ठहरने के लिये मकान आदि।
१२ सथारा—विछाने के लिये घास आदि।
१३ औषध—एक ही वस्तु से वनी औषधि।
१४. भेषज—अनेक चीजो के मिश्रण से वनी हुई औषधि।

ऊपर जो चौदह प्रकार के पदार्थ बताए गए है, इनमे प्रथम के आठ पदार्थ तो दानदाता से एक बार लेने के बाद फिर वापस नही लौटाए जाते। शेप छह पदार्थ ऐसे है, जिन्हे साधु अपने काम मे लाकर वापस लौटा भी देते है।

□ □ □

१६

जैन दीक्षा–जैन मुनि

[अष्टम दिवस]

"दीक्षा" शब्द भारतीय संस्कृति की प्रत्येक धारा में व्यवहृत हुआ है। सभी धाराओ ने अपने-अपने ढंग से अपने मान्य रूढ अर्थों में इस शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु जैन सस्कृति मे "दीक्षा" शब्द बहुत मौलिक अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है। वहाँ दीक्षा का अर्थ है—सत्य की खोज। मानव जाति के अब तक के इतिहास मे सत्य के खोज की दो दिशाएँ रही है। एक दिशा बाहर मे है, तो दूसरी दिशा भीतर मे। एक बहिर्मुख है तो दूसरी अन्तर्मुख। इस अन्तर्मुखी खोज को ही दीक्षा संज्ञा प्रदान की गई है।

निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति में दीक्षा के कुछ मौलिक अर्थ अभिव्यक्त हुए हैं। वस्तुत. वहाँ दीक्षा शब्द को पारिभाषित करना निश्चय ही कठिन है। स्थूल दृष्टि से चचल चित्त की एकाग्रता को साधने की प्रक्रिया का नाम ही दीक्षा अथवा प्रव्रज्या है। भोगमय पथ पर चलते-चलते शाति और समाधि नहीं मिली, तो आवश्यक हो गया कि पथ बदला जाए। पथ के इस परिवर्तन को, जीवन की इस प्रक्रिया को और जीवन के हीन सस्कारो को बदल डालने की साधना को ही दीक्षा कहा गया है।

दीक्षा का अर्थ कुछ बँधी बँधाई व्रतावली को अपना लेना ही नही है, अमुक सम्प्रदाय विशेष की परम्परागत किन्ही क्रियाओ एवं वेश-भूषाओ मे अपने आपको आवद्ध कर लेना भर नही है। हाँ, यह भी प्रारम्भ मे नितान्त आवश्यक होता है, इसकी भी अपेक्षा होती है। हर संस्था का अपना कोई गणवेश होता है। परन्तु महावीर कहते है, यह सव तो वाहर की वातें है। अन्तर की अभिव्यक्ति के साधन तथा प्रतीक है। "लोगे लिगप्पओयण"। अतः दीक्षा का मूल उद्देश्य यही नही, इससे कुछ गहरा है और वह है, परम-तत्त्व की खोज— वाहर से अन्दर पैठना। अपने स्वरूप को खोजना, वाहर के आवरणों को हटाकर अपना अन्वेषण और सही रूप में अपने आपकी उपलब्धि।

दीक्षार्थी अपने विशुद्ध चैतन्य देव की खोज मे निकला हुआ एक अन्तर्यात्री है। अन्तर्यात्री इसलिए कि उसकी यात्रा वाहर में नही, अन्तर में होती है। साधक अन्दर में गहरा और गहरा उतरता जाता है और आवरणों को तोड़ता हुआ निरन्तर मृत्यु से अमरत्व की ओर, असत् से सत् की ओर गतिशील होता

है। अन्त मे अपने परम चैतन्य चिदान्द स्वरूप परमात्म-तत्त्व के अधिकाधिक निकट होता जाता है। शरीर, इन्द्रिय और मन आदि की अनेकानेक सूक्ष्म एव साथ ही सघन परतो के नीचे दबा अनन्त चेतना का जो अस्तित्व है, उसकी उपलब्धि एव अभिव्यक्ति ही साधक-जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य है। उसकी खोज दीक्षार्थी प्रशान्त मन-मस्तिष्क से ही कर सकता है। यह वह स्थिति है, जहाँ परिवार या समाज को छोडने या उनके छूट जाने का अच्छा या बुरा कोई भी प्रभाव नही पडता। उसके प्रति अच्छे-बुरे का विकल्प ही मन मे नही रहता।

परम चेतना की खोज के लिए साधु जीवन एक अवसर है। बाह्य जगत् की दृष्टि से साधु जीवन का उद्देश्य जनता मे अशुभ की निवृत्ति एव शुभ की स्थापना है। जनता को हर प्रकार के अन्धविश्वासो से मुक्त करना और उसे यथार्थ सत्य का परिबोध कराना साधु जीवन का सामाजिक कर्तव्य है। साधु अन्धकार का नही, प्रकाश का प्रतीक है, अशान्ति का नही, शान्ति का सन्देश-वाहक है, भ्रान्ति का नही, सत्य का पक्षधर है। वह समाज का निर्माता है।

निष्कर्ष की भाषा मे जीवन की क्षुद्र विकृतियो से ऊपर उठकर "वसुधैव कुटुम्बकम्" की उदात्त भावना के साथ अन्दर मे परमात्म-तत्त्व की खोज और उसके अग स्वरूप विश्व मानवता व आत्मोपम्य दृष्टि से नव-निर्माण, यही है मुनि दीक्षा का किवा साधुता का मगल आदर्श।

जैन शब्द—एक व्याख्या :

जैन मुनि का जीवन सार्वभौम जीवन है और जैन मुनि की साधना बहुत व्यापकता लिये हुए है। जैन मुनि किसी जाति, वर्ग या पार्टी से बधा हुआ नही होता। जैन शब्द ही इस बात को सिद्ध करता है कि जैन कोई जाति या पार्टी नही है। यहाँ जैन शब्द की कुछ व्याख्या समझ लेना उपयुक्त होगा ताकि मुनि-जीवन की व्यापकता अच्छी तरह समझ मे आ सके।

जैन शब्द का शाब्दिक अर्थ है—जीतने वाला। जो अपने विकारो को जीतता है, वह जैन है। जिन शब्द से ही जैन बना है। "ज" पर दो मात्राएँ लगी है, वे राग और द्वेष को सूचित करती है। इससे तात्पर्य है कि इन दो शत्रुओ को जीतने की साधना करने वाला जैन है।

जिसने राग, द्वेष, विषय, वासना आदि आन्तरिक विकारो को जीत लिया वह जिन परमात्मा कहलाता है और जो सामान्य-जन चाहे जाति से कोई भी हो, इन विकारो को जीतने का प्रयास कर रहा है एव जिन्होने जीत लिया है ऐसे जिन-भगवान की उपासना करता है, वह जैन है। तात्पर्य यह है कि जैन धर्म किसी जाति विशेष से अनुबन्धित नही है। किसी भी जाति का कोई भी

व्यक्ति जैन कहला सकता है, यदि वह अपने राग-द्वेष आदि अन्तरग शत्रुओ पर विजय पाने का सकल्प कर प्रयासरत है ।

साध्वाचार

जैन मुनि की आचार संहिता

जैन मुनि की आचार पद्धति मे मुक्ति साधना की कठोरतम प्रणाली है । केशलुचन, भूमि-शयन, पैदल विहार, अनियतवास अर्थात् वर्षाकाल को छोडकर किसी भी ग्राम या नगर मे २६ दिन से अधिक नही ठहरना, सपत्ति के नाम पर फूटी कौडी भी पास न रखना । इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने के लिए सतत जागरूक रहना, सहारक पर भी मन मे विद्वेष-कलुषता न आने देना । भूख, प्यास, गरमी, सर्दी, डास-मच्छर आदि के कष्टो को धैर्यपूर्वक सहन करना । हमेशा किसी भी वस्तु को याचना करके ग्रहण करना, आदि ऐसी कठोर चर्या है, जिसके लिए जीवन को एक खास तरह के साँचे में ढालने की जरूरत है ।

ससार के समस्त आकर्षणो से विरक्त होकर शरीर सबधी ममत्व का भी परित्याग करके जो आत्म साधना मे संलग्न होने का इच्छुक है, वही मुनि-धर्म स्वीकार कर सकता है ।

जैन साधुत्व की उच्च भूमिका को स्पर्श करने के लिए गृह, परिवार, धन, सम्पत्ति आदि वाह्य पदार्थो का परित्याग करना पडता है । वह स्व-कल्याण के साथ-साथ पर कल्याण मे भी गहरी निष्ठा रखता है । वस्तुत: जैन साधु एक ऐसी नौका है जो स्वय तैरती है और दूसरों को भी तैराती है ।

जैन साधु की आचार संहिता के पाँच महाव्रत-यम निम्न प्रकार है, जो साधुत्व की अनिवार्य शर्ते है ।

(१) अहिसा महाव्रत :

प्रथम यम अहिसा के अनुसार जैन श्रमण-साधु 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की उद्घोषणा को जीवन के व्यवहार मे साकार रूप देते हुए लघुतम-छोटे से छोटे प्राणी की भी हिसा किसी भी कारण से मनसा, वाचा, कर्मणा न स्वय कर सकता है न करवा सकता है और न किसी भी हिसक प्रवृत्ति का अनुमोदन (अच्छा समझना) ही कर सकता है ।

जैन दर्शन पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा एवं वनस्पति मे स्वतत्र रूप से जीव-अस्तित्व स्वीकार करता है । अत: अहिसा का पूर्ण साधक मुनि इन प्राणियो की भी हिसा नही कर सकता है । इसी आधार पर जैन साधु मकान, मन्दिर, मठ, धर्मस्थान आदि वनवाने की किसी भी प्रवृत्ति मे भाग नहीं ले सकता है, क्योकि वहाँ स्पष्ट रूप से पृथ्वी कायिकादि जीवो की हिसा होती है ।

इसी प्रकार पीने के लिए कच्चे पानी का उपयोग, आतापना एवं भोजन आदि के लिए अग्नि का उपयोग एवं गर्मी की उपशाति के लिए पंखे का उपयोग नही कर सकता है। यहाँ तक कि बोलते वक्त मुँह से निकलने वाली गर्म हवा से बाहर रहने वाले वायुकायिक जीवो के रक्षार्थ वह खुले मुँह भी नही बोल सकता। इसीलिए अहिसा की पूर्ण साधना के उद्देश्य से अपने मुख पर एक आठ-पुड़ की करीब-करीब सम-चौरस कपडे की पट्टी रखता है, ताकि बोलते वक्त निकलने वाली वह गर्म हवा उसमे ठंडी होकर छनकर निकले जिससे किसी भी प्राणी की हिसा न हो। इसी प्रकार कच्ची हरी वनस्पति का सस्पर्श भी साधु के लिए वर्जित माना गया है। तात्पर्य यह है कि हिसा जनक सूक्ष्म प्रवृत्ति का भी जैन मुनि के लिए निषेध किया गया है।

(२) सत्य महाव्रत :

मन मे सत्य सोचना, वाणी से सत्य बोलना, तथा काया-शरीर से सत्य का आचरण करना और मनसा, वाचा कर्मणा सूक्ष्म असत्य का भी प्रयोग न करना, न करवाना न करते हुए का अनुमोदन करना सत्य महाव्रत है।

आत्म साधक पुरुष सत्य को भगवान मानता है, वह मन, वचन अथवा शरीर से कदापि असत्य का आचरण नही करता। वह प्रयोजन होने पर परिमित, हितकर, मधुर और निर्दोष भाषा का ही प्रयोग करता है। बिना सोचे विचारे कठोर, पीडाकारी, मर्मभेदक शब्दो का प्रयोग नही करता है।

(३) अचौर्य महाव्रत :

वैसे ही मनसा, वाचा, कर्मणा अचौर्य व्रत का आराधन है। उसे किसी पत्थर अथवा तिनके की भी आवश्यकता हो तो वह बिना किसी की अनुमति के उसे ग्रहण नही कर सकता है। मकान मालिक अधिकारी की अनुमति के बिना किसी भी मकान मे नही ठहर सकता। यहाँ तक कि बिना अभिभावको की अनुमति के किसी को दीक्षित—शिष्य नही बना सकता है।

(४) ब्रह्मचर्य महाव्रत :

साधक कामवृत्ति और भोग-वासना का पूर्ण नियमन करके पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। इस दुर्धर महाव्रत का पालन करने के लिये अनेक नियमो का कठोरता से पालन करना आवश्यक होता है। उनमे से कुछ इस प्रकार है:—

१. जिस मकान मे स्त्री का निवास हो, उसमे न रहना।
२. स्त्री के हाव, भाव, विलास आदि का वर्णन न करना।
३. स्त्री-पुरुष का एक आसन पर न बैठना और छोटी से छोटी बच्ची का भी स्पर्श न होने देना।

४. स्त्री के अंगोपांगों को स्थिर दृष्टि से न देखना ।

५. स्त्री-पुरुष के कामुकतापूर्ण शब्द न सुनना ।

६. अपने पूर्वकालीन भोगमय जीवन को भुला देना और ऐसा अनुभव करना कि शुद्ध साधक के रूप में मेरा नया जन्म हुआ है ।

७. सरस, पौष्टिक, विकारजनक, राजस और तामस आहार न करना ।

८. ब्रह्मचारी व्यक्ति का खान-पान एवं रहन-सहन अत्यन्त सादगीपूर्ण होना चाहिये । अधिक शृंगारित जीवन मे गिरावट की अधिक सभावना रहती है ।

९. ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए जैन श्रमण को शास्त्रकारों ने यहाँ तक निर्देश दिया है कि चाहे सौ या पाँच सौ बहने भी क्यो न हो, अगर एक समझदार भाई—पुरुष नही है तो उन महिलाओ मे जैन साधु धर्म उपदेश भी नही कर सकता । इसी प्रकार ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये अन्यान्य अति सूक्ष्मतम मर्यादाये बनाई गई है, जिसका विस्तृत विवेचन यहाँ अभीष्ट नही है ।

(५) अपरिग्रह महाव्रत :

जैन साधु अपरिग्रह का पूर्ण आदर्श होता है । अतः परिग्रह ममत्व से वह सर्वथा अलिप्त रहता है । सयम निर्वाहार्थ मर्यादित अल्पतम वस्त्रादि उपकरण के अतिरिक्त सभी परिग्रहात्मक पदार्थो को त्याग देता है । रुपये, पैसे, टिकिट, लिफाफे, पोस्ट-कार्ड आदि अर्थ सवधी मुद्राये न वह स्वय रखता है, न अपनी निश्रिति मे किसी से रखवाता है और न उनका अनुमोदन ही करता है । वह किसी भी प्रकार के चन्दे, चिट्ठे आदि मे भाग नही लेता एव अपने हाथ से पत्रादि भी नही लिखता है । सोना, चाँदी, पीतल, ताँवा, लोहा आदि धातुओ से निर्मित उपकरण आदि भी नही रखता । तात्पर्य यह है कि अपरिग्रह के पूर्ण आदर्श के लिए जैन श्रमण-साधु ऐसी किसी भी प्रवृत्ति मे भाग नही लेता जिससे अर्थ सवधी समस्याओ मे उलझना पड़े ।

जैन साधु की भिक्षा वृत्ति :

जैन श्रमण की भिक्षावृत्ति को मधुकरी वृत्ति कहा जाता है । तात्पर्य यह कि मधुकर-भ्रमर की तरह जिनके चौको मे मासादि अभक्ष्य नही पकते हों, ऐसे घरों मे से गृहस्थियो के स्वय के लिये स्वाभाविक तौर से वने हुये भोजन मे से मुनि थोड़ी-थोड़ी मात्रा मे भोजन ग्रहण करे, कि उसे पुन. नया भी न वनाना पड़े और उसे स्वयं को भी कष्ट न हो । साथ ही भिक्षा वृत्ति की पूर्ण आराधना के लिये वहुत-सी मर्यादाये है, जिनका सागोपाग विवेचन नहीं किया जा सकता है । प्रतिदिन एक ही घर से आहार नही लिया जा सकता, साथ मे मार्ग सेवा

की दृष्टि से जैन साधु के साथ ग्रामानुग्राम स्त्री आदि गृहस्थ का चलना स्पष्ट निषिद्ध है। किन्तु मार्ग दिखलाने के लिये जो गृहस्थ चले उसके पास का आहार भी नहीं लिया जा सकता। इसी प्रकार टिफिन आदि मे धर्मस्थान पर साथ मे लाया हुआ भोजन भी नही लिया जा सकता है। कोई कच्चे पानी, हरित वनस्पति, अग्नि आदि को छूकर देता है तो उस घर से भोजन नही लिया जा सकता है, आदि भिक्षावृत्ति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म नियम है।

पानी :

चूँकि जैन साधु कुआँ, तालाब, नल आदि के कच्चे पानी का उपयोग तो दूर रहा स्पर्श भी नही कर सकता है। अत: उसके लिये अचित्त जल (धोवन अथवा गरम) पानी का विधान किया है। दूध, दही, छाछ, आटा, माजे हुए बर्तन, आदि के धोने से बनने वाले, चावल, दाल आदि के धोने से बनने वाले पानो का उपयोग जैन साधु करता है अथवा गृहस्थी द्वारा स्वय के स्नान आदि के लिए बनाया हुआ गरम पानी उपयोग मे लाया जा सकता है।

इन उक्त नियमो के अतिरिक्त कुछ ऐसे नियम है, जो जैन साधुत्व का पृथक् परिचय देते है :—

१. जैन साधु कठोरतम सर्दी पडने पर भी आग नही तापते एवं कठोरतम गर्मी होने पर भी पखा आदि से हवा नही लेते।

२. प्यास से कठ सूख जाने पर भी रात्रि मे कभी पानी नही पीते।

३. सर्वत्र पैदल ही भ्रमण करते है। पैरो मे जूते, चप्पल, या अन्य किसी पादत्राण का उपयोग नही करते एव किसी प्रकार के छाते का उपयोग नही करते।

४ शराब आदि किसी नशीले पदार्थ का सेवन नही करते।

५. पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए स्त्री को छूते तक नही है।

६. काष्ठ लकडी के पात्र मे भिक्षावृत्ति करते है। स्टील, प्लास्टिक आदि के बर्तन नही रखते, किसी प्रकार की भेट, पूजा, चढावा आदि नही लेते।

७. रात्रि के समय किसी भी मौसम मे रहना या सोना छाया में ही करते है। खाट, पलग आदि का सेवन नही करते।

८. बच्चे को दूध पिलाती हुई अथवा गर्भवती माता जिसे उठने-बैठने मे कष्ट होता है, उससे भिक्षा नही लेते।

९. गृहस्थी के बर्तनो मे एव उनके घर भोजन नही करते । जहाँ गृहस्थ परिवार सहित रहता हो और भोजन आदि बनाने की क्रिया करता हो, तो ऐसे मकान मे साधु नही रह सकते है ।

१० जैन साधु का अपना कोई डेरा, मठ या स्थान नही होता है ।

११ जैन साधु कैंची, उस्तरे आदि से अंपने बाल नही कटवाते , वे दाढी, मूछे एव सिर के बालो का लुचन करते है अर्थात् बालो को हाथ से उखाडते है ।

१२. साधु चातुर्मास मे चार महीना एक जगह रहते है, शेप आठ महीनो मे गाँव-गाँव भ्रमण करते है, आदि-आदि अनेक ऐसे नियम है जो जैन साध्वाचार को पूर्ण अहिमा पर प्रतिष्ठित करते है ।



परिशिष्ट १

[१]

पर्व सम्वत्सरी

[तर्ज—प्यासे पंछी..........]

पर्व सवत्सरी आया है, हम गीत क्षमा के गाएं।
हम क्षमा शील बन जाए ॥

विषम भाव की कलुष कालिमा, मन से दूर भगाएं।
हम पर्व संवत्सरी मनाएं ॥

पर्व हमारा प्यारा-प्यारा, वर्ष एक में आता।
आत्म जागरण का सन्देशा, हमको देता जाता ॥
लोकोत्तर यह पर्व मनाकर, लोकोत्तर पद पाएं ॥ हम.... ॥ १ ॥

विगत वर्ष का अन्तर लेखा, आज हमे है करना।
मनो विकारो को चुन-चुनकर, दूर हृदय से करना ॥
शमन करे हम राग-द्वेष का, शुद्ध मन आज खमाएं ॥ हम.... ॥ २ ॥

वैर विरोध हुआ है जिनसे पहले उन्हे खमाएं।
लोक दिखावे का झूठा उपचार तो नही रचाए ॥
अन्तर बाहर दोनो निर्मल करके, शुद्ध वन जाए ॥ हम.... ॥ ३ ॥

अन्तर दोषो का आलोचन शुद्ध हृदय से कर लें।
प्रायश्चित ले आत्म शुद्धि से, अपना अन्तर भरले।
आत्म "शाति" का मार्ग यही है, शुद्ध मन इसे मनएं ॥ हम.... ॥ ४ ॥

[२]

आया आया है पर्व हमारा

आया-आया है पर्व हमारा, जन मन मंगल कारी।
पुलक उठे हैं हृदय सभी के, खुशियाँ छाई भारी ॥
आत्मशुद्धि का अवसर पाकर, हर्षित है नर-नारी ॥ १ ॥

वृद्ध युवा और वाल सभी मे, तप की होड़ लगी है।
आतम दर्शन करने की, अव गहरी प्यास जगी है ॥ २ ॥

विगत वर्ष का लेखा-जोखा, आज हमें है करना।
दूर भगाकर दुर्मति को अब, सत्थप में पग धरना ॥ ३ ॥

छोडे 'राग-द्वेष' कलुषता 'क्षमा शील' धारण कर।
निर्मल कर लें निज मन को हम, कलमस का वारण कर ॥ ४ ॥

वैर विरोध हुआ है जिससे, उसको आज खमाए।
अन्तर कलुष मिटाकर सारा, सबको गले लगाए ॥ ५ ॥

घड़ियां सुन्दर आई है ये, जीवन उच्च बना लें।
शुद्ध हृदय से आज 'खमाकर' समता पथ अपनाले ॥ ६ ॥

घडियां यों ही बीत न जाएं, विगत वर्ष वत् सारी।
आत्मिक "शाति" प्राप्त करे हम, बने शुद्ध अविकारी ॥ ७ ॥

[३]

महापर्व पर्युषण जय कारी

[तर्ज—सगठन की वीणा बजने दो ·· ····]

महा पर्व पर्युषण जयकारी, ये दु खहारी मगलकारी ॥ महा ··· ॥

मगल घडियां ये आई है, जन-जन मे हर्ष वधाई है।
फहरेगी धर्म ध्वजा प्यारी ॥ महा· ·· ॥ १ ॥

सन्देश सुहाना लाते ये, आध्यात्मिक भाव जगाते ये।
सिखलाते मैत्री प्रियकारी ॥ महा··· ॥ २ ॥

संज्ञान की ज्योति जगाएँ हम, अज्ञान तिमिर विनशाए हम।
खिले आत्मज्ञान की फुलवारी ॥ महा ··· ॥ ३ ॥

सब वैर विरोध विसारे हम, शुद्ध प्रेम पथ स्वीकारें हम।
बहे स्नेह की गंगा यहाँ भारी ॥ महा···· ॥ ४ ॥

क्रोधादिक शत्रु शमन करे, गुणीजन के चरणो मे नमन करे।
ना बनें कभी भी अहकारी ॥ महा· · ॥ ५ ॥

आलोचन विगत वर्ष का हो, अब अन्त सभी सघर्ष का हो।
सब खमे खमाएँ नर नारी ॥ महा···· ॥ ६ ॥

मंगलमय जीवन बन जाए, कलिमल सारे ही विनशाएँ।
प्रभु "शान्ति" मिलेगी श्रेयकारी ॥ महा···· ॥ ७ ॥

[४]

पर्व पर्युषण आए

[तर्ज—समकित न लही मै·······]

आए पर्व राज पर्युषण आतम ज्योति सभी जगाएँ,
जिन वाणी का अमीरस पीकर अन्तर प्यास बुझाएँ।
पाप-ताप-सताप मिटाकर, अनुपम आनन्द पाये ।। १ ।।

महा पुरुषो की जीवन गाथाएँ, सुन–सुन हर्षाएँ।
निज आचरण बनाकर वैसा, उन सम हम बन जाएँ ।। २ ।।

काम क्रोध मद मत्सर तृष्णा, दिल से दूर भगाएँ।
क्षमा शील सन्तोष दया से, जीवन उच्च बनाएँ ।। ३ ।।

निन्दा चुगली और वुराई, कितनी त्यागी मैने।
कितने सद्‌गुण धारे मैने, इसका हिसाब लगाये ।। ४ ।।

वैर विरोध किया है जिसने, अन्तर कलुष वढाये।
वैर विसारे सभी पुरातन, शुद्ध मन उसे खमाये ।। ५ ।।

"जो उव समइ अत्थि आरहणा" आगम में है गाया।
आराधन कर मोक्ष मार्ग का, परम शान्ति पद पाये ।। ६ ।।

[५]

ये पर्व पर्युषण आए

ये पर्व पर्युषण आए, एक नया सदेशा लाये जी।
जीवन की शुद्धि करने, मन मैल को शीघ्र ही हरने जी ।।
सव वैर विरोध भुलावे, हम गीत क्षमा के गावे जी ।। ये·" ।। १ ।।

अपराध किये है जिनके, उनको ही पहले खमावे जी।
आगम की है यह वाणी, जन-जन की परम कल्याणी जी ।।

शुद्ध भावो से हो आराधन, जिससे जीवन हो पावन जी।
मुक्ति पथ को अपनाये, पर अनन्त "शान्ति" का पावे जी ।।

[६]

पर्युषण का पर्व सुहाना

[तर्ज—खड़ी नीम के नीचे······]

पर्युषण का पर्व सुहाना, सन्देशा यह लाया है।
छोड़ प्रवृत्ति वने निवृत्त हम, गीत सुहाना गाया है ।। टेर ।।

काल अनादि से उलझे है हम मिथ्या आचार मे ।
निवृत्ति का नाम नही बस प्रवृत्ति व्यवहार में ।।
बन्धन मुक्त बने हम तो अब गुरुवर ने समझाया है ।। १ ।।

पर्वराज यह लोकोत्तर है त्याग का पाठ पठाता है ।
त्याग मार्ग पर बढने वाला अन्तर मे सब पाता है ।।
बाहर से हो उपरत जिसने अन्तर ध्यान लगाया है ।। २ ।।

आज बढे ये चरण हमारे, साधना पथ अपनाए हम ।
धर्म साधना क्षमाशीलता का जयगान गुंजाएं हम ।।
'शान्ति' का सन्देश लिये, यह द्वार हमारे आया है ।। ३ ।।

[७]

यही पर्वाराधन

[तर्ज—तुम्ही मेरे मन्दिर·······]

अपनी ही आत्मा का अवधान हो बस,
यही पर्वाराधना यही पर्वाराधना ।
स्वयं का स्वयं मे ही शुभ ध्यान हो बस,
यही पर्वाराधना यही पर्वाराधना ।। टेर ।।

इन अष्ट दिवसों मे निज मे रमण हो,
पर भाव में न किंचित मन का भ्रमण हो ।
अन्तर प्रवेश का ही, अभियान हो, बस यही·······।। १ ।।

त्याग और तप से, जीवन सजाएं,
साधना की विधियो मे मन को रमाए ।
आगमिक ज्ञान का ही संज्ञान हो, सब यही·······।। २ ।।

पर्व का यह सन्देश मिलता सुहाना,
सत् शील साधना का शुभ गीत गाना ।
आत्म "शान्ति" धर्म का ही जय गान हो, वस यही····।। ३ ।।

[८]

यो पर्व सन्देश सुणाय

[तर्ज—आओजी पधारो ···· ··]

यो पर्व सन्देश सुणाय, जीवन सफल करो जी, सफल करो ।
अवसर यो वीत्यो जाय, जीवन सफल करो जी सफल करो ।। टेर ।।

अवसर यो अनमोलो आयो, सन्देशो जागृति रो लायो।
धर्म में चित्त रमाय, जीवन सफल ……… ……॥ १ ॥

त्यागो वैर विरोध लड़ाई, समता धन री कर लो कमाई।
प्रेम री गगा बहाय, जीवन सफल करोजी…… ……॥ २ ॥

भटकण बाहर री अब छोड़ो, अन्तर चेतन सूं मन जोडो।
मोह ममता विसराय, जीवन सफल करो ……… …॥ ३ ॥

अवसर बार-बार नही आवे, चूके वो पाछे पछतावे।
"शान्ति" गीत सुणाय जीवन सफल करोजी………॥ ४ ॥

[९]

महापर्व यह आया है

[तर्ज–होठो से छू लो तुम……]

महापर्व यह आया है, अन्तर शुद्धि कर लें।
सन्देश यह लाया है, मन मैल को अब हर लें॥ टेर ॥

यह जीव अनादि से जग में यों भटकता है।
रागादिक भावों से बन्धन में अटकता है॥
मिला योग मानव तन का, बन्धन मुक्ति वर ले॥ महापर्व…॥ १ ॥

यह पर्व महासुख कर सन्देश ले आया है।
काषायिक भाव मिटे यह गीत सुनाया है॥
सब वैर विरोध विसार खन्ति पथ पग धर लें॥ महापर्व…॥ २ ॥

अब क्षमा भाव उर घर शत्रु से प्रेम करें।
विद्वेष घृणा कालुष्य मन से सब दूर करे॥
वहे प्रेमधार जग में अमृत ऐसा भर ले॥ महापर्व…॥ ३ ॥

महापर्व पर्युपण ये जन-जन को जगाते है।
सब अन्तर्द्वंदो को हर मन से भगाते है॥
आराधन कर इसका आत्मिक "शान्ति" वरले॥ महापर्व… ॥ ४ ॥

[१०]

मुनि आगमन देवकी का हर्ष

आये आये है भाग्य उदय से आज मेरे मुनिराज॥ टेक ॥
सुरतरु फला मेरे घर देखो, दूध मेह वरसाय।
चरण कमल सतगुरु के रखते, पाप सभी विरलाय॥ १ ॥

सात आठ पग सन्मुख जाकर, चरणे शीष नमाई।
उलट भाव से सिह केशरी, मोदक दिया वहराई ॥ २ ॥

या विधि तीन बार वहराई, तीनों सिघाडा ताई।
बाध्यो तीर्थंकर गोत्र देवकी, इह पर भव सुख दाई ॥ ३ ॥

सादर शुद्ध भावों से भक्ति करें सदा चित्त लाई।
गुरु प्रसादे "चौथमल" कहे दोनो लोक सुख दाई ॥ ४ ॥

[११]

देवकी एवं मुनियों का संवाद

देवकी का प्रश्न

[तर्ज--दिल लूटने वाले जादूगर.......]

किस पुण्य शालिनी माता ने–मुनिवर तुमको दुहराया है।
सौभाग्य से ही मैने गुरुवर चरणों के दर्शन पाया है ॥ टेर ॥

एक रूप रंग कांति छ.हो देव पुत्र से शोभित हैं।
उन माता का नाम कहो–जिन्होने गोद खिलाया है ॥ १ ॥

कैसे माँ ने आज्ञा दे दी–कैसे वियोग का दु ख झेला।
कैसे बीती होगी जब तुमने–संयम का वचन सुनाया है ॥ २ ॥

कुछ देर जो मैने देखा है, मुझको तुम कृष्ण से जान पडे।
भक्ति भावो के साथ-साथ, वात्सल्य उमड़कर आया है ॥ ३ ॥

अनिर्वचनीय आनन्द अनुभव, करती हूँ मैं केवल मुनिवर।
धन्य-धन्य उस माता को, जिनने तुमको दूध पिलाया है ॥ ४ ॥

[१२]

मुनियों के उत्तर

हे देवकी महारानी सुन ले, हम बार-बार नही आये हैं।
है एक समान छः भाई, छ.हो एक मात् के जाये है ॥ टेर ॥

भद्दिलपुर के रहने वाले, माता सुलसा के नन्दन है।
और नाम-नाम के महर्दिक गाथापति पिता कहाये है ॥ १ ॥

क्रीड़ा अध्ययन मे वीत गया, वालापन, तरुणाई आई।
वत्तीस-वत्तीस सुन्दरियो से, हम सवने फेरे खाये है ॥ २ ॥

प्रभु अरिष्ट नेमीनाथ आये, हम वाणी सुनकर हर्षाये ।
ससार स्वपन सा जान पड़ा, और भोग भुजग दर्शाये है ।। ३ ।।

तन धन जल के बुद-बुद से लगे, यौवन अनित्य निस्सार जचा ।
अमृत पीकर अमर होने हम, प्रभु चरण मे आये है ।। ४ ।।

सयमी बने जिस दिन से ही, दो-दो दिन के व्रत करते है ।
है आज पारणा केवल मुनि भिक्षा लेने को आये है ।। ५ ।।

[१३]

क्षमा का पुजारी (गज सुकमाल)

[तर्ज—चुप चुप खडे हो……]

क्षमा का पुजारी वीर गज सुकमाल था, देवकी का लाल था जो,
देवकी का लाल था ।। टेर ।।

प्रेमभरी वाणी सुन नेम भगवान् की दिल मे अनोखी जोत,
जग गई ज्ञान की ।।
सयम ले दुनिया का काटा मोह जाल था ।। १ ।। देवकी का लाल…. ।।

माता ने आशीर्वाद दिया प्रेम प्यार से,
वेडा पार कर जाना वेटा ससार से ।
यही वात वार-वार कर रहा "गोपाल" था ।।२।। देवकी का लाल…. ।।

मन को वना के दृढ वज्र समान जी,
जा के शमशान में लगाया, झट ध्यान जी ।
"सोमेल" वहाँ पे तव, आया तत्काल था ।। ३ ।। देवकी का लाल…. ।।

देख लो ९९ लाख भव वाद जी, प्रतिशोध आ गया,
अचानक ही याद जी ।
वदला चुकाया सिर अग्नि को डाल था ।। ४ ।। देवकी का लाल…. ।।

गुस्सा एक राई भी न, लाए मुनि मन में,
कर गए "चदन" वे वेड़ा पार क्षण मे ।
शान्त स्वभाव कैसा उनका कमाल था ।। ५ ।। देवकी का लाल … ।।

[१४]

कृष्ण का भाई से कहना

भैया त्रिखण्ड के बनो आप पति, यह स्वर्ग जैसी रिद्ध त्यागो मती ।।टेर।।

चक्री शची देव का पद पाया अनंती वार जी,
जितनी जगत में आत्मा, उनसे किया व्यवहार जी ।
तो भी तृष्णा मिटी नही पाव रति ।। १ ।। यह स्वर्ग · ।।

एक दिन राज करते देखलें हम आपको,
पुत्र होके आप राजी करो माँ बाप को ।
पीछे प्रभु पे हो जैन जति ।। २ ।। यह स्वर्ग···· ।।

मौन करते लाल को देखी हुवे हुल्लास जी,
गादी बिठाया भ्रात को, कृष्ण खड़े जिमदास जी ।
स्वामी आज्ञा करो आप पति ।। ३ ।। यह स्वर्ग · ।।

भडार से मोहरें निकालो–लाख त्रण तुम भ्रात जी,
दोय लाख के ओधा पातरा, एक लाख नापीत जी ।
मुझे दीक्षा लेना करो, शीघ्र गति ।। ४ ।। यह स्वर्ग ·· ।।

दीक्षा ग्रही श्री नेम पे किया पच मुष्ठी लोच जी,
तन धन योवन कारमो, काया तणो नही सोच जी ।
कहे कृष्ण मुनि रिद्ध त्यागी छती ।। ५ ।। यह स्वर्ग···· ।।

[१५]

यों देव की रानी बिलखानी

[तर्ज—संगठन की वीणा बजने दो····]

यों देवकी रानी बिलखानी, वो पुत्र विना है अकुलानी ।

मन घोर निराशा छाई है, तन की सब छवि मुरझाई है ।
यो शोक घटा घिर कर आनी । यो देवकी····।।१।।

नन्दन सातो मैने जाए, पर किसी को ना है दुलराए ।
यो शोकाकुल हुई महारानी ।। यों देवकी····।।२।।

मैं झूला नहीं बन्धा पाई, ना मधुर हालरिया गा पाई ।
माँ की ममता यों निशानी ।। यो देवकी ।।३।।

ना दुग्ध पान ही करवाया, ना गोदी लेकर दुलराया ।
चुम्बन दे ना मैं हर्षानी ।। यो देवकी····।।४।।

ना लाल को लाड़ लडाया है, ना अंगुली पकड़ चलाया है ।
मुझ माँ की व्यर्थ है जिन्दगानी ।। यों देवकी····।।५।।

माँ का कर्तव्य निभा न सकी, निज संस्कार कुछ भर न सकी ।
फिर क्यों कर मा मै कहलानी ।। यों देवकी····।।६।।

यो आँसू भर-भर झुरती है, मन में वह आहे भरती है ।
यों बिसुर रही देवकी रानी ।। यो देवकी····।।७।।

तव कृष्ण वन्दन को आते है, चरणो मे शीष झुकाते है ।
फिर बोले वे यो मृदु वाणी ।। यो देवकी रानी····।।८।।

मै गोद तुम्हारी भराऊँगा, कुछ ऐसा साज सजाऊँगा ।
तुम्हें "शान्ति" मिलेगी कल्याणी ।। यो देवकी····।।९।।

[१६]

वीर माता द्वारा गायी जाने वाली लोरी

वालो पाँखा बाहर आयो माता वेण सुनावे यूँ ।।टेर।।
म्हारी कूँख सराई जे रे वाला मैं थने सखरी घूँटी दूँ ।।टेर।।

तेज कटारी नालो मोड्यो, नालो मोड़त वोली यूँ ।
वैरियाँ री फोजाँ मे जाया सत्य विजय कर आईजे थूँ ।।१।।

मेढी चढकर थाल वजायो, थाल वजावत वोली यूँ ।
चार खूट चौखड़े रे वाला नौवतड़ी वजवाईजे थूँ ।।२।।

कुवे पुजने फलसे आई फलसे वडता वोली यूँ ।
कलशाने ढोलारे धमके आरतडी करवाईजे थूँ ।।३।।

गोदियाँ सूतो वालक चुखे माता वेण सुनावे यूँ ।
धोला दूध में कायरता रो कालो दाग मत लगाइजे थूँ ।।४।।

वालो माँ छाती पर चेप्यो छाती चेपत वोली यूँ ।
दीन दु:खी असहाय जना ने छाती से चिपकाईजे थूँ ।।५।।

वालो माँ भूजा पर लीनो भार तोलत वोली यूँ ।
धरती माँ रो भार घटाईजे मत ना भार वढाईजे थूँ ।।६।।

सोहन पालने बाले झूले झोटत-झोटत बोली यूँ ।
इतनी बार हिलाईजे पृथ्वी मै थने जितरा झोटा दूँ ।।७।।

उडन खटोले बालक सूतो माता बोल सुनावे यूँ ।
बैरियाँ री चतुरगिनी सेना गाढ़ी नीद सुलाईजे थूँ ।।८।।

इतरा काम करेला मारा जाया जद जानुली जायो तूँ ।
पुत्री जामकर रही बाँझडी नहीतर मै समझूली यूँ ।।६।।

[१७]

आधुनिक लोरी

बालो पांखा बाहिर आयो माता बैण सुनावे यूँ ।
रो मत, रो मत, रो मत बाला थने विनणी परणाय दूँ ।।

झूला मांही बालो झूले, झोटत-झोटत बोली यूँ ।
बारे हाउ म्याउ बैठा खाजासी थने, सोजा तूँ ।।

[१८]

देवकी का झूरना

हम झूरे देवकी रानी या तो पुत्र बिना बिलखाणी रे ।।हम....।।
मै तो सातोनन्दन जाया पिण एक न गोद खिलाया रे ।।हम....।।१।।
नही गहणा कपड़ा पहनाया, नही झगल्या टोपी सिलाया रे ।।हम....।।२।।
नही काजल आँख लगायो नही स्नान करीने जोमायो रे ।।हम....।।३।।
नही गाल दामणा दीधा, बली चाँद सूरज नही कीधा रे ।।हम....।।४।।
नही स्तन पान करायो, रूठता ने नही मनायो जी ।।हम....।।५।।
धू-धू कही नाही डरायो, नही गुदगुल्या पाड़ हँसायो रे ।।हम....।।६।।
मै तो कडिया नाही उठायो, नही अँगुली पकड चलायो रे ।।हम....।।७।।
मुख मे चुम्बन नही दीना, नही हर्ष वारणा लीना रे ।।हम....।।८।।
घरे पालणो नही बँधायो, नही मधुर हालरियो गायो रे ।।हम....।।६।।
नही चकरा भँवरी रमाया, नही गुल्या गेंद बसाया रे ।।हम....।।१०।।
मै तो जन्म तणा दु.ख देख्या, गया निष्फल जन्म अलेख्या ।।हम....।।११।।
अभागण पुण्य नही कीना, तासे सुत बीछडा लीना रे ।।हम....।।१२।।
मुख हस्त है नजर है धरती, आँखो मे आँसू भर झुरती रे ।।हम....।।१३।।
पग वन्दन कृष्ण पधारे, माजी को उदास निहारे रे ।।हम....।।१४।।
कहे अमिरिख किम दु.ख पावो, माताजी मुझे फरमाओ ।।हम....।।१५।।

[१६]

मरणो जाणणो

मरणो जाणणौ या मनखा मोटी बात ।।टेर।।

मरणो मरणो सारा के वे, मरे सभी नर-नारी रे ।
मरवा पेली जो मर जाये, तो बलिहारी रे ।।मरणों।।१।।

जीवा सूँ सगलो जग राजी, मरणो कोई न चावे रे ।
राजा रक सभी ने सरखो, तो पण आवे रे ।।मरणों।।२।।

दूजा भूप डरप म्लेच्छा की, कीदी तावेदारी रे ।
वीर प्रताप जाण ने मरणो, टेक न टारी रे ।।मरणो।।३।।

गुरु गोविन्द रो ब्राह्मण भूल्यो, वालक दोय चुणाया रे ।
भाभासा धणिया ने धन दे, पाछा लाया रे ।।मरणो।।४।।

मरवाने बनवीर विसरियो, धाय याद कर लीनो रे ।
चूखांया रा साथे, जातो जातो कीनो रे ।।मरणो।।५।।

मरवा ने जो जाणे वासूं, पाप कर्म नही होवे रे ।
सुख दु ख की परवा नही राखे, प्रभु ने सेवे रे ।।मरणों।।६।।

मरने जवाव राम ने देणो, या जीरे मन लागी रे ।
चतुर चरण वाणीरा सेवे, वो वडभागी रे ।।मरणो।।७।।

[२०]

गजमुनि का माँ से आज्ञा लेना

[तर्ज—तेजाजी]

घर आया माता पास, वोले कँवर प्यारा रे ।
आज्ञा देवो नौ संयम आदरां ।।टेर।।

एडा एडा वोल काई वोलो कँवर प्यारा रे ।
छाती भरीने हिवड़ो उलटे ।।१।।

वीतराग मधुर वाणी सुनी माता मोरी ए ।
वाणी सुणी ने वैरागिया ।।२।।

एडा एड़ा दु ख काई लागा कँवर प्यारा रे ।
माँ ने छोडी ने संयम आदरो ।।३।।

जन्म जरा रा दुःख लागा माता मोरी ए ।
ससार असार मै तो जाणियो ।।४।।
एडा एड़ा कुण भरमाया कुँवर प्यारा रे ।
कुण थाने ज्ञान सिखावियो ।।५।।
नेम प्रभु म्हाने भरमाया माता मोरी ए ।
ज्ञान अनमोल सिखावियो ।।६।।
प्राण प्यारा हिवड़ा रा हार कुँवर प्यारा रे ।
माँ ने छोड़ी ने संयम आदरो ।।७।।
इतरो तो मोह काँई राखो माता मोरी ए ।
आयोड़ा जीवा ने आखिर जावणों ।।८।।
गजसुकमाल अति कोमल कँवर प्यारा रे ।
वाईस परिषह किकर सेक्सो ।।९।।
कायर ने संयम लागे दोय लो माता मोरी ए ।
सुरा ने संयम लागे सोयलो ।।१०।।
सिर लोचन कर पैदल चलनो कँवर प्याराए ।
लोह रा चणा तो पड़सी चावणा ।।११।।
मेरू जितनो भार किम उठासो कँवर प्यारा रे ।
खड्ग री धारा पर पड़सी चालणो ।।१२।।
इतरो तो मोह काई राखो माता मोरी ए ।
सूरों रा जायोड़ा मै तो शूरमा ।।१२।।
अन्न धन्न रिद्धि संपत्ति पाई कँवर प्यारा रे ।
खावोनी पीवोनी मोजा आदरो ।।१४।।
पाव पलक रो भरोसो कोनी माता मोरी ए ।
किणा रे भरोसे मोजां आदरा ।।१५।।
एक दिन रो राजकर बाताओ कँवर प्यारा रे ।
मै ही देखी राजी हुआ ।।१६।।
मुगतपुरी रो राज मै तो करसा माता मोरी ए ।
कृपा करीने देओ आज्ञना ।।१७।।
सुवह आशिष लेयकर चाल्या कँवर प्यारा रे ।
कर्म खपाय गया मोक्ष मे ।।१८।।
दान शील तप भावना भावो कँवर प्यारा रे ।
कर्म खपाय जायजो मोक्ष मे ।।१९।।

[२१]

दुर्लभ जीवन

बहु पुण्य केरा पुंज थी शुभ देह मानव नो मल्यो ।
तोये अरे भव चक्रनो, आँटो नही एके टल्यो ।।
सुख प्राप्त करता सुख टले छे लेका ए लक्षे लहो ।
क्षण-क्षण भयकर भाव मरणे कां अहो राची रहो ।।१।।

लक्ष्मी ने अधिकार वधतां शुं वध्युं ते तो कहो ।
शु कुटुम्ब के परिवार थी वधवापणुं ए नय ग्रह्यो ।।
वधवा पणु संसार नुं नर देह ने हारी जवो ।
एनो विचार नही अहो हो एकपल तमने हवो ।।२।।

निर्दोष सुख निर्दोष आनन्द त्यागने त्याथी मले ।
ए दिव्य शक्तिमान जेथी जजीरों थी नीकले ।।
पर वस्तुमा नहि मुंझवो, एनी दया मुजने रही ।
ए त्यागवा सिद्धान्त के पश्चात् दुखते सुख नही ।।३।।

हुँ कोण छूं क्या थी थयो, शुं स्वरूप छे मारू खरूं ।
कोना संबधे बलगणा छे राखुं के ए परिहरूं ।।
एना विचार विवेकपूर्वक शांतभावे जे कर्या ।
तो सर्व आत्मिक ज्ञानमां सिद्धान्त तत्त्वो अनुभव्यां ।।४।।

ते प्राप्त करवा वचन कोनु सत्य केवल मानवु ।
निर्दोष पर नुं कथनमानो, तेह जेते अनुभव्यु ।।
रे आत्मा तारो आत्म तारो शीक्र एने ओलखो ।
सर्वात्म मां समदृष्टी दयो आवचन ने हृदये लखो ।।५।।

[२२]

श्री सुदर्शन सेठ

सुदर्शन श्रावक, पूरणप्रिय धर्मी श्री महावीर नो ।।टेर।।

राजगृही के वाग में सरे, वीर विचरता आया ।
सुनी वात सुदर्शन श्रावक, हृदय हर्ष भराया ।
ले आज्ञा निज मात तात की, तुरंत वंदवा आया रे ।।१।।

देवाधिष्ठ कोप्योथकोस तिण, अवसर अर्जुन माली ।
नगरी के चहुँ फेर फिरेसवो, कर मुद्‌गल झाली ।।
बीत गया छे मास नित, छः छः पुरुष एक नारी रे ।।२।।

ते तिण ने रस्ता में मिलियो, देख र्‍ह्या नर नारी ।
सागरी अनशन कर लीनो, मन मे निश्चय धारी ।।
कुछ नही चाल्यो जोर देवता, निकल गयो तिण वारी रे ।।३।।

अनशन पार लार लेई तिण को, आया बाग में चाली ।
वीर वांद वाणी सुन संजम, लीनो अर्जुन माली ।।
छः महीने में मोक्ष गए सब, जनम मरण दु.ख टाली रे ।।४।।

ऐसा श्रावक होय गुरु की, सदा भक्ति मन भावे ।
कभी कष्ट व्यापे नही सरे, जग माहीं जस पावे ।।
महामुनि "नन्दलाल" तणा शिष्य, जोड करी इम गावे ।।५।।

[२३]

आत्म बल

आत्म बल ही है, सब बल का सरदार ।।टेर।।

आत्म बल वाला अलबेला, निर्भय होकर देता हेला ।
लडकर सारे जग से अकेला, लेता बाजी मार ।।१।। आत्म....

कैसी भी हो फौज भयंकर, तोप मशीने हो प्रलयंकर ।
आत्मबली रहता है बेडर, देता सबको हार ।।२।। आत्म....

चाहे फासी पर लटका दे, भले तोप के मुँह उडवादे ।
आत्मबली सबको ही दुवा दे, कभी न दे धिक्कार ।।३।। आत्म....

लेता है आत्मबलधारी, स्वतत्रता सब जग की प्यारी ।
पराधीनता दु.ख संहारी, करे सुखी ससार ।।४।। आत्म....

प्रति हिसा का भाव न लाता, सदा शाति का गाना गाता ।
सारा सोता देश जगाता, कर नीति प्रचार ।।५।। आत्म....

आत्मबली है जग में नामी, इसमें कुछ भी नही है खामी ।
वनो इसी के सच्चे हामी, तज पशु बल अहंकार ।।६।। आत्म....

[२४]

निर्बल के बल राम

सुनेरी मैंने निर्वल के वल राम,
देखे री मैंने निर्वल के वल राम ।
पिछली साख भरूँ संतन की उलट सँवारे काम ।।सुनेरी....

जब लग गज बल अपनो वर्त्यो,
नेक सर्यो नही काम ।
निर्बल ह्वै बल राम पुकार्यो,
आये आछे नाम ।। सुनेरी····

द्रुपद सुता निर्बल भई जा दिन,
गहलाये निज धाम ।
दु.शासन की भुजा थकिन भई,
वसन रूप भये श्याम ।। सुनेरी····

जप वल, तप बल और बाहु वल,
चौथा वल है दाम ।
सूर किशोर कृपा ते,
सब वल हारे को हरि नाम ।। सुनेरी····

[२५]

अर्जुन मुनि की क्षमा

धन्य अर्जुन मुनिवर, दीक्षा लेई ने चाल्या गोचरी ।। टेर ।।

पूछा वीर से कहो करूँ क्या, देओ राह बताय ।
जिम सुख होवे तिम करो सरे, यो वीर दियो फरमाय ।। १ ।।

तहत उच्चारी वन्दन कीनो, मन मे सोचे जाय ।
वेले–वेले करूँ तपस्या, देऊँ कर्म खपाय ।। २ ।।

राजगृही नगरी के अन्दर लोग रहे घबराय ।
मुनि वेष मे आता देखी, और अचम्भो पाय ।। ३ ।।

मुखपत्ति मुख मे रजोहरण कर जोरी घर–घर जाय ।
लेता देख्या भोजन पारणे, लोग क्रोध मे आय ।। ४ ।।

मारे ताड़े गाली सुनावे, भोजन मिलता नाय ।
दिये परिषह जनता ने तब, समता भाव रहाय ।। ५ ।।

मुनिवर सोचे अनर्थ कीनो, कुटुम्ब मार अपार ।
दिये न वैसे दु.ख उन्होने, क्षमा हृदय मे धार ।। ६ ।।

हुए न हुए पूर्ण पारणे, वर्ष यों अर्ध बिताय।
वीर गुण करते धिक्क आत्मा, केवल उपन्या आय ।। ७ ।।

धन्य–धन्य है वीर प्रभु को, अर्जुन दीनो तार।
गुरु प्रसादे "सागर" वन्दन करता बारम्बार ।। ८ ।।

[२६]

एवन्ता मुनिवर नाव तिराई

(सुज्ञानी जीवा)

एवन्ता मुनिवर नाव तिराई बहता नीर में,
पोलासपुरी नगरी के अन्दर विजयसेन भूपाल।
"श्री देवी" अंग ऊपना रे (सरे) एवंताकुमार हो ।। टेर ।।

बेले–बेले करे पारणो, गणधर पदवी पाया।
महावीर री आज्ञा लेने गौतम गोचरी आया हो ।। १ ।।

खेल रया छै खेल कुँवरजी, देखिया गौतम आता।
घर–घर मांही फिरे हिडता, पूछे दूसडी बाता हो ।। २ ।।

असणादिक लेवण के कारण, निरदोषण मै हेरां।
अंगुली पकड़ी कुँवर एवन्ता, लाया गौतम लेरा हो ।। ३ ।।

माता देखी कहे पुणवन्ता, भली जहाज घर लाया।
हरख भाव हाथां सु लेइने, अन्न पानी वैराया हो ।। ४ ।।

कँवर कहे मुनि भार घणेरो, पात्रा मुझने आपो।
पात्र तो मै जद ही आपां, दीक्षा लो मुझ पासे हो ।। ५ ।।

लारे–लारे चालियो बालक, भेटिया मोटा भाग।
भगवंता री बाणी सुणने, मन चढीयो वैराग हो ।। ६ ।।

घर आया माता कने सरे, अनुमति की अरदास।
पुत्र वचन माता सुणी सरे, मन में आई हास हो ।। ७ ।।

तूं कांई समझे साधुपणा मे, बाल अवस्था थारी।
उत्तर ऐसा दिया कँवरजी, माता कहे बलिहारी हो ।। ८ ।।

तीन लाख सौनेया काढो, श्री भंडारा माही।
दो लाख रा ओघा पात्रा, एक लाख मे नाई हो ।। ९ ।।

हरख भाव सु संयम लेकर, हुवा बाल अणगार ।
भगवता रा चरण भेटिया, धन्य ज्यारो अवतार हो ।। १० ।।

वर्षा काल बरसियो पीछे, मुनिवर स्थंडिल जावे ।
पाल बाध पानी मे पात्री–नावा जेम तिरावे हो ।। ११ ।।

नाव तिरे मारी नाव तिरे, यूं मुख से शब्द उचारे ।
साधा के मन शका उपजी, किरिया लागे थारे हो ।। १२ ।।

भगवत भाखे सब साधा ने, भक्ति करो मन छद ।
हीलना निदा मत करो इनकी, चर्म शरीरी जीव हो ।। १३ ।।

समत अठारे वर्ष चोराणु, चैत्र वदी रविवार ।
पूज्य प्रसादे जोडी जुगत से, देव गुरु प्रसाद हो ।। १४ ।।

[२७]

एवंताकुमार व माता श्री देवी का संवाद

ए :—माता एक सुनाता हूँ, दीक्षा लेने जाता हूँ, आज्ञा दे सैय्या ओ ।।टेर।।
श्री :—ओह बेटा लालजी एवंताकुमारजी इसो काई बोलिया ओ ।।टेर।।
ए :—इन्द्रभूति की अगुली पकडी, गया वीर के पास ।
श्री :—पावन हो गये चरण तेरे धन्य–धन्य शाबास ।
धर्म रुचि जागी है, भेद्या वीतरागी है······ इसो·······।। १ ।।
ए :—वीर प्रभु के अभिनव दर्शन, मैने किया वहाँ पे ।
श्री :—अभिराम बनी है आँखे तेरी, देखा तेने जहाँ पे ।
धन्य ऐसे लाल को, धन्य ऐसे बाल को······ इसो·······।। २ ।।
ए :—पचांग नमाकर विनीत भाव से, वंदन कीना मैने ।
श्री :—पवित्र हो गई देही तेरी, नमन किया जब तेने ।
गया चरणो मे, पडा चरणो मे······आज्ञा·······।। ३ ।।
ए :—वीर प्रभू की मधुरी वाणी, सुनी सुधा की रवानी,
आया मुझे वैराग्य माता, नाता झूठा जानी ।
खुले पट घट के, जाऊँ माता उठके······ आज्ञा·······।। ४ ।।
श्री :—ओहो म्हारा व्हाला लाला लाडला कुमारजी,
खेलो-खेलो जावो थे तो, देऊ दड़ी सुखकारीजी ।
थे कांई जाणो थे कांई पीछाणो·······इसो·······।। ५ ।।

हुए न हुए पूर्ण पारणे, वर्ष यों अर्ध बिताय।
वीर गुण करते धिक्क आत्मा, केवल उपन्या आय ।। ७ ।।

धन्य–धन्य है वीर प्रभु को, अर्जुन दीनो तार।
गुरु प्रसादे "सागर" वन्दन करता बारम्बार ।। ८ ।।

[२६]

एवन्ता मुनिवर नाव तिराई

(सुज्ञानी जीवा)

एवन्ता मुनिवर नाव तिराई बहता नीर में,
पोलासपुरी नगरी के अन्दर विजयसेन भूपाल।
"श्री देवी" अंग ऊपना रे (सरे) एवंताकुमार हो ।। टेर ।।

बेले–बेले करे पारणो, गणधर पदवी पाया।
महावीर री आज्ञा लेने गौतम गोचरी आया हो ।। १ ।।

खेल रया छै खेल कुँवरजी, देखिया गौतम आता।
घर–घर मांही फिरे हिडता, पूछे दूसडी बाता हो ।। २ ।।

असणादिक लेवण के कारण, निरदोषण मै हेरां।
अंगुली पकड़ी कुँवर एवन्ता, लाया गौतम लेरां हो ।। ३ ।।

माता देखी कहे पुणवन्ता, भली जहाज घर लाया।
हरख भाव हाथा सु लेइने, अन्न पानी वैराया हो ।। ४ ।।

कँवर कहे मुनि भार घणेरो, पात्रा मुझने आपो।
पात्र तो मै जद ही आपा, दीक्षा लो मुझ पासे हो ।। ५ ।।

लारे–लारे चालियो बालक, भेटिया मोटा भाग।
भगवंता री बाणी सुणने, मन चढीयो वैराग हो ।। ६ ।।

घर आया माता कने सरे, अनुमति की अरदास।
पुत्र वचन माता सुणी सरे, मन में आई हास हो ।। ७ ।।

तूँ कांई समझे साधुपणा में, बाल अवस्था थारी।
उत्तर ऐसा दिया कँवरजी, माता कहे बलिहारी हो ।। ८ ।।

तीन लाख सौनेया काढो, श्री भंडारा माही।
दो लाख रा ओघा पात्रा, एक लाख मे नाई हो ।। ९ ।।

हरख भाव सु संयम लेकर, हुवा बाल अणगार ।
भगवता रा चरण भेटिया, धन्य ज्यारो अवतार हो ॥ १० ॥

वर्षा काल वरसियो पीछे, मुनिवर स्थडिल जावे ।
पाल बाध पानी मे पात्री–नावा जेम तिरावे हो ॥ ११ ॥

नाव तिरे मारी नाव तिरे, यूं मुख से शब्द उचारे ।
साधा के मन शका उपजी, किरिया लागे थारे हो ॥ १२ ॥

भगवत भाखे सब साधा ने, भक्ति करो मन छद ।
हीलना निदा मत करो इनकी, चर्म शरीरी जीव हो ॥ १३ ॥

समत अठारे वर्ष चोराणु, चैत्र वदी रविवार ।
पूज्य प्रसादे जोडी जुगत से, देव गुरु प्रसाद हो ॥ १४ ॥

[२७]

एवंताकुमार व माता श्री देवी का संवाद

ए :—माता एक सुनाता हूँ, दीक्षा लेने जाता हूँ, आज्ञा दे सैय्या ओ ॥टेर॥
श्री :—ओह वेटा लालजी एवताकुमारजी इसो कांई वोलिया ओ ॥टेर॥
ए :—इन्द्रभूति की अगुली पकड़ी, गया वीर के पास ।
श्री :—पावन हो गये चरण तेरे धन्य–धन्य शाबास ।
धर्म रुचि जागी है, भेद्या वीतरागी है·······इसो·······॥ १ ॥
ए :—वीर प्रभु के अभिनव दर्शन, मैने किया वहाँ पे ।
श्री :– अभिराम वनी है आँखे तेरी, देखा तेने जहाँ पे ।
धन्य ऐसे लाल को, धन्य ऐसे बाल को·······इसो·······॥ २ ॥
ए :—पचाग नमाकर विनीत भाव से, वदन कीना मैने ।
श्री :—पवित्र हो गई देही तेरी, नमन किया जब तेने ।
गया चरणो मे, पडा चरणों मे·· ····आज्ञा·······॥ ३ ॥
ए :—वीर प्रभू की मधुरी वाणी, सुनी सुधा की रवानी,
आया मुझे वैराग्य माता, नाता झूठा जानी ।
खुले पट घट के, जाऊँ माता उठके······ आज्ञा·······॥ ४ ॥
श्री :—ओहो म्हारा व्हाला लाला लाडला कुमारजी,
खेलो-खेलो जावो थे तो, देऊ दडी सुखकारीजी ।
थे काई जाणो थे काई पीछाणो·······इसो·······॥ ५ ॥

ए :—जाणू सो नहीं जाणू माता, नही जाणू सो जाणू ।
श्री :—यूँ काँई तू बोले बेटा, मै समझी नही नानूँ.........॥ ६ ॥
ए :—जानू जरूर मरूँगा माता, कब मरूँगा नही जानूँ,
कहाँ जाऊँगा यह नही जानूँ यथा कर्म मै जानूँ ।
यो अरथ अणी को, यो भाव अणी को.........आज्ञा.........॥७॥
श्री :—यो ज्ञान कठासूँ लायो बेटा, धन्य थारो अवतार जी,
जाओ–जाओ लेओ दीक्षी, अनुमत दूँ हितकारजी ।
कहे लालमुनि जी और मानमुनि जी पार उतारना.........॥८॥

[२८]

काली महारानी

(तर्ज :—गजन बिन काई होसी रे सूल)

काली ओ रानी सफल कियो अवतार ।
ते तो पापी छे भवोदधि पार ॥ टेर ॥

कोणीक रायनी छोटी ओ माता श्रेणिक नृप नीनार ।
वीर जिनन्द की वाणी सुनीने लीनो सयम मार ॥ १ ॥

चन्दनबालाजी जैसी मिली हो गुराणी के नित नमु चरणार ।
विनय करीने गणिया अंग ग्यारह तेनी निर्मल बुद्धि अपार ॥ २ ॥

सुरुमति गुप्ति संयम पालतां चढी हो परिणाम की धार ।
आज्ञा लेईने सति निजगुरणी की तपस्या माडी है सारा ॥ ३ ॥

शरीर शक्ति जात सतिने आराध्यो रत्नावली तन नो हार ।
चार लड़ी सम्पूर्ण कीनी ते नो आठवे अंग मे अधिकार ॥ ४ ॥

पाँच वर्ष तीन मास दो दिन कम लाग्यो इतनो काल ।
धन्य महासति तप आराध्यो तेने वन्दन छे वारम्वार ॥ ५ ॥

आठ वर्ष कुल सयम पाल्यो कर्म किया सब छार ।
जन्म जरा और मरण मिटायो पहुँची मोक्ष मझार ॥ ६ ॥

मुनि नन्दनलाल तणा शिष्य गायो शहर विलाडा मझार ।
ऐसी सति का सुमिरण करता मुझ वरते मगलाचार ॥ ७ ॥

□ □ □

परिशिष्ट—२

गुदड़ी का लाल

[खेमाशाह-कथा-काव्य मे]

[तर्ज—राधेश्याम····]

शुभ दान धर्म से पाता नर जग में सुयश अपार है

भारत की सस्कृति त्याग की सस्कृति मानी जाती हे ।
विश्व मच पर इसकी गरिमा की नही सानी पाती है ।।१।।

दान धर्म भी त्याग मार्ग का प्रथम अग माना जाता ।
विश्व मच पर भारत जन-गण इसीलिये आदर पाता ।।२।।

दान धर्म की महिमा का कुछ गान यहाँ पर करना है ।
खेमाशाह जीवन दर्शन से दिव्य प्रेरणा वरना है ।।३।।

इतिहास वताता वणिक जाति का गौरव कितना उज्ज्वल था।
उचित समय पर उचित दान दे, किया नाम समुज्ज्वल था ।।४।।

दानवीर नर रत्न "विमल" और "झगडू" भामाशाह हुए ।
निज सर्वस्व लुटाने वाले, नर वर खेमाशाह हुए ।।५।।

जव-जव देश-जाति पर, संकट के वादल गहराए थे ।
मोह त्याग कर निज वैभव का, जन-जन दु:ख मिटाए थे ।।६।।

उसी जाति के नर पुंगव खेमाशाह का इतिवृत्त सुने ।
वणिक जाति के उज्ज्वल गौरव की गाथा स्थिरचित्त सुनें ।।७।।

गुर्जर की पावन भू पर था, चम्पानेर नगर सुन्दर ।
नगरजनो मे श्रेष्ठिजनों का प्रेम परस्पर था मन हर ।।८।।

एक दूसरे के सुख दु:ख मे साथी सब ही होते थे ।
देश जाति और धर्म के हेतु निज सर्वस्व विगोते थे ।।९।।

मुगल काल की उस अवधि मे मोहम्मद बेगड़ा बादशाह ।
शाहीपन की मगरूरी मे माने निज को शहशाह ।।१०।।

शार्दुलखाँ उमराव एक था, चाटुकारियों का सिरताज ।
करे खुशामद वादशाह की एक यही था उसका काज ।।११।।

नगर श्रेष्ठि थे चापसी मेहता जो थे, अति श्रीमण्त महान् ।
दान-दया-सतशील-भाव मे, विश्रुत कीर्ति, थे धीमान् ॥१२॥

एक दिवस कुछ नगरजनो सग, श्रेष्ठि चापसी जाते थे ।
शार्दूलखाॅ उमराव साथ था, उधर से भाट चल आते थे ॥१३॥

सहज सरलता से चारण ने, नगर-श्रेष्ठि गुणगान किया ।
नगर शाह तुम खरे शाह हो, बादशाह सम मान दिया ॥१४॥

शाह प्रथम से शाह हुए है, आन मान सम्मान लिये ।
बादशाह का नम्बर दूजा, यों चारण ने गान किये ॥१५॥

शाहो का गुणगान श्रवणकर शार्दूल मे ईर्ष्या जागी ।
बादशाह के चरणो पहुँचा लगा दी नृप के मन आगी ॥१६॥

जहापनाह ! ये भाट लोग जो माल आपका खाते है ।
किन्तु गान कर बनियो के ये, श्रेष्ठ इन्हें बतलाते है ॥१७॥

शाहों से ये कहते है कि, तुम तो हो शाहों के शाह ।
शाह शाह है और बाद मे नम्बर आता बादशाह ॥१८॥

क्रोधित होकर बादशाह ने त्वरित भाट को बुलवाया ।
कहा कड़ककर क्यों बढ़ चढकर, बनियो का है गुण गाया ॥१९॥

खाते हो तुम माल हमारा, गुण गाते हो बनियो के ।
क्या देखा है उनमें तुमने, क्या लगते तुम धनियो के ॥२०॥

कहा भाट ने मृदुल स्वरो में, राजन् ! मैने सत्य कहा ।
शाहों के पूर्वज लोगों ने, जो कुछ किया अवितथ्य कहा ॥२१॥

जब तेरह सौ पचहत्तर में काल घटा घिर आई थी ।
हाहाकार मचा था चहुँ दिश, त्राहि त्राहि तब छाई थी ॥२२॥

जन जन का मन तरस रहा था, अन्न के दाने दाने को ।
बिलख बिलख कर बच्चे रोते, रोटी टुकड़ा खाने को ॥२३॥

था ऐसा दुष्काल भयंकर मानो काल ही चला आया ।
दीन दु:खी जन-जन को हरते, जरा नही वह सकुचाया ॥२४॥

जहाँपनाह ! तब शाहो ने ही, देश की लाज वचाई थी ।
विना भेद के विना मूल्य के, जन सेवा की सचाई थी ॥२५॥

गुजरात, मालवा, सिध, वग, पजाव अरु राजस्थान प्रदेश ।
जहाँ कही भी दीन दु.खी थे, मिटा दिये थे सवके संक्लेश ॥२६॥

अनवरत दिया दान वर्ष तक, खोल दिये थे सव भडार ।
एक अकेले महा "शाह" ने कर दिया जन जन उद्धार ।।२७।।

यो शाहो के जहाँपनाह ! सव जन-जन दु.ख मिटाया है ।
सकट वेला मे सव कुछ दे उज्ज्वल नाम कमाया है ।।२८।।

चारण के शव्दो को सुनकर, वादशाह मन कुपित हुआ ।
जाओ समय पडे देखेगे, यो वाणी में व्यग हुआ ।।२९।।

मास-दिवस की अविरल गति से, वीत रहा था काल-सुकाल ।
प्रकृति प्रकोप से पड़ा वहाँ पर, एक समय भारी दुष्काल ।।३०।।

मेघ वृष्टि विन सूखी धरती, अन्न विना जन-जन तरसे ।
घास विना पशु भी मरते है, त्राहि-त्राहि सव जन करते ।।३१।।

पूरे गुर्जर प्रान्त मे फैला, काल प्रभाव से हाहाकार ।
पशु-पक्षी की आर्त्तवाणी से, गूँज उठी थी चीत्कार ।।३२।,

दीन-दु.खी जन टोली बनाकर, आते वादशाह के पास ।
जहाँपनाह ! कुछ अन्न वस्त्र दे, भरे पेट करते अरदास ।।३३।।

बादशाह ने सोचा मन मे, अवसर सुन्दर आया है ।
शाहो की करने की परीक्षा, त्वरित भाट वुलवाया है ।।३४।।

सुन आदेश वादशाह का, भाट तुरत चलकर आया ।
नम्र भाव से नत सिर होकर, कहा आदेश क्या फरमाया ? ।।३५।।

बादशाह फिर व्यंग भरे शव्दो में, भाट से यों वोले ।
वहुत बडाई शाहो की तुम, वढ चढकर करते बन भोले ।।३६।।

आज समय है आया सम्मुख तेरे, शाह परीक्षण का ।
शाहों के गुण-गान किये जो, उन सवके ही निरीक्षण का ।।३७।।

करी वडाई जो थी तुमने, सत्य तभी मै मानूँगा ।
अनावृष्टि की इस वेला मे खरा सत्य पहुँचावूँगा ।।३८।।

देख रहे गुजरात भूमि मे, भीषण तम दुष्काल पडा ।
त्राहि त्राहि सव ओर मची है, सकट विकट है आन खड़ा ।।३९।।

सकट की इस वेला मे यदि शाह वर्ष भर का दे धान्य ।
गुर्जर का संकट सब टाले, तो ही शाह रहेगे मान्य ।।४०।।

यदि वर्ष भर अन्न न दे तो, शाह न वे कहलायेगे ।
शाह-शाह गुण गाने वाले, सब दोषी कहलाएगे ।।४१।।

अवनत सिर, फिर भाट यों बोला, जहाँपनाह है यह स्वीकार ।
शाहों से मिलकर करता मै उचित व्यवस्था सह सत्कार ।।४२।।

यों कह भाट चाँपसी मेहता के समक्ष आ खड़ा हुआ ।
बादशाह से हुई चर्चा रख कहा प्रश्न है अड़ा हुआ ।।४३।।

कहा सेठ ने सिर्फ माह की, अवधि नृप से हे आओ ।
पूर्ण करेंगे नृप आज्ञा को, संयश किंचित् ना लाओ ।।४४।।

बादशाह से एक माह की, अवधि भाट तब ले आया ।
नगर प्रमुखो का चिन्तन तब, स्व कर्त्तव्य पर है आया ।।४५।।

हो एकत्रित महाजनों ने सोचा, अब क्या करना है ।
जाति गौरव रक्षा हेतु, सर्वस्व दाव पर धरना है ।।४६।।

सभी शाहो ने क्षमता से भी, अधिक द्रव्य देना धारा ।
लिखने लगे टीप तो, सबने उत्साह दान का स्वीकारा ।।४७।।

पूरे ही गुर्जर प्रदेश को, चार माह तक दे दे अन्न ।
इतनी टीप भर गई तुरत ही आठ माह बच गये थे अन्य ।।४८।।

आठ माह पूर्ति हेतु सोचा नगरान्तर जाना ।
नगर श्रेष्ठि और प्रमुख जनो ने, पाटन जाने का ठाना ।।४९।।

पाटन नगर प्रमुखों ने भी किया परस्पर तनिक विचार ।
चार माह की अवधि भर दी, देकर परम उदार सहकार ।।५०।।

शेष बचा जो चार माह की अवधि उसे भराना है ।
इसलिये फिर पंचों ने नगरान्तर जाना ठाना है ।।५१।।

किसी तरह गाँवो नगरो मे, घूम-घूम कर लाऐंगे ।
आन-मान-मर्यादा अपनी, पूरी कर दिखलाऐंगे ।।५२।।

बीस दिवस यो बीत गए है, रह गए केवल दस दिन शेष ।
कार्य पूर्ण कर निज घर जाना, गौरव रक्षा हो सविशेष ।।५३।।

अल्पावधि मे तीव्र गति से करना है अपना सब काम ।
चलते चलते आया मार्ग मे, "हडाला" एक छोटा ग्राम ।।५४।।

पुण्यशील श्रावक यहाँ रहता, 'खेमशाह' था जिसका नाम ।
सीधा सादा परिवेश था, किन्तु लगता था अभिराम ।।५५।।

निर्मल चित्त और सरल स्वभावी, सौम्याकृति था गुण का धाम ।
अहंकार का नाम नही था, सात्विकता से करता काम ।।५६।।

लघु ग्राम लख नगर लोग, सव वाहर से ही जाते थे ।
समय अल्प और कार्य अधिक, लख जानें मे सकुचाते थे ।।५७।।

ज्ञात हुआ जब खेमाशाह को, गाँव वाहर से जाते है ।
चम्पानेर नगर प्रमुखजन, यहाँ आते सकुचाते है ।।५८।।

गया खेमा और किया निवेदन, यों चुपके क्यो जाते हो ।
मुझ गरीव की कुटिया को भी, क्यो न पूत वनाते है ?।।५९।।

वडे भाग्य से मिला है अवसर, करे निवेदन यह स्वीकार ।
किञ्चित् काल रुके यही पर, कुटिया पर ले अल्पाहार । ६०।।

सीधा सादा परिवेश लख, नगरजनो ने सोचा यह ।
माँगेगा कुछ अर्थ सहायता, समुचित होगा देना यह ।।६१।।

कहे चाँपसी मत रोको तुम, हमें अभी बढ जाने दो ।
वहुत वड़ा है काम हाथ मे, अपनी लाज वचाने दो ।।६२।।

अगर सहायता कुछ चाहो तो, यही तुम्हे हम देते है ।
आग्रह अधिक उचित न होगा, हम आगे वढ लेते है ।।६३।।

सर आँखो पर वात आपकी, किन्तु मै नही मानू गा ।
नम्र भाव से खेमा वोले, 'आगे नही जाने दू गा' ।।६४।।

अल्पाहार आपका होगा, आज यही मम कुटिया पर ।
देरी ना अव किञ्चित् होगी, शीघ्र चले मम कुटिया पर ।।६५।।

घर आई गगा का ऐसे, जाना नही सह पाऊँगा ।
और नही कुछ मुझे चाहिये, अतिथि व्रत कल चाहूँगा ।।६६।।

खेमा का आग्रह लखकर के, सेठ चाँपसी यों वोले ।
रुकना ही होगा यहाँ पर, क्यो व्यर्थ विवादो मे डोले ।।६७।।

खेमशाह यो नगरजनो संग, हर्षित निज-घर आता है ।
वहुत अधिक मनुहार कर कर, अल्पाहार कराता है ।।६८।।

सेठ चाँपसी वोले आपने, वहुत अधिक सत्कार किया ।
शीघ्र विदाई दे हमको, यो जाने को पदचार किया ।।६९।।

खेमाशाह ने कहा आप यो, जा न सकेगे विन आहार ।
मुझ गरीव का रूखा सूखा, ले भोजन वस है तैयार ।।७०।।

कहे चाँपसी धर्म वन्धुना, अधिक समय है यो खोता ।
समय निकल जाने पर होगा, जाति गौरव को खोना ।।७१।।

एक न मानी खेमा ने, षडरस भोजन तैयार किया ।
मिष्ठान्न बनाकर विविध भाति के, हार्दिक यो सत्कार किया ।।७२।।

भोजन से निवृत्त हुए तो, खेमा शाह यो बोले है ।
हुआ आगमन किस हेतु क्यों, जाते थे अनबोले है ।।७३।।

दिया कष्ट है बहुत आपको, क्षमा आप कर देवे जी ।
उचित करे तो निज प्रयोजन, मुझको भी कह देवे जी । ७४।।

सेठ चाँपसी ने यो व्यतिकर, बादशाह का पूर्ण कहा ।
लिखे आप भी जो कुछ इच्छा, अमर बने यह मिलन अहा ।।७५।।

किया बहुत सत्कार आपने, स्मृति इसकी बनी रहे ।
लिख खेमा का नाम टीप मे, सेठ चांपसी वचन कहे ।।७६।।

नम्र भाव धर खेमा बोला, किंचित वेला ठहरे आप ।
वृद्ध पिता से जरा पूछकर, अपने दिवस लिखा इसाफ ।।७७।।

पूज्य पिता श्री देदराणी से, जा खेमा ने वृत्त कहा ।
नगर सेठ आदि के आने का, उद्देश्य परिपूर्ण कहा ।।७८।।

हर्षित हो देदरानी ने कहा, अवसर सुन्दर आया ।
लक्ष्मी तो चंचल है बेटा, ले लो लाभ तुम मन चाया ।।७९।।

साथ न आए कानी कोडी, गड़ा धरा मे रह जाय ।
कमा लो सुयश तुम बेटा, न अवसर बार-बार आए ।।८०।।

अभ्र पटल छायावत् बेटा, लक्ष्मी आती और जाती ।
शुभ कार्यो मे इसे लगाकर, बनालो अपनी ही थाती ।।८१।।

जितना दिल दरियाव बनाकर, दे सको तुम दो खेमा ।
जाति गौरव रक्षा हेतु, सब अर्पण कर दो खेमा ।।८२।।

पितु आज्ञा ले प्रसन्नचित्त हो, खेमा बाहर को आए ।
टीप पत्र ले दिवस तीन सौ, साठ हाथ से लिखवाए ।।८३।।

देखा नगर जनों ने तो, विस्मय का ना कुछ पार रहा ।
सोचा ग्राम वन्धु है भूला, लिखने का ना ध्यान रहा ।।८४।।

सेठ चाँपसी हँसकर बोले, खेमाजी क्या लिखा यहाँ ।
गम्भीर वदन हो खेमा बोले, दिवस तीन सौ साठ यहाँ ।।८५।।

कहे चापसी सोच समझकर, ही खेमाजी लिखियेगा ।
खेमा बोला यदि अल्प हो, द्विगुणित आप कर लीजियेगा ।।८६।।

नगरजनो ने सुनी बात तो, हर्ष भरा विस्मय छाया ।
लगता है यहाँ धोखा है, यो मन सबका ही चकराया ।।८७ ।

नगरजनो की मुखाकृति लख खेमा ने सब कुछ भाँप लिया ।
तलघर मे ले जाकर उनको, बता सभी चुपचाप दिया ।।८८।।

नगरजनो ने देखी वहाँ पर, स्वर्ण ईंटो की बडी कतार ।
मणिमुक्ता के ढेर लगे है, रत्नो का अद्भुत भडार ।।८९।।

गए दूसरे तलघर मे तो, धान्यो के है कूप भरे ।
गेहूँ, मक्का, चना, मूँग के, बड़े कूप अनूप भरे ।।९०।।

नगरजनो ने देखा सब तो, विस्मय का था ना कुछ पार ।
धन्य धन्य हो धन कुबेर तुम, धन्य तुम्हारा भाव उदार ।।९१।।

एक स्वर से बोल उठे सब, दिल कैसा दरियाब बना ।
सीधा सादा रहन सहन पर, उज्ज्वल कितना भाव है ।।९२।।

नही जाना था साहजी हमने, इतने धनी दानी है आप ।
गुदडी मे यो लाल छिपा है, हमने पहिचाना अब साफ ।।९३।।

इतनी अक्षय निधि होने पर, भी नही तुमको किचित् मान् ।
समझ रहे थे दीन अभी तक, देख आपका यह परिधान ।।९४।।

लघुता मे ही प्रभुता का शुभदर्शन हमने पाया है ।
करे कैसे गुणगान आपका, मन सबका शर्माया है ।।९५।।

कहा अन्त मे नगर सेठ ने, 'पहने अब कुछ नव परिधान' ।
चले बादशाह के समक्ष जो, रखी आपने सघ की शान ।।९६।।

रक्षा की जाती गौरव की, इससे बढकर क्या हो काम ।
'शाह' नाम को उज्ज्वल करने किया आपने शुभतम् काम ।।९७।।

नगर सेठ ने कहा खेमाजी, धारण करिये नव परिवेश ।
बादशाह से पाएँ आदर, देरी ना करिये लवलेश ।।९८।।

खेमा बोला बादशाह के, सम्मुख चाहे चलियेगा ।
वस्त्र हमारे यही ठीक है, नूतन से क्या करियेगा ।।९९।।

खेमा शाह को सग लेकर ही, चम्पानेर चले आए ।
नगरजनो ने सुना तो सब ही, बहुत अधिक ही हर्षाए ।।१००।।

कर अभिनन्दन खेमाशाह का, सबने अति सम्मान किया ।
लघुता से प्रभुता को लखकर, जातिप्रमुख का मान दिया ।।१०१।।

दिवस आखिरी सेठ चाँपसी, खेमाशाह नगरप्रमुखों सग ।
गए बादशाह के सम्मुख, फिर उल्लसित और प्रमुदित मन ।।१०२।।

वही पुराना परिवेश है, अँगरखी, धोती, पगडी ।
बादशाह से मिलने खेमा, गए साथ ले लघु गठडी ।।१०३।।

सेठ चाँपसी मुदित हो बोले, जहाँपनाह ये खेमाशाह ।
एक अकेले पूर्ण वर्ष का, धान्य देने की रखते चाह ।।१०४।।

बादशाह विस्मित हो, अब तक देख रहे खेमा की ओर ।
साधारण परिधान देखकर पूछ रहे है उसका ठौर ।।१०५।।

वादशाह ने कहा—खेमाजी, रहते आप कहाँ पर है ।
जागिरी मे ग्राम कौनसे देंगे, आप क्या यहाँ पर है ।।१०६।।

खेमाशाह ने खोल पोटली, ग्राम हडाला बतलाया ।
परू पाँचली दोनो ग्राम है, जागिरी मे जतलाया ।।१०७।।

कहा जहाँपनाह जो कुछ पैसा, इन गाँवो का पाया है ।
आज आपके चरणो में, धरने का अवसर आया है ।।१०८।।

धन्य समझता आज स्वय को, जो यह मुझको लाभ मिला ।
जाति गौरव रक्षा हेतु, कुछ देने का भाग्य खिला ।।१०९।।

बादशाह ने पट्टा देखा, तो विस्मय से सन्न रहे ।
और साथ मे सहज सरलता, लघुता लख अवसन्न रहे ।।११०।।

किया बहुत सम्मान शाह का, कहा सेठ तुम निश्चित 'शाह' ।
है स्वीकार शाहजी मुझको, आप सभी की पदवी 'शाह' ।।१११।।

खेमाशाह ने उदार भाव से, एक वर्ष तक धान दिया ।
गुर्जर की पूरी जनता को, जीवन दान प्रदान किया ।।११२।।

धन्य देदराणी खेमा से, शाह हुए इस जाति मे ।
लुटा दिया धन धान्य अथाह, केवल जाति की ख्याति मे ।।११३।।

खेमा के इस लघुव्रत से सीखे, कुछ तो आज के शाह ।
सग्रह वृत्ति छोड़ देशहित, अर्पित करदे अपनी चाह ।।११४।।

गुरु नाना की कृपा तले, यह लघु काय है लिखा गया ।
ग्राम भदेसर सन् तैयासी, शेष काल मे कहा गया ।।११५।।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३	२६	हम छहो ··· ·· · · ··· के आगे	सहोदर भाई है। नाग गाथा-पति और सुलसा के हम अगजात है। दो-दो के रूप मे।
१५	३२	मुछ	मुझ
२६	२२	अनो	वनो
४०	२०	लेकिन ये··· के आगे	पर्व
४१	२८	कर्म ·· ··· के आगे	क्षय
४४	११	शरीर काप रहा है ··· · · के आगे	श्री कृष्ण ने सोचा, मेरे राज्य मे वृद्धो की यह दशा है।
४७	२१	लोग कहेगे	लोग शका करेगे—
८६	१३	जैसे उभनते	जैसे उफनते
८६	३१	राक्षक	राक्षस
१३५	आखिर मे	महत्त्वपूर्ण साधन वन जाता है···· के आगे पढे	अरिहत, सिद्ध आदि वीत-राग देव हमारे लिए कुछ अच्छा या बुरा नही करते। हमारे सुख-दु ख या उत्थान-पतन के लिए हम स्वय उत्तरदायी है। इस वात से उनका कोई सीधा सवध नही है, जो कुछ करना होता है साधक को ही करना होता है, परन्तु साधना पथ पर चलने के लिए आलम्बन की आवश्यकता होती है। अरि-हत आदि पचपरमेष्ठी हमारे लिए आलम्वन है, आदर्श है, लक्ष्य है। उन जैसी स्थिति को प्राप्त करना हमारा अपना ध्येय है।
१८५	१७	के लिए··· के आगे	········ध्येय है। वाह्य पदार्थो से और वासनाओ से विमुख होना आवश्यक है। जव तक